जैन आगम

इतिहास एवं संस्कृति

रेखा चतुर्वेदी

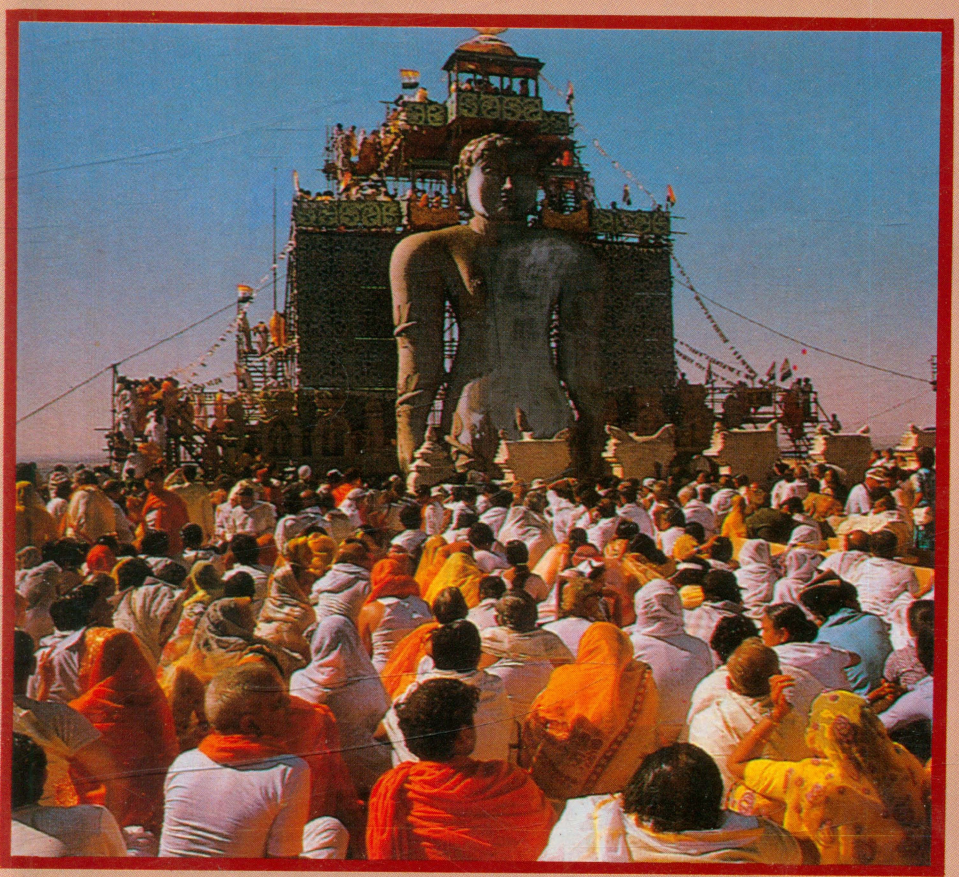

जैन आगम साहित्य में आचारांग सूत्र, सूत्रकृतांग तथा उत्तराध्ययनसूत्र; प्राचीनता की दृष्टि से बौद्ध साहित्य से प्रतिस्पर्धा करते हैं। इनको साहित्यिक साक्ष्य के रूप में प्रयुक्त करके तत्कालीन समाज की मानसिकता, श्रमण संस्कृति का उद्‌भव और विकास, धार्मिक विश्वास, दार्शनिक सम्प्रदायों की मान्यताओं, जैन संघ के स्वरूप और विकास चतुर्विध व्यवस्था, संघ जीवन और संघ भेद के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी संकलित की गई है। जैन नीति शास्त्र व सिद्धान्त-महाव्रत एवं अणुव्रत की चर्चा के साथ ही ब्राह्मण धर्म तथा बौद्ध धर्म से यथाप्रसंग समीक्षा, तथा समसामयिक ब्राह्मण तथा बौद्ध ग्रन्थों से तुलनात्मक चित्रण सफलतापूर्वक किया गया है। समाज दर्शन, सामाजिक व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, सामाजिक संस्थाएं, आगमकालीन राजनीति की स्थिति, प्रमुख घटनाएं, गण व्यवस्था, नृपतन्त्र तथा राजनीतिक अवधारणाओं की व्याख्या से यह पुस्तक, इस विषय के विद्वानों के लिएं अति-उपयोगी सिद्ध होगी।

आई.एस.बी.एन. 81-86565-51-5 **मूल्य: 550 रुपए**

जैन आगम

इतिहास एवं संस्कृति

हृदय और कर्म में सदैव विद्यमान
माता-पिता
श्रीमती शारदा देवी
एवं
पं. भैरों प्रसाद चतुर्वेदी
को

जैन आगम

इतिहास एवं संस्कृति

रेखा चतुर्वेदी

अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड
4697/3, 21-ए, अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली 110 002
फोन : 3281655, 3201531

प्रथम संस्करण : 2000
© रेखा चतुर्वेदी
आई.एस.बी.एन. 81-86565-51-5

अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, 4697/3, 21-ए, अंसारी रोड, नई दिल्ली 110 002 द्वारा प्रकाशित। कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110093 द्वारा टाइपसैट, एवं त्रिवेणी ऑफसैट, दिल्ली-110032 द्वारा मुद्रित

आमुख

चित्तभूमि की खेती संस्कृति है। पिछले हज़ारों वर्षों में भारत के मनीषियों के मन-बुद्धि-चित्त के क्षितिज पर अनेक प्रकार के विलक्षण इन्द्रधनुषों ने अपनी अभूतपूर्व छटा बिखेरी है। मत-मतान्तरों और धर्मों के उद्‌गम का इतिहास, आपसी सभ्यता, विकास और वैविध्य के कारण यह सभी मानव-सभ्यता के लिए अत्यन्त उपादेय, अपार तथा अमूल्य धरोहर हैं। इन तथ्यों के क्रमबद्ध ज्ञान को पुस्तक के रूप में लिपिबद्ध करके डा. श्रीमती रेखा चतुर्वेदी ने छात्रों-अध्यापकों-शोधार्थियों-जिज्ञासु धर्मियों और 'अधर्मियों'—सभी पर बड़ा उपकार किया है। जैन तथा हिन्दू दोनों ही ऋषभ देव को पूज्य मानते हैं। जहां एक ओर हिन्दू उन्हें विष्णु का साक्षात अवतार मानते हैं, वहीं जैन-बन्धु उन्हें सादर आदि तीर्थंकर के पद पर आसीन करते हैं। बौधायन धर्मसूत्र के पंचव्रत तथा ब्राह्मणों के संन्यास सम्बन्धी विचार भी लगभग एक से ही हैं।

धर्मों के उद्‌गम के इतिहास से यह भी पता चलता है कि कब, क्यों, कहां और किस प्रकार भारत के ऋषियों की विलक्षण मेधा के 'बोधि-वृक्ष' से नई दिशाओं में नई कोंपलें फूटी थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि आदि तीर्थंकर के युग में बौद्धिक चेष्टा का चरम विकास रुक-थम-सा गया था। कर्म-सिद्धान्त की बेल पर एकांगी दृष्टिकोण की छाया के कारण मानव-मेधा की कलिकाएं अनेकान्त की अपनी सहज क्षमता को पूरी तरह प्रस्फुटित करने के लिए अकुला रही थीं। तत्कालीन धर्म आधे मार्ग में रुके-खड़े-से मानव की सनातन आकांक्षा 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' के पूरी तरह न फलने-फूलने के कारण बेचैन थे। पूर्ण सत्य कलुषित हो चले थे। नव-सृजन के भोर का इन्तज़ार था। निम्न वर्ग की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। लेखिका ने वर्णन किया है कि जातक कथा से ज्ञात होता है कि चूहे द्वारा काटकर चिथड़े बनाए गए वस्त्र शूद्रों को दिए जाते थे। बुद्ध देव के नेतृत्व में चल रहे एक साधु समाज के पीछे पांच सौ व्यक्ति जूठन खाने के उद्देश्य से जाते थे। यद्यपि परिवर्तन के द्वारा ऐसी दरिद्रता को समाप्त करने का मार्ग दुर्लभ नहीं था, किन्तु समस्याओं के व्यावहारिक समाधान की दिशा में स्वर मुखर नहीं था। ऐसे कठिन समय में, महावीर और बुद्ध ने मानव के सम्यक उत्थान का प्रयास किया। उन्होंने कठोर तप से नए संस्कारों की भूमि तैयार की, ज्ञान के नए बीज बोए और उन्हें पल्लवित-पुष्पित-

फलित किया। यह विश्व की बेमिसाल तथा अद्‌भुत घटना है कि महावीर ने किस प्रकार संयम-शील-तप का जीवन जीकर भारतीय संस्कृति के मूल उद्‌घोष को पीढ़ी-दर-पीढ़ी पवित्र तथा अक्षुण्ण ही नहीं रखा, वरन सत्य अहिंसा और विश्व बन्धुत्व की टिमटिमाती लौ को अलौकिक जिजीविषा प्रदान की।

जैन मनीषियों ने विचार से पहले आचार को महत्व दिया। इस रुझान पर इतना अधिक बल दिया गया कि एक प्रयास ने तो अज्ञानवाद तक को जन्म दे दिया। तीर्थंकरों ने विशुद्ध चरित्र निर्माण के लिए कठोरतम नियम निर्धारित किए। उन्होंने तप को शारीरिक सुन्दरता की गंगोत्री माना। उन्होंने स्वयं खटकर, निचुड़कर, निर्धारित कसौटी पर खरे उतरकर अहिंसा के अत्यन्त कठिन चरम मापदण्ड सिद्ध किए। हिंसा के विविध प्रकारों की मीमांसा की। आचार्यों तथा शिक्षार्थियों के लिए भी उपयुक्त लक्षण तय किए। पुस्तकों में जीवों के आश्रय तथा उनकी सम्भावित हिंसा तथा अन्य कारणों से प्रारम्भ में निर्ग्रन्थ परिपाटी पर अधिक बल दिया।

भविष्य में यह भी शोध का विषय बन सकता है कि आरम्भ में धर्म के निर्ग्रन्थ बने रहने के बावजूद किस प्रकार सदियों तक उसके प्रारूप की विशुद्धता को भाषा-क्षेत्र-काल तथा अन्य धर्मों की बहुलता के परिप्रेक्ष्य में अक्षुण्ण रखा गया। प्रारम्भ में स्मृति पर अधिक बल था। पुस्तक-लेखन को दोष तक माना गया था। प्रेषक और ग्रहीता के बीच तथ्य-कथ्य के मूल बिन्दुओं और उनके निर्धारित सम्प्रेषण के प्रारूप की अक्षतता को पीढ़ी-दर-पीढ़ी किस प्रकार बनाए रखा जाए यह आधुनिक सूचना-विज्ञान के लिए भी अत्यन्त उपयोगी विषय है। ऐसे प्रयोग अनेक बार किए गए हैं जिनमें ग्रहीता के एक बड़े समूह की आंखों के सामने घटी हुई घटना का विवरण सभी से अलग-अलग लिया गया। इन प्रयोगों का अत्यन्त रोचक परिणाम यह मिला कि सभी वर्णित कथ्यों में अकसर अविश्वसनीय भिन्नता मिली। इन तथ्यों के आलोक में उस युग में सम्प्रेषण की विशुद्धता बनाए रखना कितना कठिन रहा होगा इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

श्रुत की परम्परा को एक सतत-जीवन्त प्रवाह माना गया है। उसका उत्स सूत्र है। अल्पाक्षरों से गुंथे सूत्रों का संस्कृत रूप, उच्चारण पर विशेष बल देकर, पिता-पुत्र या गुरु-शिष्य परम्परा के माध्यम से वेदपाठियों ने सदियों तक मनोयोग से कैसे विशुद्ध बनाए रखा यह पूरे विश्व के इतिहास में भारतीय मेधा की विस्मयपूर्ण उपलब्धि रही है। यह बात अलग है कि शब्दों के इस सघन तथा संघीय वेगवान सूत्र-प्रवाह में यदा-कदा कुछ अर्थ-रूप तिरोहित भी हुआ। इसके विपरीत, जैन तीर्थंकरों द्वारा निर्ग्रन्थता के युग में आचार के अर्थरूप में कालान्तर में परिवर्तन आने पर किस प्रकार साधु-सम्मेलन आयोजित किए गए तथा प्रथम वृहत पाटिलपुत्र-वाचना द्वारा स्मृति-संकलन किया यह भी अत्यन्त रोचक विषय है।

इन सभी सघन संघीय प्रयासों के बावजूद, दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दो जैन-धाराओं में और महायान व हीनयान दो बुद्ध-धाराओं में पंथ विभाजन हुए, यह ऐतिहासिक तथ्य

भी मानव की चित्तभूमि के सहज स्वभाव की विविधता का प्रमाण है तथा साधनों और मार्गों की बहुलता की अनिवार्यता तथा अन्तर्निहित अनिश्चितता की ओर स्पष्ट रूप से इंगित करता है। साथ-ही-साथ, यह भी स्पष्ट होता है कि पंथों की पवित्र आचार-विचार-गंगा ने ही शायद लहूलुहान इतिहास के बीच भी आम भारतीय को बर्बर होने से सदियों तक बचाए रखा। आज की हिंसा के तांडव के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा के आचार-विचार का ऐसा अद्‌भुत इतिहास और इतना व्यापक प्रभाव हमें क्या सिखाता है यह भी अधिक स्पष्ट, मुखर और मूल्यवान हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक, जैन और बुद्ध की परम्पराओं में आचार-विचार की कथनी-करनी के बीच का विलुप्त होता अन्तराल ही जन-सम्प्रेषण की भट्टी में आणविक ऊर्जा का-सा काम करता है जिसके प्रभाव से मानव-चित्त पर अद्‌भुत ऐतिहासिक छापे अत्यन्त सघन, प्रबल, प्रखर, मुखर, स्थायी या कालजयी बन जाते हैं। ऐसी जीवन्त सम्प्रेषणीयता के आलोक में, यह भी समझने योग्य है कि निर्ग्रन्थ तथा स्मृति के मौन या मुखर युग में मानव विश्वास सदियों तक इतना सघन-सबल क्यों था तथा आज के लिखावट के युग में सम्प्रेषण की अक्षरीय निश्चितता तथा मशीनी विशद बारम्बारता के बावजूद विश्वास के हनन का संकट सभी देशों में, चारों ओर, दिन-रात, प्रति पल इतना क्यों गहरा रहा है।

भूमित्र देव

प्राक्कथन

जैन और बौद्ध धर्म का सम्बन्ध भारतीय श्रमण संस्कृति से जुड़ा है जिसका प्रारम्भ सामान्यत: वैदिक प्रवृति मार्ग, यज्ञ, बलि आदि कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप आरण्यक और उपनिषदों के उदय से माना जाता है। यज्ञों की आलोचना करते हुए सर्वप्रथम उपनिषद ऋषियों ने ही कहा था कि यज्ञ रूपी नौकाएं अदृढ़ होने के कारण आत्मा के विकास में सक्षम नहीं हैं। यज्ञादि कर्म काण्डों की नवीन आध्यात्मिक व्याख्याएं देकर उन्हें परम्परा की आध्यात्मिक दृष्टि के अनुरूप बनाने का कार्य उपनिषद ऋषियों का था। उपनिषदों के पश्चात् तो कठोर तपश्चर्यः और वैराग्य को ही जीवन का परम लक्ष्य मानने वाले श्रमण सम्प्रदायों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई। ऐसा माना जाता है कि बुद्ध और महावीर के समय भारत में श्रमणों के 63 सम्प्रदाय थे इन मतों के मध्य यद्यपि अनेक विभिन्नताएँ थी, किन्तु एक बात में सब समान थे और वह यह है कि इन सभी सम्प्रदायों के साधु-सन्त घर छोड़कर वैराग्यपूर्ण जीवन बिताते थे तथा सबके सब चाहते थे कि हिंसापूर्ण यज्ञ बन्द हों तथा मनुष्य किसी अधिक गम्भीर धर्म का आचरण करना सीखे।

वस्तुत: श्रमण परम्परा यद्यपि मुखर होकर उपनिषदों से भले ही प्रारम्भ लगे इसकी उत्पत्ति के साक्ष्य ऋग्वेद में भी देखे जा सकते हैं। ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशना मुनियों का निर्ग्रन्थ साधुओं तथा उन मुनियों के नायक केशी मुनि की समता ऋषभदेव से स्थापित की गई है। क्या जैन श्रमण संस्कृति की उत्पत्ति वैदिक-ब्राह्मण परम्परा से मानी जा सकती है? हरमान जैकोबी ने जैन, बौद्ध और ब्राह्मण धर्म में विद्यमान वैराग्य परम्परा के मध्य तुलना करते हुए उनकी समानताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है। यह संदेहास्पद है कि इनके नियम एक-दूसरे से पूर्णत: स्वतन्त्र होंगे। इनमें से एक या दो ने किसी एक से ग्रहण किया होगा अथवा इन सबका मूल स्रोत एक रहा होगा यह अनुमान का विषय है। जैकोबी का यह मानना तो कि जैनियों ने बौद्धों से ग्रहण नहीं किया होगा क्योंकि बौद्ध धर्म का उदय जैन मत के पश्चात हुआ उचित प्रतीत होता है, किन्तु उसकी यह धारणा कि स्रोत वैदिक ब्राह्मण परम्परा से था, युक्तिसंगत नहीं लगता।

यह सत्य है कि वैदिक ग्रन्थों में दिगम्बर जैनियों के समान नग्न साधुओं तथा ऐसे मुनियों का उल्लेख मिलता है जो सामान्य वैदिक ऋषियों से भिन्न थे। किन्तु इससे अधिक हम इनके विषय में नहीं जान पाते। वैदिक समाज मूलत: प्रवृतिमार्गी था। कर्म, संसार और संन्यास का उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में अपवाद स्वरूप ही मिलता है। प्रो. गोविन्द चन्द पाण्डे अत्यंत प्राचीन समय से भारत में एक स्वतंत्र श्रमण परम्परा विद्यमान मानते हैं। ऋग्वेद के कुछ उद्धरणों से भी वैदिक प्रवृतिमार्ग के समानान्तर निवृत्तिमार्गी परम्परा के प्रचलन का आभास मिलता है। उत्तर वैदिक युग में यज्ञों में बढ़ती पशुबलि और कर्मकाण्ड से उत्पन्न बुराइयों के कारण आरण्यक और उपनिषदों की आलोचना से प्रोत्साहित होकर समानान्तर चलती निवृत्तिमार्गी विचारधारा ने जोर पकड़ा। इसी निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा के पथ पर ही आगे जाकर जैन और बौद्ध परम्पराएं गतिशील हुईं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि उपनिषदों ने भले ही श्रमण संस्कृति को मान्यता दी हो उपनिषदों के ऋषि गृहस्थ रहे। कर्म और सन्यास की महत्ता स्वीकार करने के पश्चात भी वैदिक परम्परा ने अपनी प्राचीन सामाजिक बाध्यताओं को नहीं छोड़ा तथा तीन ऋणों का सिद्धान्त वैदिक सामाजिक आचार-विचार का मूल बना रहा जो श्रमण संस्कृति के विरुद्ध था। उपनिषद ग्रन्थ वे अपूर्व स्रोत हैं जिनमें सभी भारतीय दार्शनिक मतों की जड़ें देखी जा सकती हैं। जैन ग्रन्थ आचारांगसूत्र में ऐसे अनेक सूत्र उपलब्ध हैं जो अपने भाव, शब्द योजना और भाषा शैली की दृष्टि से वैदिक परम्परा में माने गए औपनिषदिक सूत्रों के अधिक निकट हैं। आत्मा के स्वरूप के संदर्भ में जो विवरण माण्डूक्योपनिषद में मिलता है, वह आचारांगसूत्र में यथावत् है। उत्तराध्ययन सूत्र, ऋषिभाषित सूत्रकृतांग और आचारांग को समझने के लिए उपनिषद साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। विदेहनेमि, बाहुक असितदेवल द्वैपायन पाराशर आदि उपनिषद् ऋषियों का सूत्रकृतांग में सम्मानपूर्वक उल्लेख मिलता है। अनेक उपनिषद ऋषियों को जैन और बौद्ध मत में अर्हत् के रूप में मान्यता दी गई है।

पारस्परिक सम्पर्क के परिणामस्वरूप न वैदिक संस्कृति विशुद्ध प्रवृतिमार्गी रह पाई और न ही श्रमण संस्कृति पूर्णत: निवृत्तिमार्गी। जैनियों की श्रमण परम्परा धीरे-धीरे केवल मुनियों तक सीमित हो गई। इन मुनियों को जैनियों ने सम्मानित और आदरणीय स्थान अवश्य दिया, किन्तु बहुसंख्यक जैन समाज ने कर्मठ और नियंत्रित गृहस्थ धर्म का ही अनुकरण करना व्यावहारिक मान मेल-जोल से जैन, बौद्ध और ब्राह्मण परम्पराओं ने जिन सिद्धांतों को जन्म दिया उन्हें इस देश में एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। आचारांग सूत्र में श्रमण और ब्राह्मण का उल्लेख परस्पर प्रतिस्पर्धियों के रूप में नहीं, अपितु सहगामियों के रूप में मिलता है। यज्ञों में प्रचलित हिंसा का यद्यपि जैनागमों उत्तराध्ययनसूत्र तथा आचारांगसूत्र में सर्वत्र निषेध किया गया है, किन्तु वे ब्राह्मणों को उसी नैतिक और आध्यात्मिक पथ का अनुगामी मानते हैं जिस पथ का श्रमण अनुकरण करते हैं।

जैनियों तथा बौद्धों ने जन्म के आधार पर ऊंच-नीच का भेदभाव करने वाली जाति प्रथा को त्याज्य मानकर कर्म को महत्व दिया। जैन मुनि हरिकेशबल चाण्डाल कुल में जनमे थे, किन्तु कर्म के कारण वन्दनीय हो गए।

कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होइ खतिओ।
वइस्सो कम्मुणा होई, सुद्धो हवई कम्मुणां।।

वस्तुत: महावीर और बुद्ध के समय दो विपरीत प्रकार की दार्शनिक विचारधाराएँ प्रचलन में थीं। कम्मवाद या किरियवाद तथा अकम्मवाद या अकिरियवाद। अकम्मवादी विचारधारा के अन्तर्गत प्रमुख रूप से अन्तिम सत्ता को ही शाश्वत मानने वाला सस्सतवाद, दैव उत्पत्ति को स्वीकार करने वाला अधिच्चसमुप्पाद केवल भौतिक शरीर को ही सत्य मानने वाला उच्चेदवाद, कारण के सिद्धान्त को नकारने वाला यहच्चवाद नियति को प्रतिष्ठापित करने वाला नियतिवाद, काल को सर्वोपरि मानने वाला कालवाद तथा अन्तर्निहित शक्तियों के माध्यम से विकास के सिद्धान्त को मानने वाला एवं स्वतंत्र इच्छा शक्ति को अस्वीकार करने वाले स्वभाववादी सिद्धान्त का उल्लेख किया जा सकता है। इन सबसे बिलकुल अलग जैनियों और बौद्धों की कम्मवादी विचारधारा थी। भाग्य, काल, संयोग और आत्मा को कारण के रूप में नहीं, बल्कि स्वयं के कर्मों को कारण मानकर कम्मवादियों ने कर्म को सर्वोच्च महत्व दिया।

अनेकान्तवाद का सिद्धान्त जैन दर्शन की एक अपूर्व देन है। यह सिद्धान्त मानता है कि कोई भी विचार किसी एक दृष्टि से सत्य हो सकता है तो दूसरी दृष्टि से असत्य। सम्पूर्ण सत्य जानना असंभव है। देश-काल आदि की सीमाओं से बंधे होने के कारण किसी भी मनुष्य के लिए सम्पूर्ण को समझना सम्भव नहीं है। अन्धे व्यक्तियों के द्वारा हाथी के विभिन्न अंगों के आधार उसकी आकृति का अलग-अलग ढंग से वर्णन करने का दृष्टान्त देकर अनेकान्तवाद का समर्थन जैन दार्शनिकों ने स्याद्वाद प्रणाली से अत्यंत प्रभावी ढंग से किया है। इतिहास और समाजविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में वस्तुनिष्ठता की जटिल समस्या का निदान जितना स्याद्वाद से स्पष्ट हो सकता है वैसा किसी अन्यत्र ढंग से असम्भव है। चूंकि अनेकान्तवाद वस्तु के स्वरूप को अनन्त धर्मात्मक मानता है, अत: उसके प्रतिपादन की शैली भी ऐसी होनी चाहिए जिससे वस्तु के अनन्त स्वरूप का संकेत हो। वस्तुओं के इस अनन्त स्वरूप के संकेत की प्रणाली का ही नाम स्याद्वाद है।

राष्ट्र सन्दर्भ में अनेकान्तवाद के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है उसी प्रकार राष्ट्र में भी विविधता है। उन विविधताओं को समाप्त कर एकता स्थापित करना न ही सम्भव है और न ही यह उचित है। एकता का अर्थ है सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व तथा विविधता में एकता। भगवतीसूत्र में महावीर कहते हैं कि मैं एक भी हूं और अनेक भी। जैनाचार्यों ने मानवीय एकता पर विशेष

बल दिया है। राग, द्वेष, ऊंच, नीच तथा साम्प्रदायिक भेद-भाव एकता में बाधक तत्व हैं। एकता का आधार भावना न होकर विवेक है। विवेक समाज को जोड़ता है।

मानव की महत्ता प्रतिष्ठापित करने के कारण जैन धर्म मानववादी है। मानव को वह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य तथा अनन्तानन्दयुक्त मानता है। प्रत्येक मनुष्य चाहे वह किसी वर्ण, वर्ग, रूप अथवा जाति का हो देवत्व और पूर्णता प्राप्त करने की पूर्ण क्षमता रखता है। मनुष्य जन्म सरलता से नहीं मिलता। अनेक योनियों में भटकने के पश्चात बड़ी कठिनाई से सांसारिक जीव को मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार जब समस्त अशुभ और पाप कर्मों के विनाश के पश्चात आत्मा शुद्ध पवित्र और निर्मल होती है मानव जन्म की प्राप्ति होती है। जैन तीर्थंकर भी मनुष्य थे। मानव जीवन ने ही उन्हें वह अवसर प्रदान किया था कि वे देवत्व को प्राप्त कर सके।

मानववाद आर्थिक विषमता को सामाजिक बुराइयों का मूल कारण मानता है। आर्थिक विषमता के निराकरण के लिए जैन विचारधारा अपरिग्रह के सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार धन चाहे कितना ही हो मनुष्य की तृष्णा शान्त नहीं हो सकती क्योंकि वह असीम है। सीमित साधनों से असीम तृष्णा शान्त नहीं की जा सकती। स्थानांगसूत्र में कुल धर्म, ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म, संघ धर्म आदि का उल्लेख प्रमाणित करता है कि जैन दर्शन का सम्बन्ध इस संसार के कल्याण से अधिक है तथा लोक हित और लोक कल्याण के प्रति सदैव सजग है।

अहिंसा के सिद्धान्त को हिन्दू, बौद्ध और जैनियों सभी ने धर्म और सदाचार का सर्वोच्य मूल्य माना है, तथापि यह सर्वमान्य है कि जैनियों ने इस सिद्धान्त का जितना अक्षरश: पालन करने पर जोर दिया वैसा किसी अन्य भारतीय मत के द्वारा नहीं किया गया। जैन परम्परा में प्रत्येक गतिशील वस्तु यथा जल, वायु, ग्रह अथवा गतिशून्य जैसे पत्थर, वृक्ष आदि में भी जीवनशक्ति को स्वीकार किया गया। इस प्रकार जैन दर्शन पूर्ण जीवनवाद में विश्वास मानने के कारण पूर्ण अहिंसा में विश्वास करता है। जैन अहिंसा सिद्धान्त की कठोरता जैन धर्म की आत्मा और कर्म के सम्बन्ध में अपनाए गए अपनी विशिष्ट धारणा के कारण है। अहिंसा के अपने विशिष्ट सिद्धान्त के कारण जैन भिक्षु अन्य भारतीय मतानुयायियों में भी लोकप्रिय हुए। बहुधा जैन अहिंसा के प्रयोग की कठोरता को गलत ढंग से रखा जाता है। अतिशय अहिंसा का पालन जिसे जैनियों ने अपना आदर्श माना केवल इतस्तत: भ्रमण करने वाले भिक्षुओं द्वारा किया जाता था। शेष के लिए अहिंसा का पालन उसकी स्थिति तथा आध्यात्मिक और धार्मिक प्रगति पर निर्भर करता था। गुजरात और दक्षिण में ऐसे अनेक ऐतिहासिक नायकों का उल्लेख मिलता है जो निष्ठावान और समर्पित जैनी के साथ-साथ कुशल सैनिक भी थे तथा विभिन्न युद्धों में शूरता से लड़े थे। समूह के रूप में जैन समाज शाकाहारी है। जैनियों की शाकाहारिता ने अन्य भारतीय समुदायों को भी प्रभावित किया है।

प्राचीन भारत के अनेक राजवंशों द्वारा जैन धर्म को संरक्षण प्रदान किया गया। शिशुनाग वंश, वैशाली गणतंत्र के शासक, नन्द वंश, अशोक को छोड़कर समस्त मौर्य शासक तथा कलिंगराज खारवेल ने जैन धर्म को राजाश्रय प्रदान किया था। दक्षिण के राष्ट्रकूट, गंग, कदम्ब तथा चालुक्यवंशीय शासक जैन थे। बारहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक गुजरात राजस्थान और मध्य भारत में जैन धर्म का व्यापक प्रचार हुआ। गुजरात में शासकों की अपेक्षा धनी व्यापारियों द्वारा जैन धर्म को अधिक संरक्षण मिला। बौद्धधर्म का विदेशों में अवश्य प्रसार हुआ, किन्तु अपनी धरती पर आज वह लगभग विलुप्त हो चुका है। इसके विपरीत जैन धर्म बाहर तो नहीं फैला, किन्तु अपनी धरती पर पूर्णत: सुरक्षित है।

साहित्य और कला की प्रगति में जैनियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मैसूर में श्रवणबेलगोला में स्थित 57 फीट गोमतेश्वर की नग्न मूर्ति (983-1048 ई.) अपने ढंग की बेजोड़ रचना है तथा आज भी अनेक स्थानों पर इस कृति की नकलें बनाई जाती हैं। माउण्ट आबू (राजस्थान), पालिथान (गुजरात) तथा दक्षिण में मूदिबिदरि और कर्कल के जैन मंदिर भारतीय कला की समृद्ध विरासत को प्रदर्शित करते हैं। मंदिरों का निर्माण, परोपकारार्थ धर्मशालाओं और पशुशालाओं का निर्माण, पाण्डुलिपियों के भण्डार से युक्त समृद्ध पुस्तकालयों की सुरक्षा तथा निर्धनों में भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का वितरण करना जैन समाज की कतिपय महत्वपर्ण विशेषताएं हैं। दूसरे भारतीय धार्मिक समुदायों ने जैनियां से इसका अनुकरण किया।

संस्कृत ब्राह्मण साहित्य का तथा पालि मुख्यत: बौद्धों की माध्यम भाषा रही हैं। जैनियों ने भाषा के क्षेत्र में किसी एक भाषा को धार्मिकता नहीं प्रदान की। विभिन्न स्थानों में प्रचलित लोक भाषा को समयानुसार माध्यम बनाया गया। महावीर ने अर्द्ध मागधी बोली में उपदेश दिए क्योंकि मागधी और शौरसेनी बोलने वाले दोनों समझ सकें। कालान्तर में जैनियों ने संस्कृत का प्रयोग भी साहित्यिक ग्रन्थों के लिए किया। संस्कृत, पालि आदि क्लासिकल भाषाओं तथा आधुनिक क्षेत्रीय भाषाओं के मध्य कड़ी माने जाने वाली अपभ्रंश भाषा जैनियों में विशेष रूप से लोकप्रिय हुई। आधुनिक हिन्दी मराठी और गुजराती के उदय के पूर्व इन क्षेत्रों में प्रचलित भाषा में अनेक जैन ग्रन्थ लिखे गए। तमिल और कन्नड़ साहित्य के विकास में भी जैन धर्म का विशेष योगदान रहा है। जैन साहित्य केवल धार्मिक ही नहीं है। ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं में जैनाचार्यों द्वारा अध्ययन किया गया जिनमें गणित, नक्षत्र विज्ञान, व्याकरण, छन्दशास्त्र, कोश रचना आदि में योगदान उल्लेखनीय है। इतिहास, दर्शन के क्षेत्र में जैन दृष्टि-कोण चक्रात्मक रहा है। ब्राह्मण इतिहास परम्परा की अशुद्धियों को दिखाते हुए उनमें ज्ञात घटनाओं तथा चरितो को जैन नीतियों के रंग में रखने का प्रयास किया है। सभी अपने कर्मों का फल भोगते हैं, अत: किसी अतिमानवीय सत्ता के हस्तक्षेप को उन्होंने नकारा।

प्राचीन भारतीय इतिहास की रचना में मुख्य रूप से ब्राह्मण ग्रन्थों पर ध्यान दिया गया, जिनमें वेद, पुराण, महाकाव्य एवं धर्मशास्त्र प्रमुख हैं। चीनी, यूनानी, लैटिन, तिब्बती, सिंहली आदि विदेशी विवरणों भी इतिहास के अनेक रिक्त स्थानों की पूर्ति में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मौर्यकालीन इतिहास के लिए पालि में लिखे गए बौद्ध ग्रन्थों के उपयोग के पश्चात बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों की सहायता इतिहास रचना के लिए ली जाने लगी। जैन स्रोतों की ओर विद्वानों का ध्यान विलम्ब से गया जिसका प्रमुख कारण जैन ग्रन्थ भण्डारों में प्रवेश की समस्या थी। सौभाग्य से यह सब कुछ सरल हो गया है।

जैन धर्म यद्यपि बौद्ध धर्म की तुलना में प्राचीनतर माना जाता है, किन्तु जैन साहित्य बौद्धों के बाद का है। जैन परम्परा के अनुसार श्वेताम्बरों से सम्बद्ध प्रचलित सिद्धान्तों का सर्वप्रथम लिखित संकलन 400 ई० लगभग किया गया। पुनर्सम्पादन तथा संशोधन का कार्य इसके पश्चात भी चलता रहा। दिगम्बरों के प्रारम्भिक ग्रन्थ का सर्वप्रथम लेखन 150 ई० पू० के आस-पास माना जाता है। वर्तमान युग में जैन स्रोतों से परिचय कराने का श्रेय सर्वप्रथम पश्चिमी विद्वान कॉबेल को जाता है जिसने 1845 ई० में वररुचि की कृति *प्राकृत प्रकाश* प्रकाशित की। तत्पश्चात जर्मन विद्वान पिशेल और हरमन-जैकोबी द्वारा पउमचरिय, समराइच्च कहा, परिशिष्टपर्वन प्रकाशित किया गया। 12वीं शताब्दी के ग्रन्थ परिशिष्टपर्वन में मौर्य काल तक के मगध सम्राटों की चर्चा है। नौवीं शताब्दी तक जैन ग्रन्थों में भारत के सामान्य इतिहास के प्रति रुचि दिखाई पड़ती है और वे मगध, सातवाहन, शाक, गुप्त और कान्यकुब्ज के राजवंशों का वर्णन करते हैं। किन्तु इसके पश्चात जैन इतिहासकार राजस्थान गुजरात तथा मालवा तक ही सीमित होकर इन क्षेत्रों के इतिहास लिखने में रुचि लेने लेगा।

खेद है कि इतिहास दर्शन की अधिकांश पुस्तकों में जैन इतिहास दृष्टि का उल्लेख नहीं मिलता। सी०एच० फिलिप्स की Historians of India, Pakistan and Ceylon; ए० के० वार्डर की An Introduction of Indian Historiography तथा वी०एस० पाठक की Ancient Historians of India पुस्तकों में भी जैन इतिहास पर लेख का अभाव है जबकि जैन ग्रन्थों में ऐतिहासिक स्रोतों का अपार भण्डार है। दूसरी-तीसरी शती से लेकर चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी तक आगम, पुराण, चरित काव्य, प्रबन्ध साहित्य, पट्टावली, स्थविरावली प्रशस्ति, विज्ञप्ति, पत्र आदि के रूप में आज महत्वपूर्ण जैन ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध हैं। जैन पुरातात्विक सामग्री भी पर्याप्त रूप में प्राप्त हो रही है। 21वीं शताब्दी की देहलीज पर विश्व आज जिस वैचारिकशून्यता के दौर से गुजर रहा है वहाँ कम्मवाद अनेकान्तवाद, मानववाद और अहिंसा सम्बन्धी जैन अवधारणाएं मानव समाज का मार्ग प्रशस्त करने हेतु वर्तमान *युग के सर्थवा अनुकूल हैं।*

प्रसन्नता का विषय है कि अपेक्षाकृत उपेक्षित जैन ग्रन्थों के आधार पर इतिहास

तथा संस्कृति का विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विदुषी लेखिका द्वारा किया गया है। मूल-आगम साहित्य में प्रमुखत: आचारांगसूत्र, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययनसूत्र के सन्दर्भ से जैन दार्शनिक और धार्मिक विचारों, जैन संघ के स्वरूप, जैन नीतिशास्त्र सामाजिक आर्थिक व्यवस्था तथा राजनीतिक एवं ऐतिहासिक विषयों पर लेखिका ने महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। हिन्दी में यह पहला ग्रन्थ है जिसमें इतने विस्तार के साथ जैन संस्कृति के विविध आयामों का निरूपण प्रमुख आगम ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। यह पुस्तक सर्वथा स्वागत योग्य है।

प्रो. उदय प्रकाश अरोड़ा

अध्यक्ष प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति विभाग
डीन उन्नत सामाजिक विज्ञान संकाय एवं
पूर्व कुलपति, महात्मा ज्योतिबा फुले रुहेलखण्ड
विश्वविद्यालय, बरेली।

भूमिका

आगम साहित्य विपुल, विशाल और विराट है, फिर भी उसका सर्वांगीण परिचय प्रस्तुति की अपेक्षा करता है। इस अपेक्षा से मूल आगमों का अनुसन्धान क्षेत्र व्यापक और विस्तृत है। आगमों तथा उनके परिवार में धर्म, दर्शन, संस्कृति, तत्वमीमांसा, गणित, ज्योतिष, नीतिशास्त्र, खगोल, भूगोल और इतिहास के तत्व निहित हैं, किन्तु आवश्यकता उन्हें प्रकाश में लाने और उनकी व्याख्या करने की है। यथपि जैनदर्शन, जैन नीतिशास्त्र, जैन संघ-जीवन, जैन साहित्य का इतिहास इत्यादि विषयों पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, किन्तु अपेक्षा किसी ऐसे संकलन की है जिसमें संस्कृति के इन विविध आयामों का मनन और मन्थन समग्र रूप में आधिकारिक एवं प्रामाणिक रूप से हो। डा. जगदीशचन्द जैन ने *लाइफ इन एंशियंट इण्डिया ऐज डिपिक्टेड इन अर्ली जैन कैनन्स*, (बंबई, 1947) तथा *आगम साहित्य में भारतीय समाज,* चौखम्बा विद्या भवन, (वाराणसी, 1965) नामक दो ग्रन्थ लिखकर इस दिशा में प्रयास किया किन्तु उनका कृतित्व प्रमुख रूप से व्याख्या साहित्य पर आधारित है, मूल साहित्य का उद्धरण उन्होंने यदा-कदा ही दिया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इस अपेक्षा पूर्ति की दिशा में मेरा एक अल्प प्रयास मात्र है। अपने इस प्रयास में मैंने आगम साहित्य के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक विवेचन को विषय बनाया है जिसमें प्रमुख सन्दर्भ आचारांगसूत्र, सूत्रकृतांग एवं उत्तराध्ययनसूत्र के हैं।

प्रथम अध्याय में जैन साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। जैन साहित्य वस्तुतः इतस्ततः बिखरा हुआ है। जैन धर्म के संक्रमण कालों से विचरण के कारण इसके साहित्य संरक्षण में अनेक बाधाएं आती रहीं तथा मूल साहित्य के चौदह पूर्वों में से अनेक पूर्व तथा बारहवां अंग दृष्टिवाद तथा कुछ अन्य अंश भी लुप्त हो गए। इसी प्रकार अनेक अंशों के प्रक्षिप्तिकरण के कारण जैन आगम साहित्य की मौलिकता और प्रामाणिकता शोध का विषय बन गई। आगमों की तिथि चर्चा, संख्या और विभाजन में मनीषियों की दृष्टि अनेकान्ती है। आगमों की वाचनाओं के विषय में भी मान्यता भेद है। मेरा प्रयास इन विविध मान्यताओं का समीक्षात्मक अध्ययन का है।

द्वितीय अध्याय में धर्म, सिद्धान्त और व्यवहार की चर्चा की गई है। यह अध्ययन धार्मिक व्यवस्था तथा धर्मदर्शन से सम्बन्धित है। तत्कालीन समाज की मानसिकता, श्रमण

संस्कृति का उद्भव और विकास, प्राचीनता और प्रामाणिकता, धार्मिक विश्वास, विभिन्न धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदाय तथा उनकी मान्यताओं से सम्बन्धित है।

तृतीय अध्याय में जैन संघ का स्वरूप, संघ का प्रारूप और विकास, प्रशासन, चतुर्विध व्यवस्था, संघ के पदाधिकारियों का संस्तरण, संघ का जीवन और संघ भेद की चर्चा है।

अध्याय चार में जैन नीतिशास्त्र का स्वरूप विवेचन किया गया है। जैन श्रमण तथा श्रमणी, श्रावक एवं श्राविका के आचार का इसमें विवरण है। जैन सिद्धान्त, महाव्रत एवं अणुव्रत, शिक्षाव्रत एवं गुणव्रत, सामायिक एवं आवश्यक, काय:क्लेश, उत्सर्ग और परीषहों में समभाव की इसमें चर्चा है, साथ ही, ब्राह्मणधर्म और बौद्धधर्म से यथाप्रसंग तुलनात्मक समीक्षा की गई है।

अध्याय पांच समाज दर्शन एवं सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है। विभिन्न सामाजिक संस्थाएं, उनके विषय में सिद्धान्तिक मान्यताएं तथा उनके व्यावहारिक स्वरूप विवेच्य विषय हैं। आगमकालीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन पद्धति का समसामयिक ब्राह्मण तथा बौद्धग्रन्थों से तुलनात्मक चित्रण का प्रयास किया गया है।

अध्याय छ: में राजनीतिक एवं ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया गया है। आगमकालीन राजनीति की स्थिति, महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाएं, गणव्यवस्था तथा नृपतन्त्र, अन्य शासनतन्त्र, आदर्श राजा एवं चक्रवर्ती की अवधारणा, प्रशासन के अंग आदि का निरूपण किया गया है।

सातवें तथा अन्तिम अध्याय में आगमकालीन अर्थव्यवस्था के चित्रण का प्रयास है। कृषोन्मुखी अर्थव्यवस्था, विभिन्न फसलें, सिंचाई के साधन, व्यवसाय और उद्योग, श्रम व पारिश्रमिक, तौल और माप तथा श्रमिकों की अवस्था का आकलन किया गया है।

यद्यपि प्रभु कृपा के बिना कोई भी कार्य संभव नहीं हो सकता तथापि शोध प्रबन्ध के विषय चयन में सहायता और सत्परामर्श के लिए मैं विषय के विशेषज्ञ डा. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पूर्व कुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय की आभारी हूं।

विषय के मार्गदर्शक डा. गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र का यह मुझ पर असीम अनुग्रह ही था कि उनकी प्रेरणा से प्रताड़ित मेरे पंगु-कल्पना कीर के पंख फैल सके और मेरी मन्द मनीषा गुरु गम्भीर विषय को ग्रहण कर सकी। उनके प्रति मैं विनीत भाव से आजीवन ऋणी हूं।

डा. नथमल टाटिया, शोध निदेशक, जैन विश्वभारती, लाडनूं के प्रति मैं अति आभारी हूं जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से रुचि लेकर विषय को समझने में मेरी सहायता की तथा ग्रन्थागार के उपयोग की अनुमति प्रदान की। कृतज्ञता ज्ञापन के क्रम में डा. श्रीचन्द जी जैन रामपुरिया, भूतपूर्व मानद निदेशक, जैन विश्व-भारती तथा इस संस्था से जुड़े अन्य सहयोगियों जिन्होंने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से मेरी सहायता की, आभार व्यक्त करती हूं।

अप्रतिम प्रज्ञा के धनी प्रोफेसर भूमित्र देव, पूर्व कुलपति, रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली एवं गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर की असीम अनुकम्पा है कि इस ग्रन्थ का आमुख लिखकर इस कृतित्व को गौरवान्वित किया है। यह उन्हीं का अमूल्य परामर्श है जो विशिष्ट शब्दों की पारिभाषित शब्दावली के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनके लिए आभार के सभी शब्द अपर्याप्त हैं।

प्रोफेसर बी.एन.एस.यादव, इलाहाबाद विश्वविद्यालय एवं प्रोफेसर लल्लनजी गोपाल, बनारस विश्वविद्यालय ने शोध प्रबन्ध का मूल्यांकन करते समय इसे गुणवत्तापूर्ण और शोध छात्रों के निमित्त उपयोगी पाया था। मैं इन दोनों विद्वज्जनों को हार्दिक आभार व्यक्त करती हूं।

प्रोफेसर मारुति नन्दन तिवारी, विभागध्यक्ष, 'कला-इतिहास' बनारस विश्वविद्यालय ने अमूल्य सम्मति देकर मेरा उत्साह और पुस्तक का जो सम्मान बढ़ाया है उसके लिए मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं।

प्रोफेसर उदय प्रकाश अरोड़ा, विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति विभाग, रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय,बरेली के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूं जो मुझे सदैव निरंतर लेखन और रचनाधर्मिता के लिए प्रेरित करते रहते हैं। मेरे ही विभाग के प्रोफेसर आर.पी. यादव, डा. अतुल कुमार सिन्हा, डा. अभय कुमार सिंह और डा. विजय बहादुर यादव, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोग किया है, को धन्यवाद देना अपना कर्तव्य मानती हूं।

यहां मेरे परिवारी जनों—पितृव्य श्री दिनेश चन्द्र चतुर्वेदी, अग्रज श्री राजेश नाथ चतुर्वेदी, अनुजद्वय श्री भुवनेश और मुकेश के प्रति, लेखनेतर सहायता के लिए हृदयस्थ आभारी हूं। अपने पति डा. रुद्रदत्त चतुर्वेदी का मैं उपकार मानती हूं जिन्होंने मुझे गृहस्थ जीवन से पर्याप्त अवकाश प्रदान किया और मैं इस कार्य को पूर्ण कर सकी। अपने शिक्षक प्रोफेसर सुरेन्द्र नाथ दुबे, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर का मैं आभार व्यक्त करती हूं जो इस कार्य में सहायक रहे।

रेखा चतुर्वेदी

अनुक्रम

	आमुख	v
	प्राक्कथन	ix
	भूमिका	xvii
	पारिभाषिक शब्दावली	xv
1.	जैन आगम साहित्य : ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन	1
2.	आगमकालीन धार्मिक एवं दार्शनिक विचार	44
3.	जैन संघ का स्वरूप	100
4.	जैन नीतिशास्त्र का स्वरूप	172
5.	समाज दर्शन एवं समाज-व्यवस्था	235
6.	राजनीतिक एवं ऐतिहासिक विवरण	258
7.	आर्थिक दशा एवं अर्थव्यवस्था	285
	आधारभूत ग्रन्थ	315
	अनुक्रमणिका	321

पारिभाषिक शब्दावली

1. अक्रियावादी : आजीवक संप्रदाय के संस्थापक पूरण कश्यप का मत अक्रियावाद कहलाता है। इनके अनुसार आत्मा नामक कोई तत्व नहीं है। इस दृष्टि से बौद्ध भी अक्रियावादी हैं क्योंकि अनात्मवादी हैं। जैनमत अक्रियावाद को आदर नहीं देता।
2. अज्ज : आर्या अथवा आर्यिका, जैन साध्वी के लिए प्रयुक्त।
3. अतिथि संविभाग : जैन गृहस्थ अपनी आधिकारिक वस्तु में से सदैव अतिथि का उचित भाग रखे।
4. अदत्तादान : अस्तेयव्रत।
5. अन्तेवासी : संघ का नियमित, पुष्टिप्राप्त, परिवीक्षित नव श्रमण।
6. अनवस्थाप्य : संघ से अस्थायी निष्कासन तथा तपस्यापूर्वक रहने पर पुनर्दीक्षा।
7. अनर्थदण्ड विरमण : समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होना।
8. अनागार : बौद्ध श्रमण।
9. अनाग्रह : जैन अनेकान्त दर्शन।
10. अनाश्रय : नए कर्म फलित न हों, कर्म प्रभाव उत्पन्न न हो।
11. अनुद्घात्य : गुरु प्रायश्चित या महादण्ड।
12. अनुपेक्षा : चिन्तन।
13. अनिर्हारि : जो श्रमण उपाश्रय से बाहर अरण्य आदि में शरीर त्यागे।
14. अपलाप : अविश्वास।
15. अवम चेलिक : तीन वस्त्र तक रखने वाला श्रमण अवम चेलिक है। वह कटि से घुटने तक का वस्त्र पहनता है।
16. अवग्रह : वसति या रहने का स्थान।
17. अर्हन : आर्हत संस्कृति तथा धर्म का अनुपालक अर्हन कहलाता है। अर्हन का वास्तविक अर्थ अरिहन्त अर्थात इन्द्रियजयी

या शत्रुहंता है। श्रमण अपने वीतरागात्माओं के लिए इस शब्द का प्रयोग करते थे।

18. अज्ञानवाद : अज्ञानवादी प्रत्यक्ष विषय को निश्चित ज्ञान का अगोचर समझते थे। इस दृष्टि से वह अज्ञान को ही कल्याण रूप मानते थे। उनके अनुसार कुछ भी जानने की जरूरत नहीं, ज्ञान प्राप्त करने से हानि ही होती है। जैन मतानुसार मुक्ति के लिए ज्ञान नहीं, तप की आवश्यकता है। तत्व विषयक अज्ञेयता या अज्ञानता अज्ञानवाद की आधारशिला है। यह पाश्चात्य संशयवाद से मिलता-जुलता मत है।

19. आत्मा : वैयक्तिक चेतना।

20. आपृच्छा-प्रतिपृच्छा : प्रत्येक कार्य आरम्भ करने से पूर्व अनुमति लेने को पृच्छा कहा गया है तथा पुनः आज्ञा लेने का विधान प्रतिपृच्छा कहलाता है।

21. आरोवणा : एक दोष का प्रायश्चित चल रहा हो कि अन्य दोष व्याप्त हो जाए और प्रायश्चित की अवधि बढ़ जाए।

22. आलोचना : आचार्य अथवा मुनिसंघ के समक्ष पापों की स्वीकारोक्ति।

23. आवश्यकी : यदि आवश्यक कार्यवश मुनि को उपाश्रय से बाहर जाना पड़े तो वह जाने की आवश्यकता की घोषणा करके जाए तथा अनावश्यक कार्य के लिए प्रवृत्त न हो ऐसा नियम आवश्यकी है।

24. आवीचि : आयु की विच्युति अर्थात शरीर को निष्काम भाव से संयमित रखकर कर्मतरंगों को रोकना और बन्धन मुक्त होना।

25. इंगिनी : दूसरों से सेवा लिए बिना संन्यास मरण।

26. इच्छाकार मिच्छाकार : यदि कनिष्ठ साधु को वरिष्ठ से कार्य कराना हो तो वह कहेगा 'यदि आपकी इच्छा हो तो मेरा यह कार्य कर दीजिए' यह इच्छाकार है। कार्य में त्रुटि हो जाने पर उस कार्य को मिथ्या घोषित करने का नियम मिच्छाकार है।

27. उत्थापना : सावधानीपूर्वक नियम पालन करना।

28. उपधि : उपकरण अथवा आवश्यक वस्तु।

29. उपभोग : वस्तु का केवल एक बार उपयोग करना।
30. उपशमभाव : क्षमा याचना सहित।
31. उपसम्पदा : पुष्टिकरण संस्कार।

32. एषणा या उद्‌गम दोष : श्रमण के भोजन से सम्बन्धित सोलह दोष जिनमें से एक के भी उपस्थित हो जाने पर श्रमण वह भोजन स्वीकार नहीं कर सकता।

33. ओघ : विचारात्मक पक्ष।

34. क्लेशलक्षण : काया का पीड़न, व्रत उपवास अनशन से शरीर को कष्ट पहुंचाना।
35. कदलीघात : अकाल मृत्यु
36. कषाय : इन्द्रियजन्य कामनाएं।
37. कायोत्सर्ग : काया को कष्ट देते हुए तपस्या की मुद्रा जिसमें यति ध्यानलीन और नग्न होते हैं। यह मुद्रा तीन प्रकार की होती है-
(i) ऊर्ध्वस्थान अर्थात खड़ी हुई;
(ii) निर्षदनस्थान अर्थात बैठी हुई;
(iii) शयन स्थान अर्थात लेटी हुई। कायोत्सर्ग शरीर को कष्ट देते हुए त्यागने की विधि को भी कहते हैं।
38. क्रियावादी : जैन धर्म क्रियावादी है। क्रियावाद के अनुसार अभिप्रेरक से कर्मबन्ध होता है। चाहे कर्म किया जाए अथवा नहीं। मानसिक विचार मात्र से या क्रियामात्र से फल उत्पन्न होता है। सभी तत्व चैतसिक हैं अत: क्रियावान हैं। बिना ज्ञान के भी केवल क्रिया से व्यक्ति निर्वाण पा सकता है।
39. केशी : भगवान ऋषभ का पौराणिक नाम जो केश वल्लरी से शोभा पाने के कारण दिया गया। उन्हें केसरिया नाथ, केसरीसिंह के समान शौर्य वाले तथा केशों से युक्त दोनों अर्थ में प्रयुक्त व रूढ़ हैं।
40. क्षुल्लक : वस्त्रधारी

41. गणधर : स्थानीय जैन धर्म संघ का सर्वोच्च कर्ता-धर्ता अधिकारी। यह संज्ञा तीर्थंकर के लिए तथा सामान्य आचार्य के लिए भी प्रयुक्त हुई है।

42. गानय : ज्ञानी अथवा पंडित मान्य।

43. ग्रहणैषणा : श्रमण साधु की स्वीकार की हुई भिक्षा भी दोषपूर्ण हो जाएगी यदि भिक्षा के दस दोषों में से कोई भी उपस्थित हो जाए जैसे—भिक्षा देते समय अन्य भोजन फैल जाए, देते समय दाता भयभीत हो, यदि दाता का व्यवसाय अनैतिक हो, आदि-आदि। जैन भिक्षु ऐसी भिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता जो विशेष रूप से श्रमण के लिए बनाई गई हो। श्रमण घोषणा करते थे कि वह दूसरों के लिए बनाए गए भोजन में से भिक्षा मांगने आए हैं।

44. गुप्ति : निवर्तन, पाप निरोध के लिए अकरणीय।

45. गवेषणा या उपादान दोष : सोलह भोजन सम्बन्धी ऐसे दोष जिन्हें माध्यम बनाकर श्रमण गृहस्थ से भोजन पा तो सकता था, पर इससे श्रमणत्व को दोष लगता है। जैसे गृहस्थों के बच्चे खिलाना, उन्हें अन्यों के समाचार देना, अथवा उनकी दानवृत्ति की प्रशंसा करना आदि।

46. छंदना-अभ्युत्थान : भिक्षा प्राप्त हो जाने पर तथा भिक्षा लाते समय अन्य साधुओं को उस में भाग लेने के लिए आमंत्रित करना।

47. जिनकल्पी : यह श्रमण नग्न रहते हैं तथा भिक्षापात्र भी नहीं रखते। हाथों पर ही भोजन ग्रहण करते हैं।

48. तदुभय : सूत्र तथा अर्थ दोनों के लिए सहप्रयुक्त संज्ञा।

49. तीर्थंकर : पारगामी, जो संसार सागर को पार कर किनारे लग गया। यह संज्ञा श्रमण धर्म-प्रवर्तकों के लिए प्रयुक्त हुई है।

50. दति : एक बार हथेली पर दिया हुआ भोजन।
51. दिग्व्रत अथवा दिशा-परिमाण व्रत : गमनागमन की मर्यादा निश्चित करना।
52. दुट्ठपारांचित : यदि श्रमण गणधर, आचार्य या शास्त्र की निन्दा करे तो ऐसे दुष्ट श्रमण के लिए दण्ड व प्रायश्चित का विधान।
53. दुषमा : दुर्भिक्षकाल अथवा दुष्काल।
54. दैशावकाशिक : जीवन पर्यन्त एक निश्चित क्षेत्र में रहने व उसका अतिक्रमण न करने का व्रत।
55. दोगुन्ददेव : भोग परायण देव, इनकी तुलना यक्षों और गन्धर्वों से की जा सकती है।
56. धर्मतीर्थ : उदात्त आचार-विचार जिनके अनुकरण, अनुसरण से मनुष्य समस्या ग्रस्त संसार को पाकर किनारे आ लगता है। तीर्थ का अर्थ है नदी का घाट। दर्शन में नदी की तुलना चलायमान कर्मप्रभाव या जन्मजन्मान्तर यात्रा से है।
57. निग्गंथी : निर्ग्रंथिणी, जैन साधु।
58. निन्हव : संघ भेद।
59. नियतिवाद : मनुष्य पूर्वनिर्धारित लक्ष्य के अनुसार निश्चित भविष्य की ओर गतिशील होता है। प्रचलित भाषा में इसे भाग्य कहते हैं। जहां मनुष्य का पुरुषार्थ निष्फल है तथा मनुष्य कर्मफल का उत्तरदायी नहीं है।
60. निर्ग्रन्थ : ग्रन्थिहीन जो लल्जा आदि भावों से ऊपर उठे तथा जो पूर्ण अपरिग्रही हो, अपने पास वस्त्र, पात्र तथा अन्य उपकरण न रखने वाला साधु, दिगम्बर।
61. निर्जरा : पूर्व कर्मबन्ध समाप्त होना।
62. निर्वाण : बुझ जाना। मन की वृत्तियों और कर्म प्रभावों की पूर्ण समाप्ति अथवा मुक्ति।
63. निवृत्ति : संकल्पपूर्वक त्याग, मुक्ति के लिए संन्यास मार्ग का अनुसरण।
64. निःसृत : निकलना या प्रस्फुटित होना।
65. निर्हारि : उपाश्रय से मृत श्रवण का शरीर बाहर निकालना।

66. नैष्कर्म्य : जो कर्माधारित न हो।
67. नैष्ठिक : आचार में उच्च अध्यात्म प्राप्त गृहस्थ सदाचारी।
68. नैषेधिकी : साधु उपाश्रय से बाहर जाकर लौटे और यदि उस अन्तराल में कुछ अकरणीय हो गया हो तो उससे निवृत्त होने की घोषणा करे। उपाश्रय वापसी की घोषणा नैषेधिकी है।
69. पद्मासन अथवा पर्यंकासन : बैठी हुई योग मुद्रा जिसमें योगी ध्यानलीन है तथा दृष्टि नासाग्र पर केन्द्रित है।
70. पदविभाग : आचारात्मक पक्ष
71. परमात्मा : सार्वभौम समष्टि चेतना।
72. पर्युषण : वर्षाकाल के चार मासों में गमनागमन निषेध कर एक स्थान पर वास करना तथा समय को स्वाध्याय, धर्म प्रवचन तथा ग्रन्थ लेखन में लगाना।
73. पर्याय स्थविर : वरिष्ठ श्रमण।
74. परिकुंचना : दोष छुपाना।
75. परिभोगैषणा : अधिक भिक्षा एकत्र करने की दृष्टि से लगने वाले चार दोष जैसे—बताई गई मात्रा से अधिक भिक्षा स्वीकार कर लेना और उसके रुचिकर भाग को छांटकर अलग कर लेना।
76. परिमाण व्रत : जीवन पर्यन्त के लिए त्याग देना।
77. परिवर्तना : पुनरावर्तन।
78. परीषह : कष्ट सहने को परीषह कहते हैं।
79. परिहार : प्रायश्चित की विधि जिसमें व्रत, उपवास, अनशन तथा कठिन योगासन (कायोत्सर्ग) शामिल रहते थे।
80. प्ररूपणा : व्याख्या।
81. प्रतिक्रमण : पाप परिहार के निमित्त गुरु के समक्ष पाप स्वीकृति तथा दण्ड ग्रहण के पश्चात् पुनर्दीक्षा।
82. प्रतिलेखना : निरीक्षण।
83. प्रतिषेवणा : अकृत्य।
84. प्रत्याख्यान : युक्तिपूर्वक पर-सिद्धान्त का खण्डन तथा स्व-सिद्धान्त का मण्डन। जैनदर्शन में प्रत्याख्यान का अर्थ है भविष्य में पापमय प्रवृत्तियों से बचने का पूर्ण दृढ़ निश्चय।
85. प्रतिमा : आध्यात्मिक प्रतिमान।

86. प्रवचन : त्रिरत्न, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र।
87. प्रवर्तिनी : भिक्षुणी संघ की प्रमुख।
88. प्रवृत्ति : लौकिक जीवन को काम्य मानने की भावना।
89. प्रव्रज्या : संघ प्रवेश अथवा श्रमण जीवन को संकल्पूर्वक अंगीकार करना तथा गृहस्थ जीवन से संन्यास लेना।
90. प्रस्रवण : प्राकृतिक विसर्जन।
91. पाद प्रमार्जन : पांव धोना।
92. पादोपगमन : अपने पांवों से चलते हुए, संघ से निकलकर सम्यक् स्थान पर शरीर त्यागना।
93. पारांचित अथवा पारांसिय : संघ विरोधी गतिविधि करने पर प्रायश्चित जिसमें संघ निष्कासन या भर्त्सना के पश्चात् अवहेलनापूर्वक पुनर्दीक्षा।
94. पासण्ड : धर्म सम्प्रदाय।
95. प्राणातिपात : अहिंसा।
96. प्रायोग्य-प्रायोपगमन : न श्रमण स्वयं की ओषधि आदि से परिचर्या करे, न दूसरों से कराए, कष्ट सहन करते हुए समाधि मरण ले।
97. पृच्छना : प्रश्न पूछना।
98. पुद्गल : भौतिक द्रव्य या पृथ्वी तत्व, जल तत्व, अग्नि तत्व तथा वायु तत्व जो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं।
99. पुस्तकारूढ़ : पुस्तक में निबद्ध हो जाना।
100. पुलाक : निस्सार धान्यकणों की भांति जिसका चरित्र भी स्वत्वहीन हो गया हो।
101. पंचमुष्टिलोय : जैन परम्परानुसार प्रव्रज्या के समय प्रवेशार्थी को संघ के समक्ष स्वयं अपने हाथ से केश उखाड़ कर संयम प्रमाणित करना पड़ता था।

102. बकुश : शरीर विभूषा से श्रमणाचार को दोष लगाने वाला निर्ग्रन्थ।
103. बहुश्रुत : प्रचलित सिद्धान्त।

104. भक्तपरिज्ञा : भोजन त्याग कर प्रतिज्ञापूर्वक संन्यासमरण।

105. महामह : महोत्सव।

106. महाशिलाकण्टक : मगधराज अजातशत्रु ने नौ मल्लकि, नौ लिच्छवि, काशी, कोशल तथा उनके अठारह गणराजाओं की संयुक्त सेना को इस नए युद्ध उपकरण से हराया जिसमें रथों से विशाल नुकीले शिलाखण्ड शत्रु सेना पर फेंके गए। इस विधि से चौरासी लाख की शत्रु सेना का संहार किया।

107. मार : तपस्या में विघ्न डालने वाली दुष्टात्मा।

108. मुण्ड : केशलुंचित मुण्डित श्रमण।

109. मृषावाद : असत्य।

110. *यतनापूर्वक* : *सावधानीपूर्वक, यत्न से।*

111. यति : जैन परम्परा में यति साधु अथवा तपस्वी के लिए प्रयुक्त हुआ है। भगवद्गीता के अनुसार यह योग प्रवृत्त, काम-क्रोध रहित, संयमचित वीतरागात्मा है।

112. रथमूसल संग्राम : मगधराज अजातशत्रु का मल्लकि और लिच्छवियों की संयुक्त सेना से युद्ध हुआ था। वैशालीराज चेटक संयुक्त सेना का नायक था। अजातशत्रु जिसे जैनग्रन्थ कुणिक कहते हैं, चतुरंगिणी सेना के साथ आया और ऐसा युद्धास्त्र बनवाकर लाया जिसके रथ में तीव्र वेग से मूसल घूमते थे। पदाति सेना पर इस रथ को दौड़ा कर उसने छियानबे लाख व्यक्तियों के रक्त से युद्धभूमि को सींचकर लाल कर दिया।

113. *लेश्या* : *लिम्पति इति लेश्या अर्थात लीपने वाली, रंगने वाली वृत्ति लेश्या है।* मनुष्य चेतना की तरंग या चित्तवृत्ति का नाम जैनधर्म में लेश्या है। चित्त के विचार, वासनाएं, कामनाएं, लोभ, अपेक्षाएं ये सभी लेश्या हैं। भगवान महावीर ने इनका वर्गीकरण रंग के आधार पर किया है।

114. वसति : रहने का स्थान, उपाश्रय।

115. वशार्तमरण : इन्द्रियों के वशीभूत होकर मृत्यु।
116. वहिद्धादाण : अपरिग्रह।
117. वाचना : व्याख्यान।
118. वातरशन : दिगम्बर श्रमण, ऋषि।
119. व्रात्य : व्रात्य का अर्थ ब्राह्मणेतर संन्यासी से है। प्रचलित अर्थ में व्रात्य वह व्यक्ति है जिसने उपनयन संस्कार न कराया हो, जो यज्ञोपवीत न पहनता हो, पतित सावित्री और यज्ञ बहिष्कृत हो; जिसे वेदाध्ययन का अधिकार न हो। इन्हें पूर्वजों के मृतक संस्कार करने तथा श्राद्ध आदि करने की मनाही थी। इनसे भोजन और विवाह के सम्बन्ध भी निषिद्ध थे।
120. वितण्डावादी : अनावश्यक विवाद करने वाले।
121. विभ्रमति : घूम कर आने वाला, इससे उस पर तथा उससे उस पर। इसी से विभ्रमित बना है।
122. विनय : अनुशासन।
123. विराधना : नियम भंग करना।
124. विरुद्धराज्य अथवा वैराग्य : श्रमण को आदेश था कि गमनागमन के लिए ऐसे राज्य में न जाए जो राजविहीन हो, जहां का राजा अभिषिक्त न हुआ हो, एकाधिक राजा हों, राजत्व के लिए संघर्ष हो रहा हो, दो राजा हों, अराजकता हो अथवा निर्बल तन्त्र हो, क्योंकि ऐसे राज्य की प्रजा साधु को दारुण कष्ट पहुंचा सकती है।

125. श्रमण : वीतरागात्मा। नामान्तर से परिव्राजक, भिक्षु, यति, तपस्वी अथवा संन्यासी। यह संज्ञा जैन तीर्थंकर परम्परा के संन्यासी के लिए प्रयुक्त है।
126. श्रावक : जैन गृहस्थ।
127. श्रुत केवली : जैन आगमज्ञ, तीर्थंकर, गणधर आदि।
128. स्थविर : वृद्ध, ज्येष्ठ, पुरातन पद्धति में नवीन प्रक्षेपण का विरोधी होने से श्रमण थेर, वृद्ध या स्थविर कहलाता था।
129 स्थविरकल्पी : संघ के नियमानुसार संघ में रहने वाला श्रमण जो संघानुसार वस्त्र व उपकरण रखते हैं।
130. स्नातक : जैन परम्परा के श्रमणाचार में आकण्ठ डूबकर उबरने वाला

व्यक्ति स्नातक है।

131. सचेल : सवस्त्र।

132. समिति : सम्यक् प्रवर्तन की विधि।

133. सस्सतनाद : शाश्वतवाद। आत्मा को शाश्वत माने वाले दर्शन जैसे वेदान्त।

134. सामाचारी : जैन संघ के विधि नियमों के अनुसार विशिष्ट जीवनचर्या।

135. साहुणी : साध्वी।

136. सेह : सार्धविहारी, प्रशिक्षु, संघ में नव प्रविष्ट श्रमण जो परिवीक्षा पर हो।

137. संलेखना : जीवन के अन्त समय में किया जाने वाला तपाचार। जैन परम्परा में यह एक प्रकार का समाधिमरण है अर्थात व्रत, उपवास, अनशन करते हुए निर्जल रहते हुए काया त्यागना। इसे पंडितमरण भी कहते हैं।

138. संयोजन : जातीय अतिचार।

139. हरिणेगमेषी : जैन देवसेना की पदाति सेना का सेनापति देव जिसने ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ से महावीर का भ्रूण क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरित किया। ऐसा कल्पसूत्र का विवरण है, श्वेताम्बरीय मान्यता है।

अध्याय 1

जैन आगम साहित्य : ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन

जैन साहित्य के उद्गम की कथा का आरम्भ भगवान महावीर से होता है क्योंकि पार्श्वनाथ के समय में जैन साहित्य का कोई संकेत तक उपलब्ध नहीं है। जैन परम्परा के अनुसार, भगवान महावीर ने जिस दिन धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करना आरम्भ किया, उसी दिन पार्श्वनाथ का तीर्थकाल समाप्त हो गया और भगवान महावीर का तीर्थकाल आरम्भ हो गया। आज भी उन्हीं का तीर्थ प्रवर्तित है। अत: उपलब्ध समस्त जैन साहित्य के उद्गम का मूल भगवान महावीर की वह दिव्यवाणी है जो बारह वर्षों की कठोर साधना के पश्चात् केवल ज्ञान की प्राप्ति होने पर लगभग तैंतालीस वर्ष की अवस्था में ईस्वी सन् से पांच सौ सत्तावन वर्ष श्रावण कृष्ण प्रतिपदा[1] के दिन ब्राह्ममुहूर्त में राजगृह के बाहर स्थित विपुलांचल पर्वत पर प्रथम बार नि:सृत हुई थी और तीस वर्ष तक नि:सृत होती रही थी।

उनकी उस वाणी को हृदयंगम करके उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधर ने बारह अंगों में निबद्ध किया था। उस द्वादशांग में प्रतिपादित अर्थ को गौतम गणधर ने भगवान महावीर के मुख से श्रवण किया था, इससे उसे श्रुत नाम दिया गया और भगवान महावीर उसके अर्थकर्ता कहलाये। गौतम गणधर ने उसे ग्रन्थ का रूप दिया, इसलिए वह ग्रन्थकर्ता कहलाये। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् वही द्वादशांगरूप श्रुत गुरु-शिष्य परम्परा के रूप में मौखिक ही प्रवाहित होता रहा और श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय तक अविच्छिन्न रहा।[2]

जैनों के पवित्र आगम संस्कृत साहित्य से पुराने हैं। प्राचीनता की दृष्टि से जैन ग्रन्थ बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थों से प्रतिस्पर्धा करते हैं।[3]

बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों की विषय सामग्री में साम्य होने के कारण बहुत से यूरोपीय विद्वानों को यह भ्रान्ति थी कि दोनों स्वतन्त्र धर्म नहीं हैं, एक-दूसरे की शाखा हैं किन्तु जैकोबी ने इस मत का सबल प्रत्याख्यान किया।[4]

जो स्थान ब्राह्मण परम्परा में वेद और बौद्ध परम्परा में त्रिपिटक का है वही

स्थान जैन परम्परा में आगम-सिद्धान्त[5] का है। आगमों को श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना अथवा प्रवचन भी कहा गया है।[6] भगवान महावीर के उपदेशों को सुनकर उनके गणधरों ने जो ग्रन्थ रचे हैं उन्हें *श्रुत कहते हैं।*[7] श्रुत का अर्थ है, सुना हुआ अर्थात् जो गुरु-मुख से सुना गया हो वह श्रुत है। भगवान महावीर के उपदेशों को उनके मुख से उनके *गणधरों* ने श्रवण किया और उनके गणधरों से उनके शिष्यों ने और उन शिष्यों से उनके प्रशिष्यों ने श्रवण किया। इस तरह श्रवण द्वारा प्रवर्तित होने के कारण ही उसे श्रुत कहा जाता है। श्रुत की यह परम्परा बहुत समय तक इसी तरह प्रवर्तित होती रही। सम्पूर्णश्रुत के अन्तिम उत्तराधिकारी भद्रबाहु थे। उनके समय में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा और संघभेद का सूत्रपात हो गया।[8]

आगम संकलना

श्वेताम्बरीय मान्यता के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के समय बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा। उसका अवसान हो जाने पर पाटलिपुत्र में एक साधु सम्मेलन हुआ और उसमें जिन-जिन श्रुतधरों को जो कुछ स्मृत था उसका संकलन किया गया। इसे पाटलिपुत्र वाचना कहते हैं।[9]

मगध में मौर्य साम्राज्य के पतन और शुंगवंशी पुष्यमित्र के उदय के पश्चात् जैन धर्म का वहां से स्थानान्तरण हो गया।[10] मगध से हटने के *पश्चात् जैन धर्म का* केन्द्र मथुरा बना। कुषाणवंशी राजाओं के समय वहां जैन धर्म का प्रभावशाली स्थान था। वीर निर्वाण[11] सम्वत् 827 और 840 के मध्य मथुरा से भी जैन संस्कृति का प्राधान्य उठ गया।[12] इसी कारण तीसरी वाचना सुदूर वलभी में आयोजित हुई। देवर्द्धि की अध्यक्षता में वलभी परिषद सिद्धान्तों के लेखन के लिए हुई थी।[13]

यह वाचना पाटलिपुत्र की वाचना से आठ सौ वर्ष पश्चात् हुई थी। उस समय भी बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था जिससे बहुत सा श्रुत नष्ट तथा विच्छिन्न हो गया था। इस वाचना की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि पहले की वाचनाओं की तरह उसमें केवल वाचना ही नहीं हुई, अपितु इस वाचना द्वारा संकलित और व्यवस्थित सिद्धान्तों को पुस्तक रूप प्रदान कर के उन्हें स्थायित्व भी प्रदान किया गया और इस तरह एक हजार वर्ष से जो सिद्धान्त स्मृति के रूप में प्रवाहित होते आए थे, उन्हें मूर्त रूप मिल गया।

सम्भवत: इसी कारण से वलभी का नाम दिगम्बर सम्प्रदाय में भी स्मृत रहा क्योंकि हरिणेष के कथाकोष में वलभी में ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति बताई गयी है। सिद्धान्तों के पुस्तकारूढ़ हो जाने के पश्चात् फिर कोई वाचना नहीं हुई क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं रही।[14] वर्तमान श्वेताम्बर जैन आगम इसी

वाचना की उपज हैं।

सुन्दरगणि ने अपने समाचारीशतक[15] में देवर्द्धि के उक्त सत्प्रयत्न का वर्णन इस प्रकार किया है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण बहुत से साधुओं के मरण तथा अनेक बहुश्रुतों का विच्छेद हो जाने पर श्रुतिभक्ति से प्रेरित होकर भावी जनता के उपकार के लिए वीर निर्वाण सम्वत् 980 में श्री संघ के आग्रह से बचे हुए सब साधुओं को वलभी नगरी में बुलाया। उनके मुख से विच्छिन्न होने से अवशिष्ट रहे न्यूनाधिक त्रुटित, अत्रुटित आगम पाठों को अपनी बुद्धि से क्रमानुसार संकलित करके पुस्तकारूढ़ किया। यद्यपि मूल में सूत्र गणधरों के द्वारा गूंथे गए, तथापि देवर्द्धि के द्वारा पुनः संकलित किये जाने से ही देवर्द्धि आगमों के कर्ता हुए।

द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के पश्चात् देवर्द्धिगणि के नेतृत्व में श्रमण संघ मिला। बहुत सारे बहुश्रुत मुनि काल कवलित हो चुके थे। साधुओं की संख्या भी कम हो गई। श्रुत की अवस्था चिन्तनीय थी। दुर्भिक्षजनित कठिनाइयों से प्रासुक भिक्षाजीवी साधुओं की स्थिति बड़ी विचारणीय थी। श्रुत की विस्मृति हो गयी थी। देवर्द्धिगणि ने अवशिष्ट संघ को वलभी में एकत्रित किया। जिन्हें सभी श्रुत कण्ठस्थ थे वह उनसे सुना। आगमों के आलापक छिन्न-भिन्न न्यूनाधिक मिले। उन्होंने अपनी मति से उसका संकलन किया, सम्पादन किया और पुस्तकारूढ़ किया। आगमों का वर्तमान संस्करण देवर्द्धिगणि का है। अंगों के कर्ता गणधर हैं। अंगबाह्यश्रुत के कर्ता स्थविर हैं। उन सबका संकलन और सम्पादन करने वाले देवर्द्धिगणि हैं इसलिए वे आगमों के वर्तमान रूप के कर्ता भी हुए।[16]

सुन्दरगणि का उक्त कथन वर्तमान जैन आगमों के विषय में वास्तविक स्थिति हमारे सामने रखता है। एक हजार वर्ष तक जो सिद्धान्त स्मृति के आधार पर प्रवाहित होते आये हों उनकी संकलना और सुव्यवस्था में इस प्रकार की कठिनाइयों का होना स्वभाविक है।

आज भी जीर्ण-शीर्ण प्राचीन किसी ग्रन्थ का उद्धार करने वालों के सामने इसी प्रकार की कठिनाइयां आती हैं। प्राचीन शिलालेखों का सम्पादन करने वाले अस्पष्ट और मिट गये शब्दों की संकलना पूर्वापर सन्दर्भ के अनुसार करते हैं। अतः देवर्द्धि ने भी त्रुटित पाठों को अपनी बुद्धि के अनुसार संकलित करके पदारूढ़ किया होगा। यदि उन्हें समस्त आगमों का कर्ता न भी कहा जाये तो भी जो आगम उपलब्ध हैं, उनको यह रूप देने का श्रेय तो उन्हें ही प्राप्त है। किन्तु, मुनि श्री कल्याणविजय[17] देवर्द्धिगणि को यह श्रेय देने को प्रस्तुत नहीं हैं। वह उन्हें केवल लेखक के रूप में देखते हैं।

मलयगिरि[18] और विनय विजय[19] के अनुसार मगध में हुए दूसरे दुर्भिक्ष के पश्चात् एक साथ दो सम्मेलन हुए—एक मथुरा में और एक वलभी में। लोकप्रकाश

में यह भी लिखा है कि वलभी सम्मेलन के प्रमुख देवर्द्धि थे और मथुरा सम्मेलन के प्रमुख स्कन्दिलाचार्य थे। श्वेताम्बर स्थविरावली के अनुसार स्कन्दिलाचार्य देवर्द्धि से बहुत पहले हुए थे। अत: दोनों की समकालीनता संभव नहीं है।

भद्रेश्वर की कथावली में भिन्न ही उल्लेख है। उसमें लिखा है कि मथुरा में श्रुतसमृद्ध स्कन्दिल नामक आचार्य थे और वलभी नगरी में नागार्जुन नामक आचार्य थे। दुष्काल पड़ने पर उन्होंने अपने साधुओं को भिन्न-भिन्न दिशाओं में भेज दिया। सुकाल होने पर वे पुन: मिले। जब वह अभ्यस्त शास्त्रों की पुनरावृत्ति करने लगे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि वे पढ़े हुए शास्त्रों को प्राय: भूल चुके हैं। श्रुत का विच्छेद न हो, इसलिए आचार्यों ने सिद्धान्त का उद्धार करने का प्रयास आरम्भ किया। जो विस्मृत नहीं हुआ था, उसे वैसे ही स्थापित किया और जो भूला जा चुका था उसे पूर्वापर सम्बन्ध देकर व्यवस्थित किया गया।[20] आर्यस्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा परिषद् सिद्धान्तों के संशोधन के लिए हुई थी।[21]

कथावली में कहा गया है कि सिद्धान्तों का उद्धार करने के बाद स्कन्दिल और नागार्जुनसूरि परस्पर मिल नहीं सके। इस कारण से उनके उद्धार किये हुए सिद्धान्त तुल्य होने पर भी उनमें कहीं-कहीं वाचना भेद रह गया है।[22] यही कारण है कि मूल और टीका में हम 'वायणतरे पुण' या 'नागर्जुनीया स्तुवन्ति' जैसे उल्लेख पाते हैं।

मुनि कल्याणविजय वलभी वाचना को देवर्द्धिगणी की नहीं, किन्तु नागार्जुन की वाचना मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि जिस काल में मथुरा में आर्यस्कन्दिल ने आगमोद्धार करके उसकी वाचना शुरू की उसी काल में वलभी नगरी में नागार्जुनसूरि ने भी श्रमणसंघ इकट्ठा किया और दुर्भिक्षवश नष्टावशेष आगम सिद्धान्तों का उद्धार किया। उस सिद्धान्तोद्धार और वाचना में आचार्य नागार्जुन प्रमुख स्थविर थे, इस कारण इसे नागार्जुनी वाचना भी कहते हैं।[23]

ऐसी स्थिति में यदि वलभी वाचना नागार्जुन की थी तो देवर्द्धिगणि ने वलभी में क्या किया यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। इसके प्रत्युत्तर में मुनि कल्याणविजय का कथन है कि स्कन्दिलाचार्य के समय में वलभी संघ के प्रमुख आचार्य नागार्जुन थे और उनकी दी हुई वाचना वालभी वाचना कहलाती है। देवर्द्धिगणि की प्रमुखता में भी जैनसंघ इकट्ठा हुआ था, यह बात सही है। उस समय वाचना नहीं हुई, पर दोनों वाचनागत सिद्धान्तों का समन्वय करने के उपरान्त वह सिद्धान्त लिखे गये थे। इसलिए हम इस कार्य को देवर्द्धिगणि की वाचना न कह कर पुस्तक लेखन कहते हैं। देवर्द्धि के कार्य की गुरुता से मुनि कल्याणविजयजी ने दोनों वाचनानुयायियों में संघर्ष की भी सम्भावना व्यक्त की है। उनके अनुसार अपनी अपनी परम्परागत वाचना को ठीक मनवाने के लिए अनेक प्रयास हुए होंगे और अनेक संशोधनों के उपरान्त ही दोनों संघों में समझौता हुआ होगा। इस अनुमान

की पुष्टि में कल्याणविजय एकगाथा[24] उपस्थित करते हैं जिसका भाव है कि युग प्रधानतुल्य गन्धर्व वादिवेताल शान्तिसूरि ने वालभ्यसंघ के कार्य के लिए वलभी नगरी में उद्यम किया। यद्यपि कतिपय आगमों में वाचनान्तर का निर्देश पाया जाता है और टीकाकारों ने उसे नागार्जुनीय वाचना कहा है किन्तु प्रथमत: वलभी में होने वाली उक्त नागार्जुनीय वाचना का निर्देश किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलता। जबकि जिनदासमहत्तर कृत नन्दिचूर्णि तथा हरिभद्र कृत नन्दि टीका में माथुरी वाचना का कथन मिलता है। नागार्जुन की वालभी वाचना सम्बन्धी सभी उल्लेख विक्रम की 12वीं शताब्दी के पश्चात् के हैं।

द्वितीयत: इसके अतिरिक्त वादिवेताल शान्तिसूरि को वलभी में नागार्जुनीयों का पक्ष उपस्थित करने वाला बतलाया है। शान्त्याचार्य को राजा भोज ने वादिवेताल का विरुद दिया था।[25] अत: वह राजा भोज के समकालीन थे। उनकी मृत्यु वि०सं० 1096 में हुई थी। ऐसी स्थिति में देवर्द्धि के समय उनका वलभी में होना असम्भव ही है। इसलिए इस आधार पर वलभी में जिस संघर्ष की सम्भावना *मुनि कल्याणविजयजी ने व्यक्त की है वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती।*

तीसरे यदि इस तरह का संघर्ष हुआ होता तो मूलसूत्रों में 'वायणंतरे पुण' के स्थान पर 'णागज्जणीया उण एव पढ़ति' लिखा हुआ मिलता है।

स्वयं कल्याणविजय के कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। यदि सब सिद्धान्त माथुरी वाचना के अनुसार लिखे गये और जहां-जहां नागार्जुनी वाचना का भेद या मतभेद था, वह टीका में लिख दिया गया तो फिर दोनों वाचनाओं के सिद्धान्तों का परस्पर समन्वय करने और भेदभाव मिटाकर एकरूप करने की बात नहीं रहती और यदि उक्त प्रकार समन्वय किया गया तो यह नहीं कहा जा सकता कि सब सिद्धान्त माथुरी वाचना के अनुसार लिखे गये। दोनों वाचनाओं का समन्वय करके लिखने पर जो ग्रन्थ तैयार किया गया वह एक वाचनानुगत नहीं कहला सकता, उभयवाचनानुगत कहलायेगा। कल्याणविजय के इस लेख का समर्थन हेमचन्द्राचार्य विरचित योगशास्त्रवृत्ति[26] के अतिरिक्त किसी अन्य साक्ष्य से नहीं होता। हेमचन्द्र ने अपनी वृत्ति में यह अवश्य लिखा है कि दुषमा कालवश जिन वचनों को नष्टप्राय समझकर भगवान नागार्जुन स्कन्दिलाचार्य प्रमुख ने उसे पुस्तकों में लिखा किन्तु जिनदास की नन्दीचूर्णि के प्राचीन उल्लेख में इस बात का कतई निर्देश नहीं है।[27] उसमें उन्होंने केवल इतना लिखा है कि स्मृति के आधार *पर कालिक श्रुत संकलित किया गया है। हरिभद्र और मलयगिरि कृत नन्दि टीका में भी यही लिखा हुआ है।*[28]

मलयगिरि की ज्योतिषकरण्डकी टीका, जिसमें मथुरा और वलभी में वाचना होने का निर्देश है, में दोनों वाचनाओं के मात्र सूत्रार्थ संगठन का ही उल्लेख है, लिपिबद्ध किये जाने का नहीं। भद्रेश्वर की कथावली में भी इसका निर्देश नहीं है

किन्तु कल्याणविजय ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है कि जिससे यह प्रतीत हो सकता है कि माथुरीवाचना के पहले भी आगम पुस्तकें थीं। देवर्द्धिकालीन वालभी वाचना में भी दुर्भिक्ष के कारण विनष्ट हुए श्रुत की रक्षा पूर्ववत् की गयी, किन्तु इसमें पहले की वाचनाओं से विशिष्टता इस बात में थी कि उस संकलित श्रुत को पुस्तकारूढ़ भी किया गया।[29] सम्भव है कि इससे पूर्व भी साधु अपनी सुविधा के लिए किसी सूत्रग्रन्थ को लिपिबद्ध कर लेते हों, किन्तु देवर्द्धि से पहले सामूहिक रूप से आगम ग्रन्थों को लिपिबद्ध करने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ।[30] इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि इससे पहले आगम ग्रन्थों का कोई एक रूप निर्धारित नहीं हो सका था जो पूरे सम्प्रदाय को मान्य हो और ऐसी स्थिति में उन्हें लिपिबद्ध करना सम्प्रदाय भेद का जनक हो सकता था। अनुयोगद्वार पुस्तक में लिखित को द्रव्यश्रुत कहा गया है। सम्भव है कि आर्यरक्षित, जो कि अनुयोगद्वार के कृतिकार हैं, ने मन्दबुद्धि साधुओं पर अनुग्रह कर अपवाद के रूप में आगम लिखने की भी अनुमति दे दी हो।

नन्दीस्थविरावली की स्कन्दिलाचार्य सम्बन्धी गाथा के व्याख्यान में मलयगिरि[31] ने माथुरीवाचना क्यों स्कन्दिलाचार्य की कही जाती है इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि यह वाचना उस समय के युग प्रधान स्कन्दिलाचार्य को अभिमत थी और उन्हीं के द्वारा अर्थ रूप से शिष्यबुद्धि को प्राप्त हुई थी। दूसरों का कहना है कि दुर्भिक्ष के वश कुछ भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ था। समस्त श्रुत वर्तमान था किन्तु अन्य सब प्रधान अनुयोगधर काल के गाल में चले गये केवल एक स्कन्दिलसूरि शेष बचे। उन्होंने सुभिक्ष होने पर मथुरा में पुनः अनुयोग का प्रवर्तन किया। इसीलिए उसे माथुरी वाचना कहते हैं और वह अनुयोग स्कन्दिलाचार्य का कहलाता है।[32] देवर्द्धिगणि ने वलभी में आगम को अन्तिम रूप देकर पुस्तकारूढ़ कर सर्वथा के लिए अनुयोग प्रवर्तित कर दिया। अतः यदि उन्हें मात्र पुस्तक लेखक न कहकर वर्तमान आगमों का रचयिता कह दिया जाये तो असंगत न होगा। डा० जैकोबी[33] ने जैन सूत्रों की अपनी प्रस्तावना में देवर्द्धिगणि के विषय में लिखा है कि सर्वसम्मत परम्परा के अनुसार जैन आगम अथवा सिद्धान्तों का संग्रह देवर्द्धि की अध्यक्षता में वलभी सम्मेलन में हुआ। कल्पसूत्र में इसका समय वीर निर्वाण 980 या 993 अर्थात् 454 या 467 ई० दिया है। परम्परा के अनुसार सिद्धान्त के नष्ट हो जाने की आशंका के कारण देवर्द्धि ने उसको पुस्तकारूढ़ किया। इससे पूर्व गुरुजन अपने छात्रों को सिद्धान्त पढ़ाते समय पुस्तकों का उपयोग नहीं करते थे किन्तु इसके पश्चात् उन्होंने पुस्तकों का उपयोग किया। प्राचीन काल में ऋषि अपने गुरुकुलों में भी पुस्तकों का उपयोग नहीं करते थे। पुस्तकों की अपेक्षा स्मृति पर अधिक विश्वास करने का ब्राह्मणों में प्रचलन था। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस परम्परा का जैनों और बौद्धों ने अनुसरण किया।

शिक्षण के ढंग में क्रान्तिकारी परिवर्तन को लाने का श्रेय देवर्द्धिगणि को है क्योंकि यह घटना बहुत महत्त्वपूर्ण थी। यद्यपि ब्राह्मण भी अपने धर्मशास्त्रों की पुस्तकें रखते थे तथापि वे वेद पढ़ाते समय उनका उपयोग नहीं करते थे। यह पुस्तकें आचार्यों के व्यक्तिगत उपयोग के लिए होती थीं। जैकोबी को इसमें सन्देह नहीं है कि जैन साधु भी इस प्रथा का विशेष रूप से पालन करते थे तथा अपने धर्म ग्रन्थों का उत्तराधिकार मौखिक रूप से सौंपने की प्रचलित प्रथा से प्रभावित थे। यद्यपि जैकोबी को यह मान्य है कि जैनों के आगम मूलत: पुस्तकों में लिखे गये थे।[34] बौद्धों के पवित्र पिटकों में, जिनमें प्रत्येक छोटी-से-छोटी और गार्हस्थिक वस्तुओं तक का उल्लेख मिलता है, पुस्तकों का उल्लेख नहीं है। इस आधार पर विद्वान युक्ति देते हैं कि बौद्ध पुस्तक नहीं रखते थे। यही युक्ति जैनों के सम्बन्ध में भी दी जा सकती है। कम-से-कम जब तक जैन साधु भ्रमणशील थे तब तक उनमें पुस्तकों की प्रवृत्ति नहीं थी। किन्तु जब जैन साधु अपने उपाश्रयों में रहने लगे तब वह अपनी पुस्तकें रखने लगे। इससे देवर्द्धि के विषय में हमें एक नई बात ज्ञात होती है कि सम्भवत: उन्होंने वर्तमान प्रतियों को एक आगम के रूप में सुव्यवस्थित किया और जिनकी प्रतियां उपलब्ध नहीं हुई उन्हें विद्वान आगमज्ञों के मुख से ग्रहण किया। धार्मिक शिक्षण के ढंग में नवीन परिवर्तन के कारण यह सामयिक आवश्यकता थी। अत: देवर्द्धि के द्वारा सिद्धान्तों का सम्पादन पवित्र पुस्तकों का केवल नवीन संस्करण मात्र था। यह कहना कि वलभी सम्मेलन में ही सर्वप्रथम आगमों को लिखने की प्रथा प्रवर्तित हुई एक एकान्त पक्षी कथन है। अधिक उपयुक्त तो यह प्रतीत होता है कि देवर्द्धि द्वारा ग्रन्थों के पुस्तकारूढ़ होने के पश्चात सार्वजनिक रूप से उसका लेखन कार्य होने लगा।

बौद्ध संगीतियों से जैन वाचनाओं की तुलना

बौद्ध और जैन दोनों ही धर्मों में प्रमुख वाचनाओं की संख्या तीन है। समसंख्या देखकर यह सन्देह होना स्वभाविक है कि जैन वाचनाएं बौद्ध संगीतियों की प्रतिकृति तो नहीं हैं। इस प्रसंग में बौद्ध संगीति की तुलना भी अप्रासंगिक नहीं है। बौद्ध परम्परा में तीनों संगीतियां किसी दुर्भिक्ष के कारण अथवा पिटकधरों के स्वर्गवास हो जाने के कारण नहीं हुई जैसा कि जैन श्वेताम्बरीय परम्परा के संदर्भ में कहा गया है। प्रथम संगीति का कारण बताते हुए बौद्ध साहित्य में लिखा है कि भगवान बुद्ध का परिनिर्वाण होने पर सुभद्र नामक एक वृद्ध प्रव्रजित ने अन्य भिक्षुओं से कहा—'मत आवुसो। मत शोक करो। मत रोओ। हम मुक्त हो गये। उस महाश्रमण से पीड़ित रहा करते थे। अब हम जो चाहेंगे सो करेंगे। जो नहीं चाहेंगे उसे नहीं करेंगे।' सुभद्र के इस अभिकथन में धर्म एवं विनय के नष्ट हो जाने की

संभावना को उपलक्षित देखकर महाकाश्यप ने प्रस्तावित किया—'अच्छा आवुसो, आओ। हम धर्म और नियम का संधान करें, सामने अधर्म प्रकट हो रहा है। धर्म हटाया जा रहा है। अविनय प्रकट हो रहा है, विनय हटाया जा रहा है। अधर्मवादी बलबान हो रहे हैं, धर्मवादी दुर्बल हो रहे हैं। विनयवादी हीन हो रहे हैं'[35] इस तरह धर्म और विनय के ह्रास की संभावना का निराकरण करने के उद्देश्य से प्रथम संगीति की गयी।[36] दूसरी संगीति भी इसी कारण से हुई।[37] उस समय वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षु उपवास के दिन कांसे की थाली को पानी से भरकर और भिक्षुसंघ के बीच में रखकर आने-जाने वाले वैशाली के उपासकों से उसमें सोना, चांदी, सिक्का डालने के लिए कहते थे और फिर संचित द्रव्य को आपस में बांट लेते थे। आयुष्मान यश ने इस अकार्य का विरोध किया। इस पर देश-देशान्तरों के स्थविरों को एकत्र करके संगीति की गयी।[38]

तीसरी संगीति अशोक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र में हुई। उस समय अशोकाराम में भिक्षुओं ने उपोसथ करना छोड़ दिया था और सात वर्ष तक उपोसथ नहीं हुआ था। तब अशोक ने स्थविरों को आमन्त्रित करके यह विषय उनके समक्ष प्रस्तुत किया और तब तृतीय संगीति हुई जिसमें नौ मास लगे।[39]

इस संगीति के पश्चात् अशोक का पुत्र महेन्द्र धर्म प्रचार और उसके संरक्षण के लिए लंका गया। उसने त्रिपिटक और उसकी अटूटकथा को जिन्हें आरम्भ में महामति भिक्षु कण्ठस्थ करके ले गये थे, प्राणियों की स्मृति हानि देखकर भिक्षुओं को एकत्र कर, धर्म की चिर स्थिति के लिए पुस्तकों में लिखवाया। इस तरह तीन संगीतियों के पश्चात लंका में त्रिपिटकों को पुस्तकारूढ़ किया गया।[40]

जिस प्रकार महावीर के ग्यारह गणधर थे जो महावीर के उपदेशों को संकलित करके अंगों में निबद्ध करते थे उस प्रकार के बुद्ध के गणधर नहीं थे। बुद्ध समय-समय पर उपदेश दिया करते थे किन्तु उनके उपदेश को तत्काल ग्रन्थित करने का दायित्व किसी का नहीं था। केवल निरन्तर साथ रहने वाले उनके शिष्य उपदेशों को श्रवण करते और स्मरण रखने का प्रयत्न करते थे। यही कालान्तर में विनयधर कहलाने लगे।[41]

प्रथम बौद्ध संगीति के समय बुद्ध के अन्यतम अनुयायी आनन्द स्थविर भी उपस्थित थे। जब संगीति के लिए स्थविर भिक्षुओं का चुनाव होने लगा तो भिक्षुओं ने महाकाश्यप को कहा—भन्ते, यह आनन्द यद्यपि शैक्ष्य अनार्हत हैं तो भी छन्द राग, द्वेष, मोह, भय, अगति बुरे मार्ग पर जाने के अयोग्य हैं। इन्होंने भगवान बुद्ध के पास बहुत धर्म सूत्र और विनय प्राप्त किया है। इसलिए भन्ते, स्थविर आयुष्मान को भी चुन लें। इस प्रकार बुद्ध के पश्चात् स्थविर भिक्षुओं को एकत्रित करके धर्म और विनय के रूप में बुद्ध के उपदेशों का संकलना करना उचित ही था।

किन्तु महावीर के एक नहीं, दो नहीं, ग्यारह गणधर थे जिनका मुख्य कार्य

भगवान के उपदेशों को स्मरण रखकर तत्काल अंगों में ग्रन्थित करना था। ग्रन्थित करने के पश्चात् किसी योग्य शिष्य को सौंप कर उसकी परिपाटी को सुस्थिर रखना भी एक मुख्य कार्य था। इसी परिपाटी के अनुसार द्वादशांग श्रुत अविकल रूप में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को प्राप्त हुआ।

आगम लेखन की परम्परा

डॉ० विन्टरनित्स का कथन है कि द्वादशांगरूप आगम साहित्य से इतर आगमिक जैन साहित्य की रचना श्वेताम्बरीय आगम संकलना से बहुत पहले ही आरम्भ हो गयी थी।[42] पुस्तक लेखन की परम्परा सम्भवत: देवर्द्धि से बहुत समय पूर्व आरम्भ हो गयी थी। प्रज्ञापना में 'पोत्थाय' शब्द आता है[43] जिसका अर्थ होता है लिपिकार। इसी सूत्र में बताया गया है कि अर्द्धमागधी भाषा और वालभी लिपि का प्रयोग करने वाले भाषार्य होते हैं।[44] पांच प्रकार की पुस्तकें बतलायी गयी हैं— 1 गण्डी, 2 कच्छवी, 3 मुष्टि, 4 सम्पुट फलक एवं 5 सर्पाटिका। हरिभद्रसूरि ने भी दशवैकालिक टीका में प्राचीन आचार्यों का उल्लेख करते हुए उन्हीं पुस्तकों का उल्लेख किया है।[45] निशीथचूर्णि में भी इसका उल्लेख है। अनुयोगद्वार का 'पोत्थकर्म' शब्द भी लिपि की प्राचीनता का एक प्रमाण है। टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताड़ पत्र अथवा सम्पुटक पत्र, संचय और कर्म का अर्थ उसमें वर्तिका आदि से लिखना किया है। इसी सूत्र में आये हुए 'पोत्थकार' शब्द का अर्थ टीकाकार ने पुस्तक के द्वारा जीविका चलाने वाला किया है। वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी में आक्रान्ता सम्राट सिकन्दर के सेनापति निआर्कस ने लिखा है कि भारतवासी लोग कागज बनाते थे।[46] वर्तमान में लिखित ग्रन्थों में ईस्वी सम्वत् पांचवीं में लिखे हुए पत्र 'पतय पोत्थय लिहिअं'[47] मिलते हैं। किन्तु अति प्राचीन काल में इसके लिए कौन से साधन प्रयुक्त होते थे, जानना कठिन है। भारतीय वाङ्मय का भाग्य लम्बे समय तक कण्ठस्थ परम्परा में ही सुरक्षित रहा। तीनों परम्पराओं के शिष्य उत्तराधिकार के रूप में अपने आचार्यों द्वारा श्रुत ज्ञान स्मृति के रूप में पाते थे।

प्रतिक्रिया

आगमों के लिपिबद्ध होने के उपरान्त भी एक विचारधारा ऐसी रही कि साधु पुस्तक लिख नहीं सकते थे और अपने साथ भी नहीं रख सकते थे। पुस्तक लिखने और रखने में अनेक प्रकार के दोष बताये जाते थे[48]:

1. अक्षर लिखने में कुन्थु आदि त्रस जीवों की हिंसा होती है। इसलिए पुस्तक

लिखना संयम विराधना का हेतु है।
2. उनके छंदों की ठीक तरह पड़िलेहना नहीं हो सकती।
3. पुस्तकों को ग्रामान्तर ले जाते हुए कन्धे छिल जाते हैं, व्रण हो जाते हैं।
4. वह कुन्थु आदि जीवों के आश्रय होने के कारण अधिकरण है अथवा चोर आदि से चुराये जाने पर अधिकरण हो जाते हैं।
5. तीर्थंकरों ने पुस्तक नामक उपाधि रखने की आज्ञा नहीं दी है।
6. उनके पास में होते हुए सूत्र-गुणन में प्रमाद होता है, आदि।

साधु जितनी बार पुस्तकों को बांधते हैं, खोलते हैं और अक्षर लिखते हैं उन्हें उतने ही चतुरलघुकों का दण्ड आता है और आज्ञा आदि दोष लगते हैं।[49] आचार्य भिक्षु के समय भी ऐसी मान्यता थी। उन्होंने इसका खण्डन किया है। डॉ० विन्टरनित्स ने लिखा है कि यद्यपि जैन धर्म बौद्ध धर्म से प्राचीन है तथापि जैनों का आगमिक साहित्य अपने प्राचीनतम रूप में हम तक नहीं आ सका। दुर्भाग्य है उसके कुछ भाग ही सुरक्षित रह सके और उनका वर्तमान रूप अपेक्षाकृत काफी अर्वाचीन है।[50]

आगमों की प्राचीनता और प्रामाणिकता

इस संदर्भ में स्वयं श्वेताम्बर जैनों में निम्नलिखित परम्परा पायी जाती है। मूल सिद्धान्त चौदह पूर्वों में सुरक्षित हैं। महावीर ने स्वयं अपने शिष्य गणधरों को उनकी शिक्षा दी थी। किन्तु उन पूर्वों का ज्ञान शीघ्र ही नष्ट हो गया।[51] महावीर के शिष्यों में से केवल एक ने इस ज्ञान परम्परा को आगे चलाया। किन्तु वह केवल छः पीढ़ी तक ही आगे चल सकी। महावीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी में मगध देश में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा जो बारह वर्ष में जाकर समाप्त हुआ। उस समय चन्द्रगुप्त मौर्य मगध का राजा था और स्थविर भद्रबाहु जैन संघ के प्रधान थे। भद्रबाहु द्वादशांगश्रुत के अन्तिम प्रामाणिक उत्तराधिकारी श्रुतकेवली थे। बौद्धसंगीति की तरह पाटलिपुत्र में जो प्रथम वाचना हुई, कहा जाता है कि वह *उनकी अनुपस्थिति में ही हुई और उसमें भी केवल ग्यारह अंगों का ही संकलन* किया जा सका। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बारहवां अंग संकलित नहीं हो सका क्योंकि उसका जानकार श्रुतकेवली भद्रबाहु के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति नहीं था।[52]

भद्रबाहु के पश्चात् जैन संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर पंथ में विभाजित हो गया और दोनों की गुरुपरम्परा भी भिन्न हो गयी। सम्भवतः श्रुतकेवली भद्रबाहु का उत्तराधिकार दोनों ही परम्पराओं को प्राप्त हुआ था। फलतः दिगम्बर परम्परा में

महावीर के निर्वाण के पश्चात् 683 वर्ष तक विक्रम सम्वत् की दूसरी शताब्दी पर्यन्त अंगज्ञान यद्यपि प्रचलित रहा, किन्तु दिन पर दिन क्षीण होता चला गया।

श्वेताम्बर परम्परा में पाटलिपुत्र के बाद दूसरी वाचना मथुरा में हुई और वीर निर्वाण से 980 वर्ष अथवा 993 वर्ष पश्चात् वलभी की तीसरी वाचना के समय संकलित ग्यारह अंगों को पुस्तकारूढ़ किया गया। किन्तु महत्वपूर्ण बारहवां अंग नष्ट हो गया। उसी के भेद चौदह पूर्व थे। उन्हीं के कारण बारहवें अंग का महत्व था। श्वेताम्बर परम्परा में तो ग्यारह अंगों की उत्पत्ति पूर्वों से ही मानी गयी है। अत: पूर्वों का महत्व निर्विवाद है।[53] इस मत को आधार बनाकर आर०जी० भण्डारकर ने दिगम्बर परम्परा के कथन को विश्वसनीय मानते हुए यह मत प्रकट किया था कि वीर निर्वाण के पश्चात् 683 वर्ष पर्यन्त 160 ई० में, जबकि अंगों के अन्तिम ज्ञाता आचार्य का स्वर्गवास हुआ, जैनों में कोई लिखित आगम नहीं था। सम्भवतया यह बात बारह अंगों के सम्बन्ध में कही गयी है क्योंकि उनका लेखनकार्य श्वेताम्बर मान्यतानुसार 980 या 993 वर्ष पश्चात् हुआ था।[54]

दुर्भिक्ष के कारण भद्रबाहु अपने अनुयायी समुदाय के साथ दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रदेश में चले गये और स्थूलभद्र जो चौदह पूर्वों को जानने वाले अन्तिम व्यक्ति थे, मगध में रह जाने वाले संघ के प्रधान हो गये।[55] भद्रबाहु की अनुपस्थिति के कारण यह प्रत्यक्ष था कि पवित्र सूत्रों का ज्ञान विस्मृति के गर्त में चला जाता। इसलिए पाटलिपुत्र में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। उसमें ग्यारह अंगों का संकलन हुआ और चौदह पूर्वों के अवशेषों को बारहवें अंग दृष्टिवाद के रूप में निबद्ध कर दिया गया।[56] कालान्तर में यह बारहवां अंग भी लुप्त हो गया। उस समय भद्रबाहु के अनुयायी मगध में रह जाने वाले साधु सफेद वस्त्र पहनने के अभ्यस्त हो गये थे जबकि दक्षिण प्रवासी साधु महावीर के कठोर नियमों के अनुसार नग्न रहते थे। इस तरह दिगम्बरों और श्वेताम्बरों का महान संघ भेद हुआ। हाथीगुंफा अभिलेख से ज्ञात होता है कि अपने शासन काल के 13वें वर्ष में कलिंगराज खारवेल ने कुमारीपर्वत पर, जहां कि धर्मचक्र प्रवर्तन हुआ था, श्रद्धा सहित राजकीय पोषण प्रस्तुत किया तथा भिक्षुओं को चीनी, वस्त्र तथा श्वेतवस्त्र 'वासासितानि' प्रदान किये।[57] यदि जायसवाल तथा बनर्जी के पाठ को सही मानें तो कहा जायेगा कि चौदहवीं पंक्ति में भिक्षुओं को श्वेत वस्त्र बांटने का उल्लेख है। जायसवाल ने हाथीगुंफा अभिलेख का काल द्वितीय शताब्दी ई०पू० प्रस्तावित किया है और इस प्रकार उनके विचारानुसार द्वितीय शताब्दी ई०पू० में मगध में श्वेताम्बरों का अस्तित्व था।[58] दिगम्बरों ने पाटलिपुत्र में संकलित आगमों को मानने से इनकार कर दिया और उन्होंने यह घोषणा कर दी कि अंग और पूर्व नष्ट हो गये हैं।[59] सूदीर्घ कालवश श्वेताम्बरों के आगम अस्त-व्यस्त हो गये और उनके एकदम नष्ट हो जाने का भय उत्पन्न हो गया। अत: महावीर निर्वाण के 980

या 993 वर्ष पश्चात् ईसा की 5वीं शताब्दी के मध्य में या छठी शताब्दी के आरम्भ में गुजरात की वलभी नगरी में पवित्र आगमों के संकलन तथा लेखने के लिए एक सम्मेलन हुआ। जिसके प्रधान देवर्द्धिक्षमा श्रमण थे। बारहवां अंग जिसमें पूर्वों के अवशिष्ट अंश संकलित थे, उस समय तक नष्ट हो चुका था। इसी कारण हम बारह अंग नहीं केवल ग्यारह अंग पाते हैं। अनुमान किया जाता है कि वर्तमान में पाये जाने वाले ग्यारह अंग वही हैं जिन्हें देवर्द्धि ने संकलित किया था।[60] इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयं श्वेताम्बरों की जैन परम्परा के अनुसार उनके पवित्र आगमों की अधिकारिता ईसा की पांचवीं सदी से पूर्व नहीं जाती।[61] वर्तमान रूप में सूत्र वीर सम्वत् 980 लगभग 553 ई० में हमारे समक्ष आते हैं तथा नागार्जुन के अनुसार वीर सम्वत् 893 अथवा 466 ई० में जब चतुर्थ तथा अन्तिम जैन परिषद देवर्द्धिक्षमा श्रमण के नेतृत्व में वलभी में मिली तब सूत्रों का संकलन हो चुका था।[62] यह ठीक है कि वह मानते हैं कि वलभी सम्मेलन में जो आगम लिखे गये उनका आधार पाटलिपुत्र में संकलित आगम थे और वह आगम महावीर और उनके शिष्यों से सम्बद्ध थे।

कार्पेन्टियर को इस बात में सन्देह नहीं है कि आज भी प्रमुख आगम अपने आप को उसी रूप में उपस्थित करते हैं जिसमें पाटलिपुत्र वाचना में उन्हें निश्चित स्थिर किया गया था।[63] कहा जाता है कि महावीर के शिष्य गणधरों ने मुख्य रूप से आर्य सुधर्मा ने महावीर स्वामी के वचनों को अंगों और उपांगों में निबद्ध किया। परम्परा के अनुसार कुछ विशेष ग्रन्थों को बाद के ग्रन्थकारों का भी कहा जाता है। उदाहरण के लिए चौथा उपांग आर्य श्यामार्य का बतलाया जाता है, जिसका समय महावीर निर्वाण से 376 या 386 वर्ष पश्चात् माना जाता है। चौथे छेद सूत्र पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को भद्रबाहु की वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी और तीसरे मूलसूत्र को संयम्भव का, जिन्हें महावीर निर्वाण के पश्चात् चौथा युग प्रधान गिना जाता है, कहा जाता है। नन्दिसूत्र को महावीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी में होने वाले वलभी सम्मेलन के प्रधान देवर्द्धि का कहा जाता है। दिगम्बर भी यह मत स्वीकार करते हैं कि महावीर के प्रथम गणधर चौदह पूर्वों और ग्यारह अंगों को जानते थे। किन्तु वे कहते हैं कि प्राचीन समय में केवल चौदह पूर्वों का ही ज्ञान लुप्त नहीं हुआ था, वरन् महावीर निर्वाण के 436 वर्ष पश्चात् ग्यारह अंगों के ज्ञाता अन्तिम व्यक्ति का देहान्त हुआ और इसके उत्तराधिकारी आचार्यों में क्रमशः अंगों का ज्ञान कम होता गया और अन्त में महावीर निर्वाण से 683 वर्ष पश्चात् अंगों का ज्ञान पूर्णतया नष्ट हो गया।

विन्टरनित्स का यह मत उपयुक्त प्रतीत होता है। उनके अनुसार यद्यपि स्वयं जैनों की परम्परा उनके आगमों के बहुत प्राचीन होने के पक्ष में नहीं है तथापि कम-से-कम उनके कुछ भागों को अपेक्षाकृत प्राचीन काल में मानने में और यह मानने

में कि देवर्द्धि ने अंशत: मौखिक परम्परा के आधार पर आगमों को संकलित किया, पर्याप्त कारण है।[64] गोविन्दचन्द्र पाण्डे के अनुसार संक्षेप में वर्तमान श्वेताम्बर सिद्धान्तों से यह ज्ञात होता है कि केवल कुछ ग्रन्थों को ही निश्चयपूर्वक प्राचीन कहा जा सकता है, ज्यादा से ज्यादा महावीर जितना।[65]

जे०एन० फरक्यूहर ने जैन आगमों के सम्बन्ध में लिखा है कि अंगों के द्वारा स्थापित समस्या बहुत ही जटिल स्थिति में है। उनकी भाषा मूल मागधी नहीं है जिसमें वह ईसा पूर्व तीसरी सदी में पाटलिपुत्र में संकलित किये गये थे, किन्तु उस पर पश्चिम का प्रभाव है। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि संकलन काल से ही आगमों में विस्तृत रूप से परिवर्तन होते आये हैं।[66]

इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए आगमों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया गया। यह संभव है कि पाटलिपुत्र में कुछ अंग संकलित किये गये। किन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि वर्तमान आगमों का उन मूल आगमों के साथ क्या सम्बन्ध है। वेबर का मत है कि वर्तमान आगम दूसरी और पांचवीं शताब्दी के बीचे रचे गये।[67] किन्तु जैकोबी का सुझाव है कि उनका कुछ भाग पाटलिपुत्र से ही अपेक्षाकृत थोड़े से परिवर्तन के साथ आया है।[68] फरक्यूहर को विश्वास है कि अधिक सम्भव यह है कि प्राचीन साहित्य अंशत: सुरक्षित रहा है।[69] यद्यपि यह असंदिग्ध है कि संघ भेद के समय से अर्थात् ई० 80 से श्वेताम्बर साधुओं के द्वारा अपने सम्प्रदाय के अनुकूल उसमें संशोधन की प्रवृत्ति जारी रही। आगमों में श्वेताम्बरों की इस प्रवृत्ति के स्पष्ट चिह्न पाये जाते हैं।[70]

वर्तमान में उपलब्ध आगम साहित्य मौलिक है भी या नहीं इसके सम्बन्ध में जैन साहित्य में दो परम्पराएं हैं—1. दिगम्बर विचारधारा और 2. श्वेताम्बर विचारधारा। दिगम्बर विचारधारा के अनुसार श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण के 683 वर्ष बाद आगम साहित्य का सर्वथा लोप हो गया। वर्तमान में उपलब्ध एक भी आगम मौलिक नहीं है।

मुनि समदर्शी प्रभाकर के विचार में श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार आगम साहित्य का बहुत बड़ा भाग लुप्त हो गया परन्तु उसका पूर्णत: लोप नहीं हुआ। द्वादशांग में से एकादशअंग वर्तमान में विद्यमान है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विभिन्न समयों में विभिन्न वाचनाओं में आगम साहित्य में कुछ परिवर्तन भी हुआ है। इतना होने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि अंग साहित्य में मौलिकता का सर्वथा अभाव है। उसमें बहुत सा भाग मौलिक है और भाषा और शैली की अपेक्षा से प्राचीन भी है। इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आगम का मूलरूप वर्तमान में भी सुरक्षित है।[71]

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री[72] के मत में उपलब्ध आगम साहित्य के विषय में प्राप्त उल्लेखों से यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि वीर निर्वाण की दूसरी

शताब्दी से अंग श्रुत की छिन्न-भिन्नता आरम्भ हो गयी थी और वह आगे भी जारी रही।

दो और भयानक दुर्भिक्षों के कारण श्रुत को गहरी हानि पहुंची। श्रुत साहित्य को काल के अतिक्रमण के साथ ही साथ सुदूर देशों का भी अतिक्रमण करना पड़ा। फिर एक पक्ष ने उसे मान्य ही नहीं किया। जिस पक्ष के द्वारा अंग साहित्य संकलित किया गया उस पर बौद्धों के मध्यम मार्ग का भी प्रभाव पड़ा। इन स्थितियों का अंग साहित्य पर प्रभाव न पड़ा हो यह असम्भव है। अत: यह कहना कि पाटलिपुत्र में जो अंग साहित्य संकलित किया गया और उसके आठ सौ वर्ष पश्चात् वलभी में जो पुस्तकारूढ़ हुआ उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ा या मामूली अन्तर पड़ा, पूर्ण सत्य नहीं है। ऐसी अवस्था में यह निर्विवाद है कि वर्तमान रूप में उपलब्ध जैन आगमों को सर्वथा प्रामाणिक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रसंग में वेबर महोदय[73] के मत का अध्ययन भी आवश्यक है। वेबर विद्वानों के उस वर्ग में से थे जो जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा मानते हैं। वेबर के अनुसार डा० बुहलर की सूची में अंकित 45 आगमों को देवर्द्धिगणि ने संकलित किया था। यदि हम इस पर अधिक विचार न करें तो भी हमें एक सत्य के रूप में यह स्वीकार करना होगा कि सम्भवतया देवर्द्धिगणि ने उन्हें जिस रूप में संकलित किया था, वर्तमान रूप में वह उपलब्ध नहीं है। मूल सिद्धान्तों से अन्य ग्रन्थों में यह भेद वर्तमान है।

सिद्धान्त ग्रन्थों में न केवल वाक्यों और विभागों को ही नष्ट किया गया बल्कि प्राचीन टीकाओं के समय विद्यमान बड़ी संख्या मे क्षेपकों को भी सम्मिलित किया गया था जो स्पष्ट प्रतीत होते हैं। जैकोबी[74] का अनुमान है कि इस परिवर्तन के कारणों को श्वेताम्बर सम्प्रदाय की कठोरता के अभाव में देखा जा सकता है। वर्तमान आगम केवल श्वेताम्बरों के हैं। दृष्टिवाद का एकदम नष्ट हो जाना नि:सन्देह मुख्य रूप से सम्बन्धित है कि इसमें संघभेद के सिद्धान्तों का सीधा उल्लेख था। यह घटना अन्य अंगों में किये गये परिवर्तन, परिवर्धन और लोप के लिए व्याख्या रूप हो सकती है जो जैन साहित्य के इतिहास के लिए महत्वपूर्ण हैं। दिगम्बरों ने एक समय विशेष के बाद तीर्थंकर प्रणीत आगम का सर्वथा लोप मान लिया। इसलिए आदेशों को आगमान्तर्गत करने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं हुई। किन्तु श्वेताम्बरों ने आगमों का संकलन करके यथाशक्ति सुरक्षित रखने का प्रयास किया।

आगमों के संरक्षण में बाधा

भारतीय वाङ्मय में शास्त्रों को सुरक्षित रखने के प्रयास सदा से हुए हैं। वैदिक साहित्य की सुरक्षा में भारतीयों ने अद्भुत कार्य किया। आज भी भारत में सैकड़ों वेदपाठी मिलेंगे जो आदि से अन्त तक वेदों का शुद्ध उच्चारण कर सकते हैं। उनको पुस्तक की आवश्यकता नहीं है। वेद के अर्थ की परम्परा उनके पास नहीं है किन्तु वेदपाठ की परम्परा अवश्य है।[75]

जैनों ने भी अपने आगम ग्रन्थों को सुरक्षित रखने का वैसा ही प्रयत्न किया है जिस रूप में भगवान के उपदेशों को गणधरों ने ग्रन्थित किया है। उनकी भाषा प्राकृत थी और भाषागत परिवर्तन से विषय वस्तु की मौलिकता में परिवर्तन स्वाभाविक ही है। अत: ब्राह्मणों की तरह जैन आचार्य और उपाध्याय अंग ग्रन्थों की सुरक्षा अक्षरश: नहीं रख सके। इतना ही नहीं कई आगमों को वे सम्पूर्णत: भूल गये। फिर भी कहा जा सकता है कि अंगों का अधिकांश जो आज उपलब्ध है भगवान के उपदेश के अधिक निकट है। उसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ किन्तु वह मनगढ़न्त है यह नहीं कहा जा सकता। इतिहास साक्षी है कि जैनों ने सम्पूर्ण श्रुत को बचाने का बारम्बार प्रयास किया है।[76]

प्रश्न उठना स्वभाविक है कि जिन बाधाओं से जैन श्रुत नष्ट हुए उन बाधाओं से वेद कैसे बच गये? क्या कारण है कि जैन श्रुत से भी प्राचीन वेद सुरक्षित रह सके और जैन श्रुत सम्पूर्ण नहीं तो अधिकांश नष्ट हो गया। इसका कारण है कि वेद की सुरक्षा में दो प्रकार की परम्पराओं ने सहयोग दिया है—पिता-पुत्र परम्परा तथा गुरु-शिष्य परम्परा। पिता ने पुत्र को और उसने अपने पुत्र को तथा इसी प्रकार गुरु ने शिष्य को और शिष्य ने अपने शिष्य को इस क्रम में वेद पाठ की परम्परा को अविच्छिन्न बनाये रखा। जैन आगम की रक्षा में पिता-पुत्र परम्परा का कोई स्थान नहीं है। श्रमण संघ के स्वरूप के अनुसार केवल गुरु अपने शिष्य को ज्ञान देता है।

विद्यावंश की परम्परा से जैन श्रुत को जीवित रखने का प्रयास नहीं किया गया है। यही कमी जैन श्रुत की अव्यवस्था के कारण हुई। ब्राह्मणों को अपना सुशिक्षित पुत्र और सुशिक्षित शिष्य मिलने में कठिनाई नहीं होती थी किन्तु जैन श्रमण को अपना सुशिक्षित पुत्र जैन श्रुत के उत्तराधिकारी के रूप में नहीं मिलता था। गुरु के पास तो शिष्य ही होता था चाहे वह योग्य हो या अयोग्य। श्रुत का अधिकारी वही होता था, यदि वह श्रमण हो। वेदों की सुरक्षा एक वर्ण विशेष से हुई जिसका स्वार्थ उसकी सुरक्षा में ही था। जैन श्रुत की सुरक्षा वैसे किसी भी वर्णविशेष के अन्तर्गत नहीं थी। चतुर्वर्ण में से कोई भी व्यक्ति जैन श्रमण हो सकता था, वही श्रुत का अधिकारी हो जाता था। वेद का अधिकारी ब्राह्मण

अधिकार पाकर उससे असम्पृक्त नहीं हो सकता था। उसके लिए जीवन की प्रथमावस्था में नियमत: वेदाध्ययन आवश्यक था। ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन सर्वस्व था तो जैन श्रमण के लिए आचार-विचार प्रमुख था। जैन आचार शास्त्र के अनुसार कोई मन्द बुद्धि जैन शिष्य सम्पूर्ण श्रुत का मात्र पाठगामी हो तो भी उसके मोक्ष में किसी प्रकार की बाधा नहीं थी और ऐहिक जीवन भी निर्बाध रूप से सदाचार बल से व्यतीत हो सकता था। जैन सूत्रों का दैनिक क्रियाओं में विशेष उपयोग लगभग नहीं था। एक सामायिक पद मात्र से भी मोक्षमार्ग सुगम हो जाने की जहां सम्भावना हो, वहां अपवाद स्वरूप ही सम्पूर्ण श्रुतधर बनने का कोई प्रयास करेगा। अपनी स्मृति पर बोझ न बढ़ाकर भी, आगमों की रक्षा जैन पुस्तकबद्ध करके कर सकते थे, किन्तु वैसा करने में अपरिग्रह भंग का भय था। उन्होंने इसमें असंयम को देखा।[77] जैनों ने अपरिग्रह को जब कुछ शिथिल किया, तब तक वे अधिकांश आगमों को भूल चुके थे।

पहले जिस पुस्तक अपरिग्रह को असंयम का कारण समझा जाता था उसे अब संयम का कारण मानने लगे।[78] ऐसा न करने पर श्रुत विनाश का भय था किन्तु अब क्या हो सकता था? लाभ केवल इतना था कि शेष आगमिक सम्पत्ति ही रह गयी जो सुरक्षित थी। श्रुत रक्षा के लिए अपवादों की सृष्टि की गई। दैनिक आचार में भी श्रुत स्वाध्याय को अधिक महत्व दिया गया। इतना करने पर भी मौलिक कमी का निवारण नहीं हुआ। क्योंकि गुरु अपने श्रमण शिष्य को ही ज्ञान दे सकता था जिसमें अपवाद नहीं हुआ। श्रमणों के अभाव में ज्ञान गुरु के साथ ही लुप्त हो जाये तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? कई कारणों से विशेषकर जैन श्रमणों की कठोर तपस्या और अत्यन्त कठिन आचार के कारण जैन संघ में श्रमणों की संख्या ब्राह्मण और बौद्धों की तुलना में न्यून ही रही। इसी स्थिति में लिखित ग्रन्थों की भी सुरक्षा नहीं रह सकी और श्रुत छिन्न-भिन्न हो गये।

आगमों की भाषा

जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर भले ही अनेक हों किन्तु उनके उपदेश में साम्य होता है।[79] जैन सूत्रों के अनुसार भगवान ने अर्द्धमागधी में उपदेश दिया और उनके गणधरों ने श्रवण कर आगमों की रचना की। परम्परा के अनुसार बौद्धों की अर्द्धमागधी की भांति मागधी भी आर्य, अनार्य, पशु और पक्षियों के द्वारा समझी जाती थी।[80] बाल, वृद्ध, स्त्री और अपढ़ लोगों को वह बोधगम्य थी।[81] आचार्य हेमचन्द्र[82] ने उसे आर्षप्राकृत कह कर व्याकरण के नियमों से बाह्य बताया है। त्रिविक्रम ने भी अपने प्राकृतशब्दानुशासन में देश्य भाषाओं की भांति आर्षप्राकृत की स्वतन्त्र उत्पत्ति मानते हुए उसके लिए व्याकरण के नियमों की आवश्यकता

नहीं बतायी। तात्पर्य यह है कि आर्षभाषा का आधार संस्कृत न होने से वह अपने स्वतन्त्र नियमों का पालन करती है। इसे प्राचीन प्राकृत भी कहा गया है।

सामान्यतया मगध के अर्द्धभाग में बोली जाने वाली भाषा को अर्द्धमागधी कहा गया है। अभयदेवसूरि के अनुसार इस भाषा में कुछ लक्षण मागधी के हैं और कुछ प्राकृत के पाये जाते हैं, इसलिए इसे अर्द्धमागधी कहा है। इससे मागधी और अर्द्धमागधी भाषाओं की निकटता पर प्रकाश पड़ता है। मार्कण्डेय ने शौरसेनी के समीप होने से मागधी को ही अर्द्धमागधी बताया है। पश्चिम में शौरसेनी और पूर्व में मगध के बीच क्षेत्र में बोली जाने वाली यह भाषा अर्द्धमागधी कही जाती थी।

क्रमदीश्वर ने अपने संक्षिप्तसार में इसे महाराष्ट्री और मागधी का मिश्रण बताया है जिसमें मगध, मालवा, महाराष्ट्र, लाट, विदर्भ आदि की देशी भाषाओं का सम्मिश्रण है।[83] इससे यही सिद्ध होता है कि अर्द्धमागधी जनसामान्य की भाषा थी जिसमें महावीर ने सर्वसाधारण को प्रवचन दिये। आगमों के अनुसार तीर्थंकर अर्द्धमागधी में उपदेश देते हैं।[84] इसे उस समय की दिव्य भाषा[85] और इसका प्रयोग करने वाले को भाषार्य कहा गया है।[86] इसमें मागधी और अठारह अन्य देशी भाषाओं के लक्षण मिश्रित हैं। इसलिए यह अर्द्धमागधी कहलाती है।[87] भगवान महावीर के शिष्य मगध, मिथिला कोसल, आदि अनेक प्रदेश, वर्ग और जाति के थे। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे आर्ष कहा है।[88] निशीथचूर्णि में चूर्णिकार ने इस बात का उल्लेख किया कि आगमों की भाषा अर्द्धमागधी निश्चित है[89], किन्तु यह निश्चित कर पाना बहुत ही दुष्कर है कि आगम उस भाषा में है जिनमें कि उन्हें श्रवण किया गया अथवा उस भाषा में जिन्हें की आने वाली पीढियों ने बोला, समझा और लिखा। जैकोबी का यह व्यक्तिगत विश्वास है कि आगमों की भाषा हर पीढ़ी के साथ बदली। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण जैन प्राकृत है जिसमें कि क्रमिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।[90] भगवान महावीर ने तत्कालीन लोकभाषा अर्द्धमागधी को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया इसलिए गौतम गणधर के द्वारा द्वादशांग श्रुत की भाषा भी अर्द्धमागधी थी किन्तु उनका लोप होने पर भी महाराष्ट्री और शौरसेनी भाषाएं जो प्राकृत के ही भेद हैं, जैन आगमिक साहित्य का माध्यम रहीं। जब संस्कृत भाषा लोकप्रिय हुई तो जैनाचार्यों ने उसके भण्डार को अपनी कृतियों से भरा। पीछे अपभ्रंश भाषा का प्रचार होने पर अपभ्रंश भाषा को अपना कर उसे समृद्ध बनाया।[91]

आगम विभाग

जैन साहित्य दो भागों में विभक्त है—1. आगम साहित्य और 2. आगमेतर साहित्य। तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट, गणधरों एवं पूर्वधर स्थविरों द्वारा रचित साहित्य

को आगम और आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों को आगमेतर साहित्य की संज्ञा दी गयी है।

तीर्थंकर सदा अर्थ रूप से उपदेश देते हैं। उनका प्रवचन सूत्र रूप में नहीं होता। गणधर इस अर्थ रूप प्रवचन को सूत्र रूप में गूंथते हैं।[92] इस अपेक्षा से आगम सहित्य के दो भेद होते हैं—1. अर्थागम 'अत्थागमे' तथा, 2. सूत्रागम 'सुत्तागमे'। तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट वाणी अर्थागम और उस प्रवचन के आधार पर गणधरों द्वारा रचित आगमों को सूत्रागम कहते हैं। ये आगम आचार्यों की अमूल्य एवं अक्षय ज्ञान निधि बन गये हैं। इसलिए इन्हें गणि-पिटक के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इनकी संख्या बारह है इसलिए इनका नाम द्वादशांगी है।

आगम साहित्य प्रणेता की दृष्टि से दो भागों में विभाजित होता है—अंगप्रविष्ट और अनंगप्रविष्ट। भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों ने जो साहित्य रचा वह अंगप्रविष्ट कहलाता है। स्थविरों ने जो साहित्य रचा वह अनंगप्रविष्ट कहलाता है। बारह अंगों के अतिरिक्त सारा आगम साहित्य अनंगप्रविष्ट है। गणधरों के प्रश्न पर भगवान ने त्रिपदी-उत्पाद, व्यय और श्रौव्य का उपदेश दिया। उसके आधार पर जो आगम साहित्य रचा गया वह अंगप्रविष्ट और भगवान के मुक्त व्याकरण के आधार पर जो स्थविरों ने रचा, वह अनंगप्रविष्ट है।

द्वादशांगों का स्वरूप सभी तीर्थंकरों के समक्ष नियत नहीं होता है। वर्तमान में जो एकादश अंग उपलब्ध हैं वे सुधर्मा गणधर की वाचना के हैं। इसलिए सुधर्मा द्वारा रचित माने जाते हैं। तीर्थंकर रूपी कल्पवृक्ष से जो ज्ञानरूपी पुष्पों की वृष्टि होती है उन्हें लेकर गणधर माला में गूंथ देते हैं।[93] अनंगप्रविष्ट आगम साहित्य की दृष्टि से दो भागों में बांटा गया है। कुछ आगम स्थविरों द्वारा रचित हैं और कुछ निर्यूढ़। जो आगम द्वादशांगी या पूर्वों से उद्धृत किये गये, वह निर्यूढ़ कहलाते हैं।

दशवैकालिक, बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कन्ध—ये निर्यूढ़ आगम हैं। दशवैकालिक का निर्यूहण अपने पुत्र मनक की आराधना के लिए आर्य शय्यम्भव ने किया।[94] शेष आगमों के श्रुतधर श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं।[95] प्रज्ञापना के कर्ता श्यामार्य, अनुयोगद्वार के आर्य रक्षित और नन्दि के देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण कहे जाते हैं।

भाषा की दृष्टि से आगमों को दो युगों में विभक्त किया जा सकता है। ईस्वी पूर्व 400 से 100 ई० तक का पहला युग है। इसमें रचित अंगों की भाषा मागधी है। दूसरा युग 100 ई० से 500 ई० तक का है। इसमें रचित निर्यूढ़ आगमों की भाषा जैन महाराष्ट्री प्राकृत है। अनुयोगद्वार सूत्र में आगम के तीन भेद किये गये हैं—आत्मागम, अन्तरागम और परम्परागम। तीर्थंकर केवल ज्ञान के द्वारा स्वयमेव सब पदार्थों को जानते हैं इसलिए उनके अर्थ को आत्मागम कहते हैं। गणधरों द्वारा सूत्रों में निबद्ध ज्ञान अन्तरागम होता है, क्योंकि तीर्थंकरों से ज्ञान गणधरों और गणधरों से शिष्यों को प्राप्त होता है, अत: यह परम्परागम कहलाता है। व्यवहार

सूत्र में प्रथम आचारांग सूत्र से लेकर अष्टम पूर्व पर्यन्त अंगों को और पूर्वों को तो श्रुत कहा है और नवम आदि शेष छः पूर्वों को आगम कहा है। भेद का कारण है कि जिससे अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान हो उसे आगम कहते हैं। केवल ज्ञान की तरह अतीन्द्रिय पदार्थों के विशिष्ट ज्ञान कराने के कारण ही इन्हें आगम कहते हैं।

जयधवला के अनुसार जिसमें अल्पाक्षर हों, जो सन्देहोत्पादक न हो, जिसमें सार भर दिया हो, जिसका निर्णय गूढ़ हो, जो निर्दोष हो, सयुक्तिक हो और तथ्ययुक्त हो उसे विद्वान सूत्र कहते हैं। सम्पूर्ण सूत्र लक्षण तो तीर्थंकर के मुख से निकले अर्थ पदों में ही संभव है, गणधर के मुख से निकली रचना में नहीं। वह तो बहुत विस्तृत और विशाल होती है।[95] षट्खण्डागम की कृति अनुयोगद्वार की धवला टीका में वीरसेन स्वामी ने तीर्थंकर के मुखप्रणीत को तो सूत्र कहा है और गणधरदेव के श्रुतज्ञान को सूत्रागम कहा है। क्योंकि वह उन बीज पद रूपी सूत्रों से उत्पन्न होता है।[96] अंगों और पूर्वों को सिद्धान्त भी कहते हैं।[97] जैकोबी[98] आदि विदेशी लेखकों ने अपने लेखों में श्वेताम्बर आगमों का निर्देश सिद्धान्त शब्द से किया है। इस प्रकार अंगों और पूर्वों को आगम, परमागम, सूत्र, सिद्धान्त[99] आदि नामों से पुकारा गया है। बौद्ध पालि त्रिकाय की तीनों वाचना के 100 वर्ष बाद श्वेताम्बर आगम पुस्तकारूढ़ हुए। अतः पालि त्रिकाय पिटक की अनुकृति पर जैनों के आगम भी *'दुवालसंगे गणिपिडगे'*[100] कहलाये जिसका अर्थ है गणधर का पिटारा।

आगमों की तिथि चर्चा

अधिकांश जैन तीर्थंकरों की परम्परा पौराणिक होने पर भी जैन साहित्य का आदि स्रोत अंग साहित्य वेद जितना प्राचीन नहीं है, यह सिद्ध हो चुका है। उसे बौद्धपिटक का समकालीन माना जा सकता है।[101] डा० जैकोबी[102] का कथन है कि समय की दृष्टि से जैनागम का समय जो भी माना जाये किन्तु उसमें जिन तथ्यों का संग्रह है वह ऐसे नहीं हैं कि इसी काल के हों। इसमें ऐसे तथ्य संग्रहीत हैं जिनका सम्बन्ध प्राचीन पूर्व परम्परा से है।[103] जैन ग्रन्थों की कालावधि अधिक अनिश्चित है क्योंकि उनका अध्ययन और सम्पादन उस रूप में नहीं हो पाया जिस रूप में बौद्ध ग्रन्थों का हुआ है।[104] कहा जाता है कि जैनधर्म ग्रन्थों का संकलन सर्वप्रथम ई० पू० चौथी शताब्दी के अन्त या तीसरी शताब्दी के आरम्भ में किसी समय हुआ था।[105] आगम शब्द व्यक्ति वाचक नहीं है किन्तु अनेक व्यक्ति कृत अनेक ग्रन्थों का समुदाय वाचक है। आगम की रचना का कोई एक निश्चित काल नहीं है। भगवान महावीर का उपदेश विक्रम पूर्व 500 वर्ष में शुरू हुआ। अतएव उपलब्ध किसी भी आगम की रचना का उसके पहले होना सम्भव नहीं है और दूसरी और

अन्तिम वाचना के आधार पर पुस्तक लेखन वलभी में विक्रम सम्वत् 510 मतान्तर से 523 में हुआ। अतएव तदन्तर्गत कोई शास्त्र विक्रम सम्वत् 525 के बाद का नहीं हो सकता।[106] जिस अलंकृत रूप में वर्तमान में बारह अंग उपलब्ध हैं उनको देखते हुए उनके रचनाकाल अथवा उनके प्रणेताओं के विषय में कहना दुष्कर है। कुछ अंग पूरी तौर पर पौराणिक हैं तथा गाथाओं की विषय-सामग्री से युक्त हैं। ऐसे अंग चार हैं। नायाधम्मकहाओ, अन्तगडदसाओ, अणुतरोववाइयदसाओ तथा विवागसूयम। इनका निरपेक्ष तथा कालक्रमानुसार विभेदीकरण तभी सम्भव होगा जबकि साहित्यिक तथा पौराणिक साक्ष्यों के बजाय दार्शनिक और धार्मिक विचारों को मानदण्ड बनाया जाये।[107] यह भी उल्लेखनीय है कि अन्तगडदसाओ तथा अणुत्तरोववाइय की मौलिक विषय सामग्री वर्तमान विषय सामग्री से बिल्कुल भिन्न थी।

अंग ग्रन्थ[108] गणधर कृत कहे जाते हैं, किन्तु उसमें सभी एक समान प्राचीन नहीं हैं। आचारांग के प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध भाव और भाषा में भिन्न हैं। प्रथम श्रुत स्कन्ध द्वितीय से ही नहीं किन्तु समस्त जैनवाङ्मय में सबसे प्राचीन अंश है। उसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन सर्वथा नहीं है, यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु उसमें नया सबसे कम मिलाया गया है, यह तो निश्चित ही कहा जा सकता है। वह भगवान का साक्षात उपदेश न हो, तब भी उसके अत्यन्त निकट तो है ही। इस स्थिति में उसे हम विक्रम पूर्व 300 के बाद की संकलना नहीं कह सकते। अधिक सम्भव है कि वह प्रथम वाचना की संकलना है। आचारांग का द्वितीय श्रुत स्कन्ध आचार्य भद्रबाहु की रचना होना चाहिए क्योंकि उसमें प्रथम की अपेक्षा भिक्षुओं के नियमोपनियम के वर्णन में विकसित भूमिका मिलती है। यह विक्रम पूर्व दो शताब्दी के बाद की रचना नहीं कही जा सकती। यही बात सामान्यत: सभी अंगों के विषय में कही जा सकती है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि समस्त साहित्य इस काल में ही लिख लिया गया और कुछ नहीं जोड़ा गया।[109]

स्थानांग जैसे अंग ग्रन्थ में वीर निर्वाण की छठी शताब्दी की घटना का भी उल्लेख है। भाषा में पंचतन्त्र की गति और विकास है। प्रश्न व्याकरण अंग का जैसा वर्णन नन्दि सूत्र में है उसे देखते हुए उपलब्ध प्रश्न व्याकरण अंग बाद की रचना प्रतीत होती है। वलभी वाचना के बाद कब यह अंग नष्ट हुआ और कब नवीन प्रक्षिप्त हुआ, जानने का कोई साधन नहीं है।

दसवां अंग परवर्ती है जिसने कि लुप्त अंग का स्थान ग्रहण किया है।[110] चौथे अंग को पूर्ववर्ती माना जा सकता है क्योंकि इसमें ब्राह्मी के अट्ठारह प्रकारों तथा उत्तराध्ययन के 36 अध्यायों की गणना है।[111] नन्दिसूत्र, जो कि पर्याप्त परवर्ती रचना है, की भी चर्चा है।[112] पांचवां अंग भी आरम्भिक या प्राचीन नहीं माना जा

सकता क्योंकि इसके कुछ भाग विस्तृत तथा परिष्कृत सूत्रबद्ध सिद्धान्त[113] प्रस्तुत करते हैं तथा ग्रन्थ में पन्नवणा, जीवाभिगम तथा नन्दिसूत्र की भी चर्चा है। यह भी सम्भव है कि बहुत से सम्वाद तथा वर्णन जो अपनी शैली में निकायों से मिलते हैं आगमों के आरम्भिक भागों से सम्बद्ध हों।[114]

तीसरा अंग अंगुत्तर निकाय से प्रत्यभिज्ञा रखता है, किन्तु अधिक योजनाबद्ध है। विशुद्ध दिखाई देने वाले सम्वाद मात्रा में कम हैं तथा संक्षिप्त एवं परिष्कृत सिद्धान्त अपनाये गये हैं।[115] एक स्थान पर राजकीय उपाधियों की सूची प्राप्त होती है जिससे प्रशासनिक व्यवस्था की ओर संकेत मिलता है जिसे कम-से-कम मौर्योत्तरीय कहा जा सकता है।[116]

उपांग के बारे में विचार क्रमानुगत हैं। श्रुबिंग अपने ग्रन्थ वोर्टे महावीरज पृ० 8 में कहते हैं कि मौलिक रूप में उपांग केवल पांच थे।[117] प्रज्ञापना का रचनाकाल निश्चित है। इसके कर्ता श्यामार्य थे। उनका दूसरा नाम कालकाचार्य निगोद व्याख्या था।[118] इनको वीरनिर्वाण सम्वत् 335 में युगप्रधान पद मिला था। वे इस पद पर 376 तक बने रहे। इस काल की रचना प्रज्ञापना है। अतएव यह रचना विक्रमपूर्व 135 से 94 के बीच की होनी चाहिए। शेष उपांगों के कर्ता के विषय में ज्ञात नहीं है। इनके कर्ता गणधर नहीं माने जाते अन्य स्थविर माने जाते हैं। यह सब किसी एक काल की रचना नहीं है। बारह उपांगों में से शायद पहले दो की सामग्री पुरानी है शेष दस की नहीं। पहले दो में से 'रायपसेनिज्ज' (राज प्रश्नीय) विशेषरूप से पुरानी परम्परा पर आधारित है, क्योंकि दीर्घनिकाय के पयेसिसुत को या तो इसका रूपान्तरण समझा जाये या वह इस स्रोत से लिया गया है।[119]

चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति का समावेश दिगम्बरों ने दृष्टिवाद के प्रथम भेद परिकर्म में किया है।[120] नन्दिसूत्र में भी उसका नामोल्लेख है। अतएव यह ग्रन्थ श्वेताम्बर-दिगम्बर के भेद से प्राचीन होना चाहिए। इनका समय विक्रम सम्वत् के आरम्भ से आगे नहीं है। शेष उपांगों के विषय में भी सामान्यत: यही कहा जा सकता है। उपलब्ध चन्द्रप्रज्ञप्ति में कोई विशेष भेद नहीं है। अत: सम्भव है कि मूल चन्द्रप्रज्ञप्ति विच्छिन्न हो गया हो। प्रकीर्णक जैसा कि नाम से ही निर्दिष्ट है विविध हैं। इनकी सूची वास्तव में अत्यन्त अनिश्चित है।[121]

प्रकीर्णकों की रचना के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि उनकी रचना समय-समय पर हुई। अन्तिम मर्यादा वालभी वाचना तक ही की जा सकती है।

अत: निश्चित है कि समस्त जैन सिद्धान्तों की रचना चौथी शताब्दी ई० पूर्व तक हो चुकी थी।[122] समस्त आगम संकलना दूसरी शताब्दी के अन्त अथवा चौथी शताब्दी के आरम्भ तक हो चुकी थी।[123]

द्वादश अंग और उपांग साहित्य का विवरण

अंग	उपांग	अंग	उपांग
1. आचारांग	औपपातिक	2. सूत्रकृतांग	राजप्रश्नीय
3. स्थानांग	जीवाभिगम	4. समवायांग	प्रज्ञापना
4. भगवती	जम्बूदीप प्रज्ञप्ति	6. ज्ञातधर्मकथा	सूर्यप्रज्ञप्ति
7. उपासक दशांग	चन्द्र प्रज्ञप्ति	8. अंतकृद्दशांग	कल्पिका
9. अनुत्तरोपपातिक	कल्पावतन्सिका	10. प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
11. विपाक	पुष्पचूलिका	12. दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

छेय संज्ञा कब से प्रचलित हुई और इसमें कौन से शास्त्र सम्मिलित थे यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। आवश्यक निर्युक्ति में सर्वप्रथम छेय शब्द मिलता है।[124] कुछ आचार्य छेय सूत्रों की संख्या चार मानते हैं—1. निशीथ, 2. महानिशीथ, 3. व्यवहार और 4. दशाश्रुत स्कंध। कुछ आचार्य महानिशीथ और जीतकल्प को मिलाकर छेय सूत्रों की संख्या छः मानते हैं और कुछ जीतकल्प के स्थान पर पंच कल्प को छेय सूत्र मानते हैं। विन्टरनित्स के अनुसार छेय सूत्रों में से केवल कल्प अपने पूरक व्यवहार तथा आधारदंशाओ के साथ आरम्भिक समझा जा सकता है।[125] आधारदंशाओ का आठवां भाग भद्रबाहु कृत कल्पसूत्र है जो कि विभिन्न अंगों से निर्मित ग्रन्थ है तथा उसमें सबसे रूचिकर विभाग जो कि महावीर के जीवन चरित से सम्बन्धित है अपनी शैली के कारण प्रारम्भिक नहीं कहा जा सकता।[126]

मूलसूत्रों की संख्या में भी एकरूपता नहीं है। कुछ आचार्य चार मूल सूत्र मानते हैं—1. दशवैकालिक, 2. उत्तराध्ययन, 3. नन्दी और 4. अनुयोग द्वार। कुछ विद्वान आवश्यक और ओघ निर्युक्ति को भी मूल सूत्रों में सम्मिलित करके उनकी संख्या छः मानते हैं। कुछ ओघ निर्युक्ति के स्थान पर पिण्ड निर्युक्ति को मूल सूत्र मानते हैं। बहुत से आचार्य नन्दी और अनुयोग द्वार को मूल सूत्र नहीं मानते। उनकी दृष्टि में ये दोनों चूलिका सूत्र हैं। इस तरह अंग बाह्य आगमों का विभिन्न समयों और रूपों में वर्गीकरण होता रहा है।

नन्दीसूत्र की रचना देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने की। इसमें आगम साहित्य का परिचय दिया गया है। नन्दीसूत्र में आगम साहित्य की सूची दी गयी है।

वर्गीकरण

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के साहित्य में समस्त जैन साहित्य का वर्गीकरण विषय की दृष्टि से चार भागों में किया गया है। वे चार विभाग हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। पुराणचरित आदि आख्यानग्रन्थ प्रथमानुयोग में गर्भित किये गये हैं। करण शब्द के दो अर्थ हैं—परिणाम और गणित के सूत्र। अत: खगोल और भूगोल का वर्णन करने वाले तथा जीव और कर्म के सम्बन्ध आदि के निरूपक कर्मसिद्धान्त विषयक ग्रन्थ करणानुयोग में लिए गये हैं। आचार सम्बन्धी साहित्य चरणानुयोग में आता है और द्रव्य गुण पर्याय आदि वस्तुस्वरूप के प्रतिपादकग्रन्थ द्रव्यानुयोग में आते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह अनुयोग विभाग आर्यरक्षित सूरि ने किया था। अन्तिम दस पूर्वी आर्य वज्र का स्वर्गवास वि०स० 114 में हुआ। उसके बाद आर्यरक्षित हुए। उन्होंने बाद में होने वाले अल्पबुद्धि शिष्यों का विचार करके आगमिक साहित्य को चार अनुयोगों में विभाजित कर दिया। जैसे ग्यारह अंगों को चरण-करणानुयोग में समाविष्ट किया, ऋषिभाषितों का समावेश धर्मकथनानुयोग में किया, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि को गणितानुयोग में रखा और बारहवें अंग दृष्टिवाद को द्रव्यानुयोग में रखा।

दिगम्बर परम्परा में जिसे प्रथमानुयोग नाम दिया है उसे ही श्वेताम्बर परम्परा में धर्मकथानुयोग कहा है और श्वेताम्बर परम्परा में जिसे गणितानुयोग संज्ञा दी गयी है उसका समावेश दिगम्बर परम्परा के करणानुयोग में होता है।

आचारांग सूत्र

आचारांग सूत्र श्रुत साहित्य का मुकुटमणि है। इसमें आचार का वर्णन है और आचार साधना का प्राण है, मुक्ति का मूल है। इसलिए आगम साहित्य के व्याख्याकारों ने इसे अंग साहित्य का सार, निचोड़ या नवनीत कह कर इसके महत्व को स्वीकार किया है।[127] भाषा शैली एवं विषय की दृष्टि से भी यह सब आगमों से प्राचीन है एवं महत्वपूर्ण प्रतीत होता है।[128] हरमन जैकोबी[129] और श्रुबिंग[130] जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसके महत्व को स्वीकार किया है। नन्दीसूत्र में बताया गया है कि आचारांग में निर्ग्रन्थों के आचार, गोचर, वैनयिक, शिक्षा, भाषा, अभाषा, चरण-करण, मात्रा तथा विविध अभिग्रह विषयक वृत्तियों एवं ज्ञानाचार आदि पांच प्रकार के आचारों पर प्रकाश डाला गया है।

आचारांग में आठ शुद्धि, तीन गुप्ति, पांच समिति रूपचर्या का कथन है।[131] मुनि को कैसे चलना चाहिए, कैसे बैठना चाहिए, कैसे सोना चाहिए, कैसे खड़ा

होना चाहिए, कैसे भोजन करना चाहिए और कैसे बोलना चाहिए आदि का इसमें विवरण है।[132] सचेलक परम्परा के समवायांग सूत्र में बताया गया है कि निर्ग्रन्थ सम्बन्धी आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, स्थान, गमन, चक्रमण, प्रमाण, योग-योजना, भाषा-समिति, गुप्ति, शैया, उपधि, आहार, पानी सम्बन्धी उद्गम, उत्पाद, एषणा विशुद्धि एवं शुद्धा-शुद्ध ग्रहण, व्रत, नियम, तप, उपधान, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार विषयक सुप्रशस्त विवेचन आचारांग में उपलब्ध हैं।

अचेलक परम्परा के राजवार्तिक, धवला, जयधवला, गोमट्टसार, अंगपण्णत्ति आदि ग्रन्थों में बताया गया है कि आचारांग में मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि तथा ईर्या शुद्धि का विधान है। इसमें अठारह हजार पद थे। वर्तमान श्वेताम्बर आगम में दो श्रुत स्कन्ध हैं। सभी सर्वसम्मति से स्वीकार करते हैं कि सुधर्मास्वामी जो कि महावीर के पांचवें गणधर थे, प्रथम श्रुतस्कन्ध के कर्ता हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रणेता के विषय में अनेक मत हैं। आचारांगसूत्र की निर्युक्ति में भद्रबाहुस्वामी कहते हैं कि आचारांग के कर्ता स्थविर थे। चूर्णिकार के अनुसार स्थविर का आशय यहां गणधर ही से लेना चाहिए। आचारांगवृत्ति के लेखक शीलाचार्य स्थविर का अर्थ चौदहपूर्वो के ज्ञाता से करते हैं।[133]

प्रथम श्रुतस्कन्ध

इसमें नौ अध्याय हैं जो अध्ययन कहलाते हैं। इस कारण यह नवब्रह्मचर्य कहलाता है किन्तु अब केवल इसमें आठ ही अध्ययन उपलब्ध हैं। महापरिण्णा नामक अध्याय अब लुप्त हो गया है।[134] किन्तु शीलांक जैसे टीकाकार का कथन है कि मूल में केवल 7 ही अध्ययन थे जिनमें यतिजीवन का वर्णन था।[135] महापरिण्णा आठवां अध्ययन था क्योंकि महापरिण्णा का अपेक्षाकृत कम महत्व होने के कारण ही लोप हो गया है।[136] यह बम्मचेरिय या ब्रह्मचर्य अध्ययन कहलाता है। ब्रह्म का अर्थ है संयम और चर्या का अर्थ है आचरण करना। आगम साहित्य में अहिंसा और समत्व भाव की साधना का उपदेश दिया गया है। इसके प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र-परिज्ञा है। इस अध्ययन में भगवान ने नि:शस्त्रीकरण का उपदेश दिया है। उन्होंने साधना पथ पर गतिशील साधक को द्रव्य और भाव तलवार आदि द्रव्य शस्त्रों के परित्याग की बात कही है। प्रथम अध्ययन के सात उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में समुच्चय रूप से जीव हिंसा से विरत होने का उपदेश दिया है। शेष छ: उद्देशकों में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति और त्रस काय के जीवों का परिज्ञान कराया है। साधक को यह बोध कराया गया है कि इन योनियों में वह स्वयं उत्पन्न होता आया है। जगत् के सभी जीवों में चेतना शक्ति विद्यमान है, सुख-

दु:ख की चेतना विद्यमान है। किसी तरह के शस्त्र द्वारा उनका वध नहीं करना चाहिए, उन्हें ताप-परिताप नहीं देना चाहिए, उन्हें बन्धन में नही बांधना चाहिए।[137]

द्वितीय अध्ययन का नाम लोकविजय है। यह छ: उद्देशकों में विभक्त है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार से जीव संसार में आबद्ध होता है। इसके छ: उद्देश्यों में क्रमश: यह भाव बताये गये हैं—1. स्वजन स्नेहियों के साथ निहित रागभाव एवं आसक्ति का परित्याग करना, 2. संयम साधना में प्रविष्ट होने वाले साधक को शिथिलता का परित्याग करना, 3. अभिमान और धन-सम्पत्ति में सार दृष्टि नहीं रखना, 4. लोक के आश्रय से संयम का निर्वाह होने पर भी लोक में ममत्व भाव नहीं रखना। लोक दो प्रकार का है—1. द्रव्य लोक और 2. भाव लोक। जिस क्षेत्र में मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, नारक रहते हैं वह द्रव्य लोक है। कषायों को भावलोक कहते हैं। विषय कषाय पर विजय पाने वाला साधक ही सच्चा विजेता है।

तृतीय अध्ययन का नाम शीतोष्णीय है। जिसका अर्थ है अनुकूल और प्रतिकूल परिषह। स्त्री और सत्कार परिषह को शीत और शेष बीस परिषहों को उष्ण कहा है। साधना के बाद में कभी अनुकूल परिषह उत्पन्न होते हैं तो कभी प्रतिकूल परिषह। साधु को इन्हें समत्वपूर्वक सहना चाहिए। परिषहों के उत्पन्न होने के बाद साधक साधना क्षेत्र से पलायन न करे अपितु धैर्यपूर्वक सहते हुए संयम का पालन करे। यह चार उद्देशकों में विभक्त है। इसमें साधक को सदा जागते रहने का उपदेश दिया है।[138] महावीर का घोष है कि सुषुप्त साधक मुनि नहीं है क्योंकि मुनि सदा सर्वदा जाग्रत रहता है।[139] वह कभी भी भावनिद्रा में नहीं रहता। प्रमाद और आलस्य में निमज्जित नहीं होता।

चतुर्थ अध्ययन का नाम सम्यकत्व है। इसके चार उद्देशक हैं। सम्यकत्व का अर्थ है—श्रद्धा, निष्ठा और विश्वास। प्रश्न उठता है कि साधक किस पर श्रद्धा करे। इस अध्ययन में बताया गया है कि अतीत, अनागत एवं वर्तमान में होने वाले समस्त तीर्थंकरों का एक ही उपदेश रहा है कि सर्वप्राण, सर्वभूत, सर्वजीव और सर्वसत्व की हिंसा मत करो, उन्हें पीड़ा एवं सन्ताप-परिताप मत दो। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है।[140]

पंचम अध्याय लोकसार है। वस्तुत: लोक में सारभूत तत्व है तो केवल धर्म ही है। धर्म का सार ज्ञान है। ज्ञान का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण है। प्रस्तुत अध्ययन के छ: उद्देशकों में इसी बात का विस्तृत विवेचन है।

षष्टम अध्ययन का नाम धूत है। इसके पांच उद्देशक हैं। धूत का अर्थ है—वस्तु पर लगे हुए मैल को साफ करके वस्तु को साफ रखना। प्रस्तुत अध्ययन में तप संयम के द्वारा आत्मा पर लगे कर्म मल को दूर करके आत्मा को शुद्ध करने की विधि बतायी है। छठे अध्ययन के चौथे उद्देशक में इस प्रकार से शिष्यों को

उद्दिष्ट करके बताया गया है कि जिस प्रकार पक्षी के बच्चे को उसकी माता दाने दे-दे कर बड़ा करती है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने शिष्यों को दिन-रात अध्ययन कराते हैं।[141]

सप्तम अध्ययन का नाम पहापरिज्ञा है। इसके सात उद्देशक हैं। आचार्य शीलांक का कहना है कि इसमें मोह के कारण उत्पन्न होने वाले परीषहों से बचने एवं जन्त्र-मन्त्र से बचकर रहने का उपदेश दिया गया है। वर्तमान में यह अध्ययन उपलब्ध ही नहीं है।

जैन श्रमणों का अन्य श्रमणों के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध रहता था यह भी जानने योग्य है। आठवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक में बताया गया है कि समनोज्ञ समान आचार विचार वाला भिक्षु असमनोज्ञ भिन्न आचार वाले को भोजन, पानी, वस्त्र, पात्र व कम्बल और पाद पुंछण न दे। इसके लिए उसे आमन्त्रित न करे, आदरपूर्वक सेवा न करे और सेवा न करावे। जैन श्रमणों में अन्य श्रमणों के संसर्ग से किसी प्रकार की आचार विचार विषयक शिथिलता न आ जाये, इसी दृष्टि से यह विधान है।[142]

अष्टम अध्ययन विमोक्ष आठ उद्देशकों में विभक्त है। इसमें कल्प्य-अकल्प्य वस्तुओं का वर्णन किया गया है और समान आचार वाले साधु की आहार पानी से सेवा करने और असमान आचरण वाले की सेवा न करने का उपदेश दिया गया है। इसमें साधक श्रमण के खानपान तथा वस्त्र पात्र के विषय में भी चर्चा है। इसमें उसके निवास स्थान का भी विचार किया गया है। साथ ही अचेलक यथा—ज्ञातृ श्रमण तथा उनकी मनोवृत्ति का निरूपण है। इस प्रकार एक वस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी तथा त्रिवस्त्रधारी भिक्षुओं और उनके कर्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है।[143]

नवम् अध्ययन के चार उद्देशक हैं, जिसमें एक भी सूत्र नहीं है। गाथाओं में भगवान महावीर की साधना का वर्णन है।[144] आचारांग के प्रथम श्रुत स्कन्ध में अचेलक अर्थात् वस्त्र रहित भिक्षु के विषय में तो उल्लेख आता है किन्तु करपात्री अर्थात् पाणिपात्री भिक्षु के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता।[145]

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

इसे अग्र तथा आचाराग्र भी कहा जाता है।[146] विन्टरनित्स के अनुसार द्वितीय श्रुतस्कन्ध में कुछ भाग संलग्न किये गये हैं अत: यह परवर्ती है।[147] इसमें चार चूलिकाएं और सोलह अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन के ग्यारह, द्वितीय के तीन, चतुर्थ से लेकर सप्तम् अध्ययन के दो-दो और शेष नौ अध्ययनों में एक-एक उद्देशक हैं।[148] यह पांच चूलिकाओं में विभक्त है जिसमें आचार प्रकल्प अथवा निशीथ नामक पंचम चूलिका आचारांग से अलग होकर स्वतन्त्र ग्रन्थ बन गई है।

अत: वर्तमान में द्वितीय श्रुत स्कन्ध में केवल चार चूलिकाएं हैं।[149] आचारांग चूर्णि के चूर्णिकार तथा शीलांकाचार्य दोनों ने केवल इसकी चार चूलाओं तक ही भाष्य लिखा है। प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा है। इसमें बताया गया है कि साधु को किस प्रकार का आहार लेना चाहिए और आहार के कितने दोष हैं। साधु इन दोषों से रहित आहार ग्रहण करे। इस अध्ययन में कुछ अपवादों का उल्लेख है। जैसे यदि दुर्भिक्ष आदि के अवसर पर गृहपति ने मुनि को आहार दिया और अपने द्वार पर खड़े अनेक भिक्षुओं को देखकर कहा कि तुम यह सब आहार साथ बैठकर खा लेना। जैन साधु अन्य सम्प्रदाय के साधुओं को आहार नहीं देते न उसके साथ बैठकर खाते हैं। परन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दसवें उद्देशक में यह स्पष्ट आदेश दिया गया है कि ऐसे अपवाद मार्ग में साधु यदि सब भिक्षु चाहें तो साथ बैठकर खा लें। तब जैन श्रमण सबके साथ भोजन कर सकता है। यदि वे अपना भाग चाहते हों तो, सबको बराबर भाग दे दे। इसमें अन्य अपवादों का भी उल्लेख है और उसे उत्कर्ष की तरह माना है, उन्मार्ग नहीं। अपवादों के लिए आगम में कहीं भी प्रायश्चित का विधान नहीं है।

दूसरे अध्ययन में शय्या के सम्बन्ध में, तीसरे में ईर्या, चौथे में भाषा, पांचवें में वस्त्र, छठे में पात्र, सातवें में मकान, आठवें में खड़े रहने के स्थान, नौवें में स्वाध्याय, दसवें में मलमूत्र त्यागने की भूमि के विषय में आदेश है कि उनमें दोष से बचना चाहिए। चतुर्थ अध्ययन में बताया है कि साधु ने विहार करते समय जंगल में मृग को जाते हुए देखा हो और उसके निकल जाने के बाद शिकारी जा पहुंचे और मुनि से पूछे कि मृग किधर गया है, उस समय मुनि मौन रहे। यदि शिकारी के विवश करने पर बोलना पड़े तो जानते हुए भी कहे कि मैं नहीं जानता 'जाणं वा णाजाणंति वदेजा' क्योंकि निर्दोष की प्राणरक्षा सत्य वचन की रक्षा है, अधिक मूल्यवान है।

ग्यारहवें और बारहवें अध्ययन में शब्द की मधुरता एवं सौन्दर्य में आसक्त नहीं होने का उपदेश दिया गया है। तेरहवें अध्ययन में बताया गया है कि दूसरे व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रिया में मुनि को किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। चौदहवें अध्ययन में बताया गया है कि मुनियों में परस्पर होने वाली क्रियाओं में उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए। पन्द्रहवें अध्ययन में महावीर के जीवन और पच्चीस भावनाओं का वर्णन है। सोलहवें अध्ययन में हितप्रद शिक्षा दी गयी है।

डा० जैकोबी,[150] विन्टरनित्स[151] आदि का मत है कि प्रथम श्रुत स्कन्ध दूसरे से प्राचीन है, तथापि पहले में विरुद्ध जातीय तत्वों को एकत्र करने का प्रयास किया गया है। सूत्र गद्य-रूप भी है और पद्य-रूप भी है जैसा कि बौद्ध साहित्य में प्राय: पाया जाता है। कभी दूर तक गद्यात्मक सूत्र चले गये हैं, तो कभी गद्य-

पद्यात्मक और कभी पद्यात्मक।[152] दूसरे श्रुत स्कन्ध में मुनि सम्बन्धी आचारों का ही विशेष रूप से कथन है। विन्टरनित्स का कथन है कि दूसरा श्रुत स्कन्ध प्रथम से बहुत अर्वाचीन है।[153] यह बात उसकी चूला से प्रकट होती है। प्रथम दो चूलाओं में साधु और साध्वियों के दैनिक आचार का कथन है। तीसरी चूला में महावीर की जीवनी है। स्कन्ध के अन्त में बारह पद्य हैं। जिनमें वर्णित विषय बौद्ध थेर गाथाओं का स्मरण कराते हैं। आचार सूत्र पर निर्युक्ति है जिसे भद्रबाहु कृत कहा जाता है। एक चूर्णि और 976 ई० में लिखी हुई शीलांक की टीका है। आचारांग को सामायिक के नाम से जाना जाता है।[154]

सूत्रकृतांग

सूत्रकृतांग ज्ञान, विनय, प्रज्ञापना, कल्प्या-कल्प्य, छेदोपस्थापना तथा व्यवहार धर्म का कथन करता है।[155] साथ ही स्व समय का पर समय का, स्त्री सम्बन्धी परिमाण का, क्लीवत्व, अस्फुटत्व, कामावेश, विलास, रतिसुख और पुरुष की इच्छा करना आदि स्त्री के लक्षणों का कथन करता है।[156] एक सौ अस्सी क्रियावादी, चौरासी अक्रियावादी, सड़स अज्ञानवादी और बत्तीस वैनयिकवादी, इस तरह तीन सौ तिरेसठ मतों का खण्डन करके स्व समय की स्थापना करता है। इसमें छत्तीस हजार पद हैं।[157] वर्तमान सूत्रकृतांग में दो श्रुतस्कन्ध हैं—सूत्रकृतांग में द्रव्यानुयोग का निरूपण किया गया है। विश्व में वर्णित विविध दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं का इसमें उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि एकान्तपक्ष मिथ्या है और अनेकान्तपक्ष ही सत्य और युक्तिसंगत है।

आचारांग में मुख्यतया अहिंसा का निरूपण है तो सूत्रकृतांग में अपरिग्रह का महत्व बताया गया है। परिग्रह का बन्धन सबसे कठोर बन्धन है। इसे तोड़ने के लिए सूत्र के आरम्भ में कहा गया है—

बुज्झिज्जति तिउटिटज्जा बन्धण परिजाणिया।
किमाह बंधण वीरो किं वा जाणं तिउट्टई।।[158]

अर्थात् बोध प्राप्त करना चाहिए और परिग्रह को बन्धन जानकर उसे तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी गाथा में ज्ञान और क्रिया का सामंजस्य प्रदर्शित किया गया है। विश्व में प्रचलित एकान्तवादी दर्शनों में से कोई दर्शन ज्ञान को ही महत्व देते हैं, क्रिया नहीं तो कोई दर्शन क्रिया को महत्व देते हुए ज्ञान का अपलाप करते हैं। दोनों ही मान्यताएं एकान्त और अपूर्ण हैं।

हयं नावां कियाहीणं, इया अण्णाणो किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, घावमाणो अ अंध ओ।।

अर्थात् क्रिया से रहित ज्ञान निष्फल है और ज्ञान रहित क्रिया भी अर्थ साधिका नहीं होती है। जिस प्रकार जंगल में दावानल लगने पर पंगु देखता हुआ भी चलने में असमर्थ होने से तथा दृष्टिवान पंगु होने के कारण चल जाता है। यदि दोनों समझौता कर लें तो दावानल से बचकर सुरक्षित स्थान पर पहुंच सकते हैं। कहा गया है—ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः।।

द्वितीयादि उद्देश्य में आत्मा के अस्तित्व का सुन्दर निरूपण किया है। आत्मा का अपलाप करने वाले चार्वाक दर्शन का सुन्दर युक्तियों से खण्डन करके आत्मा की सिद्धि की गयी है। आत्मा-द्वैतवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, आकारकवाद का उल्लेख करके विविध तर्कों द्वारा इनका युक्तियुक्त खण्डन किया गया है। बौद्ध दर्शन के एकान्तवाद, क्षणिकवाद, नियतिवाद, क्रियावाद, जगतकर्तृत्ववाद और त्रैराशिक मत इत्यादि का उल्लेख करके इनका खण्डन किया गया है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध

प्रथम श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययन हैं। शीलांक ने इसे संस्कृत में गाथा-षोडषक नाम दिया है।[159] पहला समयाख्य अध्ययन है। इसमें स्वमत और परमत का वर्णन है। इसमें पंचमहाभूतवादी, आत्माद्वैतवादी, तज्जीव-तच्छारीरवादी आत्मा और शरीर को एक मानने वाले, अक्रियावादी, आत्म-षष्टवादी, क्षणिकवादी, विनयवादी, नियतिवादी, लोकवादी आदि परमत मतान्तरों के सैद्धान्तिक एवं आचार सम्बन्धी दोषों एवं भूलों को बताकर अपने सिद्धान्त की प्ररूपणा की है।

दूसरा वैतालिय अध्ययन है। इसमें हितप्रद और अहितप्रद मार्ग बताया गया है। साधक को हिंसा आदि दोषों से युक्त मार्ग और कषाय भाव का त्याग करके शुद्ध संयम की साधना करनी चाहिए। ''संबुज्मड़ किं न बुज्झइ समझो, क्यों नहीं समझते हो'' कह कर जीवों को बड़ा मार्मिक उपदेश दिया गया है। भगवान ऋषभदेव के अट्ठानवें पुत्र अपने ज्येष्ठभाई भरत द्वारा उपेक्षा किये जाने पर भगवान की शरण में गये तब आदिनाथ भगवान ने उनको जो उपदेश दिया वह यहां संकलित है। इस अध्ययन में विषय भोगों की असारता का मार्मिक चित्रण करके अहंकार के परित्याग का उपदेश दिया गया है। संसार का राज्य वैभव त्राणरूप नहीं है। केवल सद्धर्म की शरण ही त्राणरूप है। यही इस अध्ययन का सार है।

तीसरे अध्ययन का नाम उपसर्गपरिज्ञा है। इसमें यह उपदेश दिया गया है कि

साधक को अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को सहना चाहिए। माता-पिता और स्नेही परिजनों के राग भाव और विलास आदि से विकम्पित होकर साधना पथ का त्याग नहीं करना चाहिए। उपसर्ग से होने वाले आध्यात्मिक एवं मानसिक विषाद और कुशास्त्रों के कुतर्कों से त्रस्त होकर संयम साधना से भ्रष्ट नहीं होना चाहिए।

चतुर्थ अध्ययन स्त्री-परिज्ञा है। साधक को स्त्री-विषयवासना के व्यामोह में नहीं फंसना चाहिए। जो साधक भोग विलास की आसक्ति में आकर अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है, वह सदा दु:ख पाता है।

पांचवें अध्ययन का नाम नरक विभक्ति है। इसमें नरक और नारकीय जीवन का वर्णन है। नरक में प्राप्त होने वाली वेदना एवं दु:खों को देख समझ कर साधक परधर्म एवं सांसारिक विषय कषायों का त्याग करके स्वधर्म स्वीकार करे।

छठा वीर स्तुति अध्ययन है। इसमें गणधर सुधर्मा स्वामी ने श्रमण भगवान महावीर की स्तुति की है, उनका गुणकीर्तन किया है।

सातवां कुशील परिभाषा अध्ययन है। इसमें शुद्ध आचार के विपरीत यज्ञ-याग, स्नान, पंचाग्नि आदि कुशील को धर्म मानने का निषेध किया है। इनमें धर्म मानने वाले संसार में परिभ्रमण करते हैं।

आठवां अध्ययन वीर्य अध्ययन है। इसमें बल, शक्ति एवं पराक्रम पुरुषार्थ का वर्णन है।

नौवें, दसवें और ग्यारहवें अध्ययन में क्रमश: धर्म, समाधि और मोक्ष-मार्ग का वर्णन है। इसमें इन्द्रियों के विषय एवं कषाय भाव का त्याग करके आत्म धर्म में रमण करने का उपदेश दिया है। 11वें में ज्ञान, दर्शन, चरित्र-रत्नत्रय को मोक्ष मार्ग कहा है।

बारहवां समवसरण अध्ययन है। इसमें क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी परमत के दोषों को दिखाकर स्वदर्शन के सिद्धान्त को समझाया है।

तेरहवें से पन्द्रहवें तक के तीन अध्ययनों में क्रमश: तथ्य-धर्म के यथार्थ स्वरूप और पार्श्वस्थ साधुओं के स्वरूप, ग्रन्थपरित्याग-परिग्रह के त्याग और आदान समिति का वर्णन है। शुद्धाचारी धर्मोपदेशक, स्वच्छंदाचारी अविनीत के लक्षणों का वर्णन इस अध्ययन में है।

चौदहवें अध्ययन में एकल विहार के दोष, हित शिक्षा का ग्रहण व पालन तथा धर्मकक्षा की रीति बताई है।

आदानीय नामक पन्द्रहवें अध्ययन में श्रद्धा, दया, धर्म और दृढ़ता से मोक्ष की साधना होने का निरूपण है।

सोलहवें अध्याय का नाम गाथा है। इसमें ब्राह्मण, श्रमण निर्ग्रन्थ और भिक्षु *इन चारों का विस्तार से वर्णन किया गया है।*

विन्टरनित्स के अनुसार दोनों श्रुतों के कर्ता एक नहीं हैं तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध से प्रथम, प्राचीन और मौलिक है। प्रथम श्रुतस्कन्ध गणधर कृत है और द्वितीय स्थविर कृत। द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रक्षिप्त है।[160]

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

प्रथम अध्ययन पौंडरीक है। इसमें बताया गया है कि क्रियावादी, अक्रियावादी विनय वादी और अज्ञानवादी मुक्ति को प्राप्त करने का संकल्प करते हैं, परन्तु वे संसार से विरक्त होकर संयम का पालन नहीं करते, काम भागों में लिप्त रहते हैं। अत: वे विषयभोग से छटकारा नहीं पा सकते। पुण्डरीक श्वेतकमल है जो सुसंयमी साधक का प्रतीक है। जो साधक आरम्भ-परिग्रह से मुक्त हैं, विषय कषाय का परित्याग कर चुका है और काम भोगों को संसार का कारण समझता है, वही शुद्ध संयम का पालन करके मुक्ति को प्राप्त करता है।

दूसरा अध्ययन क्रिया स्थान है। जहां इच्छा है वहीं कषाय है, जहां कषाय है वहीं संसार है। साधक को वीतराग भाव प्राप्त करना चाहिए। कषायभाव ही मोक्ष है।

तीसरा अध्ययन आहार परिज्ञा है। इसमें शुद्ध एषणीय आहार ग्रहण करने का वर्णन किया गया है।

चौथा प्रत्याख्यान परिज्ञा अध्ययन है। इसमें बताया गया है कि जब तक व्यक्ति किसी क्रिया का त्याग नहीं करता तब तक उसे सब क्रियाएं लगती हैं। अत: उसे क्रिया से होने वाले कर्म बन्ध एवं संसार परिभ्रमण का ज्ञान करके सांसारिक क्रियाओं का त्याग करना चाहिए।

पांचवां आचार-अनाचार श्रुत अध्ययन है। इसमें शुद्ध आचार और इसमें लगने वाले अनाचारों दोनों का वर्णन है। साधक को अनाचारों से रहित शुद्ध-निर्दोष आचार का पालन करना चाहिए।

छठा आर्द्रकीय अध्ययन है। इसमें अन्य दार्शनिकों एवं अन्य धर्म आचार्यों तथा साधुओं के साथ आर्द्रक कुमार की विचार चर्चा हुई है।

सातवें नालन्दीय अध्ययन में श्रावक-गृहस्थ के आचार का वर्णन है। इसमें गृहस्थ जीवन का आदर्श बताया गया है। प्रो० विन्टरनित्स का कहना है कि श्रुत स्कन्धों में से प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन है और दूसरा श्रुतस्कन्ध केवल एक परिशिष्ट है जो बाद में जोड़ दिया गया है। यह सम्भव है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध एक ही व्यक्ति के द्वारा रचा गया हो। उससे भी अधिक सम्भव यह है कि किसी संग्राहक ने एक पुस्तक का रूप देने के लिए विभिन्न पद्यों और उपदेशों को एक प्रकरण रूप में संयुक्त कर दिया हो। इसके विपरीत दूसरा श्रुतस्कन्ध गद्य में लिखा गया

है। यह केवल एक परिशिष्टों का पिण्ड है। भारत के धार्मिक सम्प्रदायों का ज्ञान कराने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।[161] इस अंग पर एक निर्युक्ति, चूर्णि तथा शीलांक की संस्तुत टीका है। इस अंग का जर्मन भाषा में अनुवाद डा० जैकोबी ने किया है जिसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।[162]

उत्तराध्ययन मूलसूत्र

यह मूलवर्ग के अन्तर्गत परिगणित होता है। चूर्णिकालीन श्रुतपुरुष की स्थापना के अनुसार मूल स्थानीय चरण स्थानीय दो सूत्र हैं—1. आचारांग और 2. सूत्रकृतांग। परन्तु जिस समय पैंतालीस आगमों की कल्पना स्थिर हुई उस समय श्रुतपुरुष की स्थापना में भी परिवर्तन हुआ और श्रुतपुरुष की अर्वाचीन प्रतिकृतियों में दशवैकालिक और उत्तराध्ययन ये दो सूत्र चरणस्थानीय माने जाने लगे।

उत्तराध्ययन जैन परम्परा की गीता है। उत्तराध्ययन विभिन्न आध्यात्मिक, नैतिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों का बड़ी गहराई से अध्ययन करता है। उत्तर शब्द के दो अर्थ होते हैं—पश्चात् और किसी प्रश्न और जिज्ञासा का उत्तर। उत्तराध्ययन निर्युक्ति के अनुसार इसका अध्ययन और पठन आचारांग के पश्चात् होता था इसलिए इसे उत्तराध्ययन कहते हैं। दूसरी परम्परा के अनुसार भगवान महावीर ने अपने निर्वाण से पूर्व अन्तिम वर्षावास में छत्तीस प्रश्नों का बिना पूछे उत्तर दिया था, उत्तराध्ययन उसी का सूचक है।[163]

रचनाकाल

निर्युक्तिकार के अनुसार उत्तराध्ययन किसी एक कर्ता की कृति नहीं है। कर्तृत्व की दृष्टि से इसके अध्ययन चार वर्गों में विभक्त होते हैं। जैसे—1. अंग प्रभव—दूसरा अध्ययन 2. जिन-भाषित-दसवां अध्ययन, 3. प्रत्येक बुद्ध भाषित-आठवां अध्ययन और 4. संवाद-समुत्थित-नौवां तथा तेईसवां अध्ययन।

इस सूत्र के अध्ययन कब और किसके द्वारा रचे गये उसकी प्रमाणिक जानकारी के लिए साधनसामग्री सुलभ नहीं है।

कई विद्वान ऐसा मानते हैं कि उत्तराध्ययन के पहले अठारह अध्ययन प्राचीन है और उत्तरवर्ती अठारह अध्ययन अर्वाचीन है। किन्तु इस मत की पुष्टि के लिए कोई पुष्ट साक्ष्य प्राप्त नहीं है। यह सत्य है कि कई अध्ययन प्राचीन है और कई अर्वाचीन।[164]

इसमें छत्तीस[165] अध्ययन हैं। चौथे अंग में इनके नाम आये हैं। ये वर्तमान उत्तराध्ययन के नामों से प्रायः मिलते-जुलते हैं। कार्पेन्टियर का विचार है कि

जैनागमों के वस्तुत: प्राचीन ग्रन्थ आचारांग, सूत्रकृतांग तथा उत्तराध्ययन हैं, क्योंकि इनमें अध्यात्मिक तथा दार्शनिक व्याख्याएं विरली ही मिलती हैं जैसा कि परवर्ती आगमों के गद्य भाग में मिलती हैं।[166] डा० विन्टरनित्स का कहना है कि वर्तमान उत्तराध्ययन अनेक प्रकरणों का एक संकलन है और वे विभिन्न प्रकरण विभिन्न समयों में रचे गये थे।[167] उनकी मान्यता है कि उत्तराध्ययन के प्रथम तेईस अध्याय बाद के अध्यायों की नींव हैं।[168] प्रस्तुत आगम के वर्णन को देखते हुए ऐसा लगता है कि स्थविरों ने इसका बाद में संग्रह किया है। कुछ अध्ययन ऐसे हैं जिनमें प्रत्येक बुद्ध एवं अन्य विशिष्ट श्रमणों के द्वारा दिये गये उपदेश एवं संवाद का संग्रह है। आचार्य भद्रबाहु ने इस बात को स्वीकार किया है कि इसके कुछ अध्ययन अंग साहित्य से लिए गये हैं, कुछ जिन भाषित हैं और कुछ प्रत्येक बुद्धश्रमणों के सम्वाद रूप में हैं। उसका प्राचीनतम भाग वे मूल्यवान पद्य हैं जो प्राचीन भारत की श्रमण काव्य शैली से सम्बन्धित है और जिनके सदृश पद्य अंशत: बौद्ध साहित्य[169] में भी पाये जाते हैं। ये पद्य हमें बलात् सुत्तनिपात के पद्यों का स्मरण करा देते हैं।

विनय नामक प्रथम अध्ययन में बुद्ध शब्द आता है यथा कठोर अथवा मिष्ट वचन से जो मुझे शिक्षा देते हैं अपना लाभ मानकर उसे प्रयत्नपूर्वक सुनना चाहिए।[170]

परीषह नामक दूसरा अध्ययन—सूयं में आउसं। तेण भगवया एवमकसायं, वाक्य से आरम्भ होता है। इसमें बाईस परीषहों का कथन पद्य में है। तृण परीषह का वर्णन करते हुए लिखा है कि[171] अचेल, रुक्ष, तपस्वी, संयमी तृणों पर सोता है। अत: उसका शरीर विर्दीण होता है तथा घाम का भी कष्ट होता है। किन्तु तृण परीषह से पीड़ित होने पर भी साधु वस्त्र ग्रहण नहीं करते।

तीसरे चतुरंगीय अध्ययन में चार वस्तुओं को उत्तरोत्तर दुर्लभ बतलाया है। प्रथम नरजन्म, दूसरे धर्मश्रवण, तीसरे श्रद्धा और चौथे अपनी शक्ति को संयम से लगाना।

चौथे, असंस्कृत नामक अध्ययन में कहा है कि जीवन असंस्करणीय है। इसे बढ़ाया नहीं जा सकता और वृद्धावस्था आने पर रक्षा का कोई उपाय नहीं है। अत: प्रमाद मत करो।

पांचवें, अकाममरण नामक अध्ययन में अकाममरण और सकाममरण का वर्णन है।

छठे क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय नामक अध्ययन में साधु के सामान्य आचार का कथन है। अन्तिम वाक्य में कहा कि अनुचर ज्ञान दर्शन के धरी ज्ञातृ पुत्र भगवान वैशालिक (विशाला के पुत्र) महावीर ने ऐसा कहा।[172]

सातवें, औरभ्रीय नामक अध्ययन में पांच दृष्टान्तों द्वारा निर्ग्रन्थों का उद्‌बोधन

किया है। वे पांच दृष्टान्त हैं - मेढा, काकिनी, आम्रफल, व्यापार और समुद्र।

आठवें, कापिलीय नामक अध्ययन में कपिल मुनि ने केवल ज्ञानी होकर चोरों को समझाने के लिए जो उपदेश दिया उसका संकलन है।

नवें, नमि-प्रव्रज्या नामक अध्ययन में नमि नामक प्रत्येक बुद्ध राजा की दीक्षा का वर्णन है। मिथिला का राजा नमि काम भोगों से विरक्त होकर जिन दीक्षा लेता है और इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर उससे प्रश्न करता है। अन्त में, राजा के वैराग्यपूर्ण उत्तरों से सन्तुष्ट होकर इन्द्र नमस्कार करके चला जाता है। मिथिला का राजा नमि ऐतिहासिक व्यक्ति है। यह पार्श्वनाथ का समकालीन था।

दसवें, द्रुमपत्रक नामक अध्ययन में महावीर स्वामी गौतम गणधर से कहते हैं कि जैसे वृक्ष का पत्ता पीला होकर झड़ जाता है वैसा ही मानव जीवन है। अत: गौतम एक क्षण के लिए भी प्रमाद मत कर।

ग्यारहवें, बहुश्रुत नामक अध्ययन के आरम्भिक पद में कहा गया है कि संयोग से मुक्त अनगार भिक्षु के आचार का कथन करूंगा उसे सुनो।'

बारहबें, हरिकेशीय नामक अध्ययन में हरिकेशी मुनि की कथा है। हरिकेशी जन्म से चाण्डाल था। एक दिन भिक्षा के लिए वह एक यज्ञमण्डप में चला गया। वहां ब्राह्मणों से वार्तालाप हुआ। ब्राह्मणों ने उसे वहां से चले जाने के लिए कहा। वह नहीं गया तो कुछ तरुण विद्यार्थियों ने उसको मारा। तब यक्षों ने उन कुमारों को पीटा। हरिकेशी से क्षमायाचना करने पर छोड़ा।

चित्र-सम्भूतीय नामक तेरहवें अध्ययन में चित्र और सम्भूति नामक दो मुनियों का वृत्तान्त है।

इषुकारीय नामक चौदहवें, अध्ययन में बतलाया गया है कि एक ही विमान से च्युत होकर छ: जीवों ने अपने-अपने कर्म के अनुसार इषुकार नामक नगर में जन्म लिया और जिनेन्द्र के मार्ग को अपनाया।

सभिक्षु नामक पन्द्रहवें अध्ययन में भिक्षु का स्वरूप बतलाया है। प्रत्येक पद्य के अन्त में 'स भिक्खु' (वह भिक्षु है) पद आता है। इसी से इस अध्ययन का नाम सभिक्षु है।

सोलहवें, ब्रह्मचर्य समाधि नामक अध्ययन में ब्रह्मचर्य के दस समाधि स्थानों का कथन है। तत्पश्चात् श्लोकों के द्वारा उन्हीं का प्रतिपादन है।

सत्रहवें पापश्रमण नामक अध्ययन में पापाचारी श्रमणों का स्वरूप बतलाया है।

अट्ठारहवें अध्ययन में संयतीय अध्ययन में संजय राजा की कथा है।

उन्नीसवें, मृगापुत्रीय अध्ययन में मृगापुत्र की कथा है।

बीसवें, महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन में एक मुनि की कथा है।

इक्कीसवें, समुद्रपालीय अध्ययन में समुद्रपाल की कथा है।

बाईसवें, रथनेमीय अध्ययन में रथनेमि की कथा है। रथनेमि नेमिनाथ का

छोटा भाई था और प्रव्रजित हो गया था। एक दिन साध्वी राजुल वर्षा से त्रस्त होकर एक गुफा में चली गई और वस्त्र उतार कर सुखाने लगी। उसी गुफा में रथनेमि तपस्या कर रहा था। वह राजुल को देखकर उस पर आसक्त हो गया। राजुल ने उसे सम्बोधि के सुमार्ग पर लगाया।

तेईसवें, केशिगौतमीय अध्ययन में पार्श्वनाथ परम्परा के केशी और गौतम गणधर के सम्वाद का वर्णन है। पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता के प्रकरण में इसकी चर्चा आ चुकी है।

प्रवचन माता नामक चौबीसवें, अध्ययन में पांच समिति और तीन गुप्तियों का कथन है। इनको प्रवचन की माता कहा गया है।

पच्चीसवें, यज्ञीय अध्ययन में जयघोष की कथा है। विजयघोष नामक ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था। जयघोषमुनि भिक्षा के लिए पहुंचे। विजय घोष ने भिक्षा नहीं दी। जयघोष ने कहा कि यज्ञोपवीत धारण करने से कोई व्यक्ति ब्राह्मण नहीं हो जाता और न वल्कल पहनने से तपस्वी हो जाता है।

सामाचारी नामक छब्बीसवें अध्ययन में साधुओं की सामाचारी का कथन है। खलुंकीय नामक सत्ताईसवें अध्ययन में गर्ग नामक मुनि की कथा है। मोक्षमार्ग नामक अट्ठाईसवें अध्ययन में मोक्षमार्ग का ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप का वर्णन है। सत्यकाम पराक्रम नामक उनतीसवें, अध्ययन में संवेग, निर्वेद, धर्म, श्रद्धा आदि तिहत्तर द्वारों का कथन है। तीसवें, तपोमार्ग नामक अध्ययन में तप का वर्णन है।

चरणविधि नामक इकत्तीसवें अध्ययन में चारित्र की विधि का कथन है। प्रमाद स्थान नामक बत्तीसवें अध्ययन में प्रमाद का कथन है तथा राग-द्वेष-मोह को दूर करने के उपाय बताये हैं। कर्मप्रकृति नामक तेतीसवें अध्ययन में कर्मों के भेद-प्रभेद तथा उनकी स्थिति बतलाई है। चौतीसवें, लेश्या नामक अध्ययन में छः लेश्याओं का स्वरूप बतलाया है।

पैंतीसवें, अनागार मार्ग नामक अध्ययन में संक्षेप में मुनि जीवन का मार्ग बतलाया है। छत्तीसवें, जीवाजीव विभक्ति नामक अध्ययन में जीव और अजीव द्रव्यों का कथन है।

वादिवेताल शान्तिसूरि के अनुसार उत्तराध्ययन सूत्र का परीषह नामक दूसरा अध्ययन दृष्टिवाद से लिया गया है, द्रुमपुष्पिका नामक दसवां अध्ययन महावीर ने प्ररूपित किया है। कापिलीय नामक आठवां अध्ययन प्रत्येक बुद्ध कपिल ने प्रतिपादित किया है तथा केशिगौतमीय नामक तेईसवां अध्ययन संवाद रूप में प्रतिपादित किया गया है।[173]

इस तरह वर्तमान उत्तराध्ययन सूत्र विविध प्रकरणों का एक संग्रह जैसा है और आचारांग आदि के बाद ही पढ़ने योग्य है। यह एक कथात्मक संग्रह है

जिसमें प्राचीनता का पुट है। इस पर भी एक निर्युक्ति है जिसे भद्रबाहु की कहा जाता है। एक चूर्णि है और शान्तिसूरि तथा नेमिचन्द्र की संस्कृत टीकाएं हैं। डा० जैकोबी ने इसका जर्मन में अनुवाद किया है। इसका अंग्रेजी अनुवाद 'सैक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट' नामक ग्रन्थमाला की पैंतालीसवीं जिल्द में सूत्रकृतांग के अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ है। शार्ल कार्पेन्टियर ने अंग्रेजी प्रस्तावना सहित मूल पाठ का संशोधन किया है।

भद्रबाहु की उत्तराध्ययन निर्युक्ति के अनुसार इस ग्रन्थ के छत्तीस अध्ययनों में से कुछ अंग ग्रन्थों से लिए गये हैं, कुछ जिन भाषित हैं, कुछ प्रत्येक बुद्धों द्वारा प्ररूपित हैं और कुछ संवाद रूप में कहे गये हैं।[174]

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. षट्खण्डागम, पुस्तक-1, पृष्ठ 60-65।
2. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास, भाग-1, पृष्ठ 1-2।
3. जैनसूत्रज, भाग-1, पृष्ठ 1।
4. तदैव, पृष्ठ-2।
5. जैन परम्परा में आज शास्त्र के लिए आगम शब्द व्यापक हो गया है किन्तु प्राचीन काल में यह श्रुत के नाम से प्रसिद्ध था। इसी कारण श्रुतकेवली शब्द प्रचलित हुआ, न कि आगम केवली या सूत्र केवली।
6. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका, पृ० 174, आवश्यक चूर्णि, पृ० 108।
7. निरावरणज्ञाना: केवालिन:। तदुपदिष्टं बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तगणधरायुस्थ ग्रन्थरचनं श्रुतं भवति। समवायांग सूत्र अ० 6 सूत्र 13: आगमोदयसमिति, सूरत, बम्बई। गुरुसमीपे श्रुयते इति श्रुतम् अनुयोगद्वारसूत्र, आगमोदयसमिति, सूरत।
8. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ० 496।
9. पाटलिपुत्र वाचना का वर्णन तित्थोगाली पइन्ना में, हेमचन्द्र कृत परिशिष्ट पर्वन के नौवें सर्ग में तथा स्थूलभद्र की कथाओं में मिलता है। देखें, धर्मघोष कृत ऋषिमण्डलप्रकरण पर पद्ममुन्दिर रचित वृत्ति में, हरिभद्र कृत उपदेशपद की मुनि चन्द्रसूरि रचित वृत्ति में, स्थूलभद्रकथा तथा जयानन्दसूरि कृत स्थूलभद्र चरित्र तथा आवश्यक गाथा। द्र० आवश्यक चूर्णि, 2, पृ० 187।
10. ज्ञातव्य है कि दूसरी और तीसरी शताब्दी ईस्वी ब्राह्मण धर्म के उत्कर्ष और शैव पुनरोद्धार का समय था। शुंग, सातवाहन और कण्व ब्राह्मण राज्य वंश थे। गुप्त वंश वैष्णव था तथा अन्तिम कुषाण शासक शैव था।
11. महावीर का निर्वाण 527 ई०पू० में हुआ था। इसी तिथि से जैन धर्मावलम्बी अन्य घटनाओं की गणना करते हैं और इसे वीर निर्वाण सम्वत् के नाम से पुकारते हैं।
12. वीरस संवच्छरिए महते दुब्भिक्खे काले भतेट्ठा अण्णण्णतो हिण्डियाणं गहण गुणणणुप्पेहाभावाओ विप्पणट्ठे, सत्ते पुणौ सुभिक्खे काले जाए महुण्ए महते साधुसमुदए खंदिलायरियप्पमुद्ध संघेण जो अं संभरइति इव संघिडयं कालियसयं। जम्हा एवं महुराये कयं तम्हा माहूरी वायणा भण्णई — जिनदासमहत्तर कृत नन्दीचूर्णि, पृ० 8।

13. जैनसूत्रज, भा० 1,270, पादटिप्पण 1।
14. सम्भवत: इस समय आगम साहित्य को पुस्तकारूढ़ करने के सम्बन्ध में ही विचार किया गया परन्तु हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में लिखा है कि नागार्जुन और स्कंदिल आदि आचार्यों ने आगम को पुस्तक रूप में निबद्ध किया। सामान्यत: देवर्द्धि ही 'पुत्थे आगमलिहिओ' के रूप में प्रसिद्ध हैं—मुनि पुण्यविजय, भारतीय श्रमण परम्परा, पृ० 16, भगवतीसूत्र, 20/8।
15. श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिक नवशतकवर्षे जातेन द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षवशात् बहुतरसाधुव्यापतौ च जातायां — भविष्यद् भव्यलोकोपकाराय श्रुतभक्तये च श्रीसंघाग्रहात न्यूनाधिकान् त्रुटिताअत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्था संकलय्य पुस्तकारूढ़: कृता:। ततो मूलतो गणधरभाषितानामा तत्तसंकलनान्तरं सर्वेषामपि आगमानांकर्ता श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण एव जात:।
16. मुनि नथमल, जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ० 88-89।
17. मुनि कल्याणविजय, वीर निर्वाण और जैन काल गणना, पृ० 120 इत्यादि।
18. दुर्भिक्षातिक्रमे सुमिक्षाप्रवृतौद्वयो: संघयोमेलापको अभवत्। तद्यथा एको वलभ्यां, एको मथुरायां, तत्र च सूत्रार्थ संघटेन परस्पर वाचनाभेदो जात:। ज्योतिषकरण्ड की टीका, पृ० 41।
19. तत: सुभिक्षे संज्ञाते संघस्य मेल को अभवत्। वलभ्यां मथुरायां च सूत्रार्थ संघटना कृते वल्भ्यां संगते संघे देवर्द्धिगणिरग्रणी:। मधुरायां संगते स्कंदिलाचार्यो अग्रणीरभूत। ततश्च वाचनाभेदस्तत्र जात: क्वचित् क्वाचित। विस्मृत स्मरणे भेदो जातु स्यादुमयोरपि।। लोक प्रकाश।
20. कथावली, 298।
21. जैकोबी, जैनसूत्रज, भाग-1, पृ० 270 पादटिप्पण -2।
22. मुनि कल्याण विजय, वीर निर्वाण और जैन काल गणना, पृ० 110-111 से उद्धृत।
23. तदैव, पृ० 116।
24. वालभ्यं संघकज्जे उज्जभिअं जुगपहाण तुल्लेहिं गघंव्ववाइवेयालसंतिसूरीहिं बलहीए। 21 यह गाथा एक दुषमा संघ स्त्रोत्रयंत्र की प्रति के हाशिये पर लिखी हुई है। द्र० वही, पृ० 117।
25. प्रभावक चरित, पृ० 133-37
26. जिनवचर्न च दुषमाकालवशादुच्छिन्न प्रायमिति मत्वा भगवम्दिर्न्नागार्जुन-स्कन्दिलाचार्य प्रभृतिभि: पुस्तकेषुन्यस्तम - योगशास्त्र 3, पृ० 107।
27. जिनदास महत्तर कृत नन्दीचूर्णि, पृ० 8।
28. यो यत्स्मरति स तत्कथयतित्थेव कालिकश्रुतं पूर्वगतं च किंचिदनुसन्धाया घटित। द्र० नन्दीस्थविरावली, गाथा 33।
29. *द्र० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका, पृ० 508-9।*
30. जैकोबी, जैनसूत्रज, जिल्द 22, प्रस्तावना।
31. सा च तत्कालयुगप्रधानानांस्कन्दिलाचार्याणामभिमता तदैव चार्थत: शिष्यबुद्धि प्रापितेति तदनुयोग: तेषामाचार्याणं सम्बन्धीति व्यपदिश्यते। अपरे पुनरेवमाहू: न किमपि श्रुतं दुर्भिक्षवशात् अनेशत् किन्तु तावदेव तत्काले श्रुतमनुवर्ततेस्म। केवलमन्ये प्रधानाये अनुयोगधरा ते सर्वेअपि दुर्भिक्षकालकवलीकृता: एक एव स्कन्दिलसूरयो विद्यन्तेस्म। ततस्तै दुर्भिक्षापगमे मथुरापुरी पुनरनुयोग: प्रवर्तित: इति वाचना माथुरीति व्यपदिश्यते, अनुयोगश्च तेषा माचार्याणमिति। -नन्दी स्थविरावली, गाथा 33 टीका।

32. इण्डियन एन्टीक्वेरी, पृ० 282 वेबर इसका समय चौथी शताब्दी ई० मानते हैं। एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द 16, पृ० 17 के अनुसार वालभी वाचना का समय 470 ई० तथा माथुरी वाचना का समय 501 ई० है तथा वलभी की द्वितीय वाचना आरम्भिक छठी शताब्दी में बैठती है। द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनेक्जिम, पृ० 20-22।
33. द्र० सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, जि० 22, पृ० 37-39।
34. हर्मन जैकोबी, सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, जिल्द 22, प्रस्तावना, पृ० 37-39।
35. चुल्लवग्ग अनु० राहुल सांकृत्यायन अ० 11ए पृ० 541।
36. भगवान बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द को भगवान के सब सूत्र कण्ठस्थ थे। उनकी स्मृति प्रबल थी इसी कारण से प्रथम संगीति में आनन्द ने धर्म का संगायन किया। इसलिए सूत्र इस वाक्य से आरम्भ होते हैं—'एवं मे सुतं' ऐसा मैनें सुना। आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध धर्म एवं दर्शन, पृ० 35। बौद्ध संगीतियों पर विस्तार के लिए द्र० अर्लीबुद्धिस्ट मोनेकिज्म, पृ० 11, अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म, पृ० 9, दी एज आफ विनय. पृ० 8-11, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० 156-157।
37. दूसरी संगीति के समय बौद्ध संघ में भेद हो गया जिसके परिणामस्वरूप बुद्ध शासन स्थविर और महासांघिक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। चुल्लवग्ग के अनुसार निर्वाण के सौ वर्ष के पश्चात् संघ में भेद हुआ।
38. ओल्डनबर्ग, विनयपिटक, जिल्द 1, पृ० 48 प्रस्तावना, पृ० 31-32। ओल्डनबर्ग का मत है कि द्वितीय संगीति में पुस्तकों के संकलन के लिए नहीं हुई थी और इसी प्रकार का मत एस० दत्ता का भी है। इनके मत में यह संगीति केवल विवादाधिकारण मात्र थी और जिसने की समस्त बुद्ध संघ में उत्तेजना फैला दी। अतः उसमें विनय का संकलन हो पाया होगा, दुष्कर लगता है। द्र० एस० दत्त, बुद्ध एण्ड फाइव आफ्टर सेन्चुरीज, पृ० 170, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 170।
39. दी एज आफ विनय, पृ० 17-18।
40. राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या, पृ० 548।
41. दी एज आफ विनय, पृ० 20।
42. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-2, पृ० 426।
43. प्रज्ञापना, पद 1।
44. तदैव,
45. दशवैकालिक, हरिभद्रीया वृत्ति पत्र 25।
46. भारतीय लिपि माला, पृ० 4।
47. अनुयोगद्वारसूत्र, श्रुत अधिकार 37।
48. मुनि नथमल, *जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ० 86-87।*
49. जतियमेत्ता वारा, उ मुंचई बंधई व जति वारा।
जतिअक्खराणि लिहति व तति जं च आवज्जे।।
बृहत्कल्प भाष्य, 3,3 गाथा 3831, निशीथभाष्य, 12 गाथा 4008।
50. हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग 2, पृ० 426।
51. उत्तराध्ययन सूत्र (जे०ई० कार्पेन्टियर), पृ० 31—कार्पेन्टियर का निष्कर्ष है कि प्रमुख पवित्र कृतियां आज भी जिस रूप में प्राप्य हैं उन मूल आगमों की प्रतिनिधि हैं जो कि पाटलिपुत्र वाचना में स्थायी हुए थे।
52. द्र० कैलाश चन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास, भाग-1, पृ० 2।

53. इन्हीं चौदह पूर्वों में से दो पूर्वों के दो अवान्तर अधिकारों से सम्बद्ध दो महान ग्रन्थराज दिगम्बर परम्परा में सुरक्षित हैं। दिगम्बर परम्परा के जैन साहित्य का इतिहास एक प्रकार से इन्हीं ग्रन्थराजों से आरम्भ होता है।—वही।
54. आर० जी० भण्डारकर की रिपोर्ट, 1883-84, पृ० 124।
55. आवश्यक सूत्र, अध्याय 2, पृ० 187।
56. सी०जे०शाह, जैनिज्म इन नदर्न इण्डिया, पृ० 221; हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर, भाग 2, पृ० 432।
57. इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द 17, पृ० 170, 280 एवं 286।
58. जायसवाल तथा बनर्ती, एपिग्राफिका-इण्डिका, जिल्द 20, पृ० 80-81।
59. उत्तराध्ययन सूत्र (कार्पेन्टियर) पृ० 14-15 इस परम्परा को अमान्य करते हैं। कार्पेन्टियर के मत में दृष्टिवाद की पूर्ति असम्भव नहीं है। द्र० स्टडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ० 567—दिगम्बरों ने पाटलिपुत्र सम्मेलन में संकलित ग्यारह अंगों को प्रामाणिक मानने से इंकार कर दिया।
60. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-2, पृ० 431-32 एवं 461।
61. जैकोबी, (जैन सूत्रज) भाग 1, प्रस्तावना।
62. भगवती सूत्र (ललवाणी) जि० 1, पृ० 7।
63. उत्तराध्ययन सूत्र (कार्पेन्टियर) पृ० 31।
64. कार्पेन्टियर उत्तराध्ययनसूत्र में निरन्तर इसी आग्रह को लेकर चले हैं कि यदि कोई ग्रन्थ परवर्ती सिद्ध नहीं हुआ है तो उसे पूर्ववर्ती या प्रारम्भिक ही माना जाना चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र, पृ० 31।
65. जैन आगमों में इसके विपरीत स्थिति है उनके अनुसार यदि कार्पेन्टियर के मत को स्वीकार कर लिया जाये तो इस बात की आशंका है कि हम बहुत से सिद्धान्तों को जो परवर्ती विकास का प्रतिनिधित्व करते हैं उतना ही पुराना मान लेंगे—द्र० स्टडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, अपेन्डिक्स, पृ० 568; हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर, जिल्द 2, पृ० 432-35।
66. एन आउट लाइन आफ दी रिलीजियस लिटरेचर आफ इण्डिया, पृ० 76।
67. इण्डियन एन्टीक्वेरी, पृ० 286।
68. जैन सूत्रज, भाग 1, पृ० 45।
69. एन आउटलाइन आफ दी रिलीजियस लिटरेचर आफ इण्डिया, पृ० 76।
70. सी०जे०शाह, जैनिज्म इन नदर्न इण्डिया, पृ० 230-31; कार्पेन्टियर, उत्तराध्ययन, भूमिका, पृ० 22-23, एपिग्राफिका इण्डिका, जि० 16, पृ० 282-286।
71. मुनि समदर्शी प्रभाकर, आगम और व्याख्या साहित्य, पृ० 17।
72. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ० 518-519।
73. इण्डियन एन्टीक्वेरी, जिल्द 17, पृ० 286।
74. जैनसूत्रज, जिल्द 22, भूमिका, पृ० 6।
75. पं० दलसुख मालवणिया, आगम साहित्य की रूपरेखा, पृ० 10।
76. उत्तराध्ययन सूत्र, कार्पेन्टियर भूमिका।
77. पोत्थेसु छेप्पतएसु असंजमो भवइ।—दशवैकालिक चूर्णि, पृ० 21।
78. कालंक पुण पडुच्च चरणकरट्ठा अवोच्छित्तिनिमितं च गेणइमाणस्स पोत्थए संजमो भवइ।—वही।

79. नन्दीसूत्र, 58; समवायांग सूत्र, 148।
80. जैसे पात्रविशेष के आधार से वर्षा के जल में परिवर्तन हो जाता है, वैसे ही जिन भगवान की भाषा भी पात्रों के अनुरूप होती जाती है। -बृहत्कल्पभाष्य-1, 1204।
81. बालस्त्री-मन्दमूर्खाणाम्, नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थ सर्वज्ञ: सिद्धान्त: प्राकृते कृत:।। -दशवैकालिक टीका।
82. प्राकृत व्याकरण, 8/1/3।
83. हेमचन्द्र, प्राकृत व्याकरण, 8/1/3।
84. समवायांग सूत्र, 34/1।
85. भगवती सूत्र, 5/4/20।
86. भासारिया जे णं अद्धमागहाए भासाए भासंति। -प्रज्ञापना सूत्र, पृ० 56।
87. मगदधविसयभासाणि बद्धं अद्धमागहं अट्ठासदेशीमासाणिमयं वा अद्धभागहं।—जिनदास महत्तर कृत, निशीथचूर्णि।
88. प्राकृत व्याकरण, 8/1/3
89. ठाणांग, 7/48/10।
90. निशीथचूर्णि।
91. उदाहरण के लिए भूत, भूय, उदग, उदय, उय, लोभ, लोह, उच्चारण के साथ परिवर्तित होते गये। - जैनसूत्रज, जि० 22, परिचयात्मक, पृ० 11।
92. जैन साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 3।
93. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 550।
94. दशवैकालिक, भूमिका, पृ. 17।
95. वही
96. *जयधवला, भाग-1, पृ० 154।*
97. धवला, पृ० 9, पृ० 259।
98. .....तथा सिद्धान्तस्य परमागमस्य सूत्ररूपस्य। सागारधर्मामृत टीका, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, काशी, अध्याय-7, श्लोक 50।
99. सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, जिल्द 22, पृ० 38।
100. भगवतीसूत्रम्, 25 शतक-3।
101. नन्दीसूत्र, 41, द्र० हीरालाल रसिक लाल कापड़िया, ए हिस्ट्री आफ दी कैनोनिकल लिट्रेचर आफ जैनज, पृ० 21।
102. जैन साहित्य की पूर्व पीठिका, पृ० 174 तथा पं० बेचरदास दोषी, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-1।
103. जैकोबी, जैन सूत्रज, भाग 1, भूमिका।
104. डाक्ट्रिन आफ दी जैनज, पृ० 35।
105. जैकोबी: सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, जि० 22, प्रस्तावना: मजूमदार और पुसालकर, दी एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 423। कार्पेन्टियर उत्तराध्ययन, प्रस्तावना, पृ० 32 तथा 48 उन्हें ई० पृ० 380 और ईसवी सन् के आरम्भ होने के बीच का काल बताते हैं।
106. स्टडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ० 569।
107. चतु: शरण और भक्त परिज्ञा जैसे प्रकीर्णक जिनका उल्लेख नन्दी में नहीं है, वे इसमें अपवाद हैं। ये ग्रन्थ कब आगमान्तर्गत कर लिए गये कहना कठिन है।
108. विन्टरनित्स पूर्वो. भाग 2, पृ० 450.

109. वैदिक साहित्य में अंग के अर्थ हैं वेदों के अध्ययन में सहायभूत विविध विधाओं के ग्रन्थ, किन्तु जैन आगम में अंग सहायक या गौण ग्रन्थ नहीं, किन्तु बारह अंगों से श्रुत पुरुष का अंग कहे गये हैं—द्र० डाक्ट्रिन आफ दी जैनज, पृ० 73।
110. जैनसूत्रज, जिल्द 22, पृ० 46।
111. विन्टरनित्स, पूर्वोक्त, भाग-२, पृ० 442 तथा कार्पेन्टियर, उत्तराध्ययन, परिचयात्मक, पृ० 26-27।
112. कार्पेन्टियर, पूर्व, पृ० 41।
113. विन्टरनित्स, पूर्व०, भाग-2, पृ० 442।
114. विचारों की तथा अभिव्यक्ति की यह जटिलता अमिधर्म से तुलनीय है।
115. वही, पृ० 437।
116. स्टडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ० 570।
117. वही
118. द्र० ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर, पृ० 435 पाद टिप्पण ३।
119. वीरनिर्वाण और जैन कालगणना, पृ० 64।
120. स्टडीज इन दी ओरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म पृ० 569।
121. धवला, प्रस्तावना पृ० 2।
122. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 2, पृ० 461।
123. सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, जिल्द 22, पृ० 47, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 2, पृ० 432।
124. वही, पृ० 48।
125. आवश्यक निर्युक्ति 777, कैनोनिकल लिटरेचर आफ दी जैनस, पृ० 36।
126. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-2, पृ० 462''63।
आचार्य हरिभद्र केवल उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक को ही मूल सूत्र मानते हैं, शेष को नहीं। द्र० हरिभद्रसूरि वृत्ति, पृ० 327-28।
प्रो० विन्टरनित्स ने उक्त तीन सूत्रों में पिण्ड निर्युक्ति को सम्मिलित कर मूल सूत्रों की संख्या 4 मानी है। विस्तार के लिए द्र० एच०आर० कापडिया—हिस्ट्री आफ दी कैनानिकल लिटरेचर आफ दी जैनस, पृ० 43 की पाद टिप्पणी।
127. ए० हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० 464-65।
128. अंगाणां किं सारो आचारो।—आचारांग निर्युक्ति।
129. द्र० हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 2, पृ० 437, उत्तराध्ययन कार्पेन्टियर, पृ० 37 तथा पी एल वैद्य, आचारांग की प्राचीनता पर लेख—उवासगदसाओ, पृ० 10, स्टडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ० 570-71।
130. जैकोबी, जैन सूत्रज, जि० 22, पृ० 40।
131. श्रुबिंग, डाक्ट्रिन आफ दी जैनस।
132. तत्ववार्तिक, पृ० 72।
133. षटखण्डागम पुस्तक 1, पृ. 99| कसाय पाहुड, भाग-1, पृ० 112; सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, जि० 45, पृ० 183 पाद टिप्पण 6 के अनुसार प्रकल्प अर्थात आचारांगसूत्र में अब चौबीस अध्ययन हैं किन्तु कहा जाता है कि मूल में चार अध्ययन और भी थें। जैकोबी, जैनसूत्रज भाग-1 परिचयात्मक के अनुसार यहां चार व्याख्यान हैं—महापरिण्ण, उज्झया, अनुधिया तथा आरोवणा।

134. आचारांगसूत्र, पृ० 63।
135. स्थानांग सूत्र, 429-30; समवायांग सूत्र, 17 जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-1।
136. आवश्यक सूत्र, सामायिक अध्ययन।
137. समवायांग, नन्दीसूत्र की टीका तथा आवश्यक निर्युक्ति की विधि प्रथा में यह उल्लेख है। शीलांक की निर्युक्ति कलकत्ता संस्करण, पृ० 435 एवं 251-268।
138. जैकोबी, जैन सूत्रज, जिल्द 22, पृ० 40।
139. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, पृ० 64।
140. सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरंति।—आचारांग सूत्र 1/3/1/1।
140. आचारांग सूत्र, 1/4/1/1।
141. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-1, पृ० 94।
142. तदैव, पृ० 95।
143. तदैव, पृ० 63।
144. तदैव, पृ० 65।
145. जैनसूत्रज, जिल्द 22, भूमिका।
146. आचारांग सूत्र, जैनागम ग्रन्थमाला भाग-1, पृ० 63।
147. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर-।।, पृ० 438।
148. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य की पूर्व पीठिका, अ० 1।
149. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, पृ० 111।
150. जैकोबी, जैन सूत्रज, भूमिका, पृ० 43।
151. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-2, पृ० 415-436।
152. वही, पृ० 438 स्टडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, परिशिष्ट।
153. स्टडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, परिशिष्ट।
154. जैकोबी बेबर के कथन को उद्धृत करते हैं। द्र० जैन सूत्रज, भाग 1, पृ० 47 पाद टिप्पण।
155. तत्ववार्तिक, पृ० 73 षट्खण्डागम, पुस्तक 1, पृ० 99।
156. कसाय पाहुड भाग-1, पृ० 122
157. नन्दीसूत्र 47| समावायंग सूत्र, 147।
158. बुज्झिज्झ पद से ज्ञान और तिउटिटज्जा पद से क्रिया का समन्वय कर सूत्रकार ने मुक्तिपथ का प्रदर्शन किया है।
159. द्र० जैन सूत्रज, जि० 45, पृ० 235, पाद टिप्पण -1।
160. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-2, पृ० 438।
161. एम० विन्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-2, पृ० 441।
162. जैकोबी, सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, जिल्द 45।
163. आगम और व्याख्या साहित्य, पृ० 46।
164. विन्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-2, पृ० 449।
165. इइ पाडकरे बुद्धे नायए यपरिनिब्बुए। छत्तीसमं उत्तरज्झाए भवसिद्धीय संमए।।—उत्तराध्ययन, सानु० भूमिका।
166. उत्तराध्ययन सूत्र कार्पेन्टियर परिचयात्मक, पृ० 39।
167. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 2, पृ० 449।
168. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा 4।
169. यहां तुलना के लिए उत्तराध्ययन तथा बौद्धधम्मपद से उदाहरण दिये जा रहे हैं -

मासे मासे उ जो वालो कुसग्गेणं भुंजए।
ण सो सुअक्खाय घम्मस्स कलं अघ्घई सोलसि।।44।। उत्तराध्ययन, अ० 9।
अहां पोम्मं जले जायं नोवलिप्पई वारिणा।
एवं अलितं कामेहि तं वयं बूम माहणं।।27।। उत्तराध्ययन, अ० 25।
मासे मासे कुसग्गेन बालो भुजेय भोजनं।
न सो संखतम्मानं कलं अरधति सोलसिं।।11।। धम्मपद, ब्राह्मणवग्ग।
वारिपोक्खरपते व आरग्गेरिव ससयो।
यो न लिम्पति कामेसु तमहं ब्रूम ब्राह्मणं ।।19।। धम्मपद, ब्राह्मणवग्ग।

170. जं मे बुद्धाणुसासंति सीएण फस्सेण वा।
मम लाभु ति पेहाए पयओ तं पदिस्सुणे।।27।।

171. गाथा, 34-35।

172. एवं से उदहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तर—णाणदंसणधरे अरहानायपुत्रै भगवं वैसालिए वियाहिए। त्तिवेमि।।18।।

173. उत्तराध्ययन टीका, पृ० 5।

174. अंगप्पभवा जिणभासिया पप्येबुद्ध संवाया।
वधे मुक्खे यह कया छत्तीसम् उत्तरज्झयणा।।—उत्तराध्ययन निर्युक्ति।

अध्याय 2

आगमकालीन धार्मिक एवं दार्शनिक विचार

जैन धर्म शब्द अर्वाचीन है। भगवान महावीर के समय इसका बोधक निर्ग्रन्थ धर्म था। निर्ग्रन्थ धर्म या निर्ग्रन्थ प्रवचन[1] महावीर कालीन शब्द है। कहीं-कहीं इसे आर्यधर्म[2] भी कहा गया है। भगवान महावीर से पूर्व भगवान पार्श्वनाथ के समय में इसे श्रमणधर्म[3] कहा जाता था। भगवान पार्श्वनाथ से पहले भगवान अरिष्टनेमि के समय में इसे आर्हत धर्म पुकारा जाता था। अरिष्टनेमि को अनेक स्थानों पर अर्हत अरिष्टनेमि के नाम से पुकारा गया है। आदि तीर्थंकर के युग में इस परम्परा का क्या नाम प्रचलित था, यह हम विश्वसनीय आधार पर नहीं कह सकते किन्तु यह कह सकते हैं कि इस धर्म के, इस परम्परा और संस्कृति के, मूलसिद्धान्त बीज रूप में वही रहे हैं जो आज हैं और यह है—आत्मवाद तथा आत्म कर्तृत्ववाद। इस आत्मवाद की उर्वर भूमि पर इस धर्म परम्परा का कल्पवृक्ष फलता फूलता रहा है।

काल गणना से परे और इतिहास की आंखों से आगे सुदूर अतीत, अनन्त अतीत, अनादि प्राक्काल में भी इन विचारों की स्फुरणा, इन विश्वासों की प्रतिध्वनि मानव मन में गूंजती रही है, मानव की आस्था इस मार्ग पर दृढ़ चरण रखती हुई अपने ध्येय को पाती रही है।

आत्मा एवं परमात्मा, इन तत्वों में विश्वास को विविध धर्मों में स्थित भेद का एक स्थूल आधार बनाया जा सकता है। इस आधार को दृष्टिगत रखकर यदि धर्म परम्पराओं का विववेचन एवं वर्गीकरण करें तो वह दो अलग-अलग भूमिकाओं पर खड़ी दिखाई देंगी। कुछ धर्म परम्पराएं परमात्मावादी हैं और कुछ आत्मवादी। परमात्मवादी धर्म परम्परा को सीधी भाषा में ईश्वरवादी धर्म दृष्टि भी कह सकते हैं। ईश्वर, भगवान, ब्रह्म चाहे कुछ भी नाम हो किन्तु उस वर्ग में सर्वोपरि सत्ता वही है। वही सर्वतन्त्र, स्वतन्त्र शक्ति है। कर्ता, हर्ता और भर्ता वही है। वह अपनी इच्छानुसार संसार यन्त्र को चलाता है। आत्मा को वही शुभाशुभ की ओर प्रेरित करता है। जीव का यहां स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ नहीं है, जो कुछ है वह ईश्वर है।

भारतीय धर्म परम्पराओं में जैन एवं बौद्ध धर्म परम्पराओं को छोड़कर प्रायः सभी धर्म परम्पराएं ईश्वर को ही सर्वोपरि शक्ति एवं सृष्टियन्त्र का संचालक मानती हैं। इसलिए वह ईश्वरवादी धर्म परम्पराएं कहलाती हैं।

भारतीय धर्म परम्परा में जैन धर्म जीव अथवा आत्मा को ही सर्वशक्ति-सम्पन्न सत्ता मानता है। इस धर्म में ईश्वर कोई विलक्षण या भिन्न तत्व नहीं, जो सृष्टि का नियामक अथवा संचालक हो। परम विकसित शुद्ध निर्मल आत्मा ही मनुष्य की आध्यात्मिक गवेषणा का विषय है। सर्व-द्वन्द्व-मुक्त इच्छा, द्वेषशून्य आत्मा को ही परमात्मा के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। जहां ईश्वरवादी धर्मों में आत्मा को ईश्वर का अनुगामी, उपासक एवं सेवक माना है, वहां जैन धर्म में आत्मा को ही परमात्मा बनने का अधिकारी माना गया है। जहां ईश्वरवादी धर्मों में आत्मा की कृतार्थता परमात्मा के भक्त बने रहने में ही है वहां जैन धर्म में आत्मा को ही परम तत्व स्वीकार किया गया है, कर्म युक्त होने पर इसका बन्धन है, कर्ममुक्त होने पर इसे अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त होता है। भारतीय धर्म परम्पराओं में दृष्टि एवं विश्वास का यह एक मौलिक भेद उन्हें दो धाराओं में विभक्त करता है—1. ईश्वरवादी अर्थात् परमात्मावादी एवं 2. अनीश्वरवादी अर्थात् आत्मावादी। यहां अनीश्वरवाद से तात्पर्य ईश्वर की सत्ता में अविश्वास या उस परमतत्व की अस्वीकृति से नहीं है अपितु ईश्वर को सृष्टितन्त्र का संचालक मानने से है।

आत्मवादी धर्म

जैन धर्म की मुख्य पृष्ठभूमि आत्मवाद ही है। जैन धर्म का यह दृढ़ विश्वास रहा है कि आत्मा ही सुख-दुःख करने वाला है। शुभ मार्ग में प्रवृत्त आत्मा स्वयं का श्रेष्ठतम मित्र है, अशुभ मार्ग में प्रवृत्त आत्मा स्वयं का निकटतम शत्रु है। जो कुछ है वह आत्मा ही है। वह निर्विकार, निरंजन, सिद्धस्वरूप है।

आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तसुख एवं अनन्त शक्ति सामर्थ्य का पुंज है। सुख-दुःख का कर्ता भी यही है, भोक्ता भी यही है और उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करने वाला भी यही है। आत्म ज्ञान ही समस्त ज्ञान की कुंजी है, अतः सर्वप्रथम आत्मस्वरूप का बोध प्राप्त करना चाहिए। यह आत्मा औपपातिक है, कर्मानुसार पुनर्जन्म ग्रहण करती है। आत्मा के पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला ही वस्तुतः आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी है।[4] जो अपनी आत्मा का अपलाप, अविश्वास करता है, वह लोक अन्य जीव समूह का भी अपलाप करता है।[5] यह आत्मा अव्यय-अविनाशी, अवस्थित व एक रूप है।[6] वह शाश्वत भी है अशाश्वत भी। द्रव्य दृष्टि से शाश्वत तथा भावदृष्टि से अशाश्वत

है।[7] जो आत्मा है वही विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वही आत्मा है। जिससे जाना जाता है कि वह आत्मा है और जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।[8] जैसे मैं दुख नहीं चाहता उसी प्रकार संसार का कोई भी जीव दुख नहीं चाहता।[9]

स्वरूप की दृष्टि से हाथी और कुन्थुआ में आत्मा एक समान है।[10] सुख-दु:ख का कर्ता-अकर्ता आत्मा ही है। सदाचार में प्रवृत्त आत्मा मित्र है, दुराचार में प्रवृत्त आत्मा शत्रु है।[11] यह आत्मा ही वैतरणी नदी है। यही कूटशाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही इच्छानुसार फल देने वाली कामधेनु है और यही आत्मा नन्दनवन है।[12] हिरयन्ना का कथन है कि जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य आत्मा को पूर्ण बनाना है न कि विश्व की व्याख्या करना। पूरा का पूरा जैन धर्म आस्रव और संवर ही है। शेष इसका विस्तार मात्र है।[13]

आत्मवाद के इस आधार पर जैन आचारशास्त्र का भवन निर्मित है किन्तु कर्म सिद्धान्त की विवेचना के बिना इस सिद्धान्त की व्याख्या अधूरी रह जाती है। आत्मा और कर्म इन्हीं दो तत्वों पर जैन धर्म का आचार पक्ष, विचार पक्ष, आध्यात्मिकता और नैतिकता टिकी हुई है।

जैन धर्म-सिद्धान्त

प्रत्येक जीव सुख की कामना करता है किन्तु अकाम्य होने पर भी उसे दुख भोगना पड़ता है। दुख का कारण है कर्म। कर्म, कृत है। यदि आत्मा अशुभ कर्म का कर्ता है तो वह उसके अशुभ परिणाम का भोक्ता भी अवश्य ही होगा। कर्मों से पूर्ण निरास ही मुक्ति है। कर्म सिद्धान्त में कर्मबन्ध के कारण कर्म के स्वरूप और उनसे मुक्ति के उपाय की मीमांसा की गयी है।

जैनसूत्रों में आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है कि आत्मा अमूर्त है। अमूर्त होने के कारण वह इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है। अमूर्त होने के कारण ही आत्मा नित्य है। अज्ञान के कारण आत्मा कर्मबन्धन में आती है। यह कर्मबन्धन संसार का हेतु है।[14]

चार्वाकों के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। सामान्यत: कर्म सिद्धान्त का उदय मानव जीवन में घटित होने वाली विविध घटनाओं की व्याख्या करने वाले कार्यकारण सम्बन्ध से होता है। कर्म शब्द का सूक्ष्म अर्थ सभी मतों में भिन्न-भिन्न है। जैनेतर भारतीय दर्शनों में कर्म को क्रिया के अर्थ में लिया गया है, यद्यपि क्रिया शब्द के अर्थ भी विविध हैं। जैन दार्शनिक कर्म शब्द की सर्वथा भौतिक व्याख्या करते हैं।[15] जैन दार्शनिकों के अनुसार इन्द्रियों द्वारा अगोचर अतिसूक्ष्म परमाणुओं के समूह का नाम कर्म है।[16]

सर्वजीव अपने आसपास छहों दिशाओं में रहते हुए कर्म पुद्गलों को ग्रहण करते हैं और आत्मा के सर्वप्रदेशों के साथ सर्वकर्मों का सर्व प्रकार से बन्धन होता है।[17] जैन धर्म की मान्यता है कि कर्म के दुष्प्रभाव के अन्तर्गत आत्मा जो कि विशुद्ध एवं असीमित क्षमताओं वाली होती है, अपने को सीमित अनुभव करती है। आत्मा को कर्म के इस विपरीत प्रभाव से मुक्त करना मुक्ति का अनिवार्य अनुबन्ध है, मुक्ति या निर्वाण जीवन का चरमोद्देश्य है।[18]

जीव दो प्रकार के कर्मों से बंधता है—भौतिक तथा मानसिक। पहले प्रकार के कर्म का अर्थ है कि द्रव्य का आत्मा में प्रवेश हो गया है। दूसरे प्रकार के अन्तर्गत इच्छा तथा अनिच्छा जैसी चेतन मानसिक क्रियाओं का समावेश होता है। इन दो प्रकार के कर्मों को एक-दूसरे के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी माना जाता है। जैनों की दृढ़ मान्यता है कि जीव अपने को कर्म के बन्धन से मुक्त कर सकता है। परन्तु चूंकि यह माना जाता है कि विकारों के कारण ही बन्धन है, इसलिए कहा गया है कि यदि बिना विकारों के कर्म किये जाएं तो वह व्यक्ति को नहीं बांधते।[19] यह स्थिति गीता के निष्काम कर्म योग के समान है।

इस जगत में जो भी प्राणी हैं, वह अपने संचित कर्मों से ही संसार भ्रमण करते हैं और स्वकर्मों के अनुसार ही भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेते हैं। फल भोगे बिना उपार्जित कर्मों से प्राणी का छुटकारा नहीं होता।[20] कृत कर्म इस जन्म में अथवा परजन्म में भी फल देते हैं। संचित कर्म एक जन्म में अथवा सहस्रों जन्मों में भी फल देते हैं। कर्मवश जीव बड़े से बड़ा दुख भोगता है और फिर आर्तध्यान, शोक विलाप आदि करके नये कर्मों को बांधता है। इस प्रकार कर्म से कर्म की परम्परा चलती है। बंधे हुए कर्म का फल दुर्निवार है, उसे मिटाना अशक्य है।[21] सर्वप्राणी अपने कर्मों के अनुसार ही पृथक पृथक योनियों में अवस्थित हैं। कर्मों की अधीनता के कारण अव्यक्त दु:ख से दुखित प्राणी जन्म, जरा और मरण से सदा भयभीत रहते हुए संसार चक्र में भटकते रहते हैं।[22] जैनों का तो वस्तुत: यह विश्वास था कि द्रव्य के चारों तत्व धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल में भी आत्मा विद्यमान है। आत्मा सर्वव्यापी होने के कारण कोई भी प्रमादपूर्ण क्रिया हिंसामय कर्म में बदल जाती है।[23] लोक या परलोक में कर्मों के फल स्वयं ही भोगने पड़ते हैं। फल भोगे बिना कर्मों से छुटकारा नहीं हो सकता है।[24] जैसे कृत कर्म हैं वैसा ही उनका परिणाम है।[25] जिन कर्मों से बंधा जीव संसार में परिभ्रमण करता है वह संख्या में आठ हैं—(1) ज्ञानावरणीय, (2) दर्शनावरणीय, (3) वेदनीय, (4) मोहनीय, (5) आयु, (6) नाम, (7) गोत्र और (8) अन्तराय।[26] राग और द्वेष यह कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है, ऐसा ज्ञानियों का कथन है। कर्म जनम-मरण का मूल है और जनम-मरण दु:ख की परम्परा का कारण है।[27] कर्म का मूल हिंसा है।[28] जिस प्रकार मूल सूख जाने पर सींचने पर भी

वृक्ष लहलहाता, हराभरा नहीं होता है, उसी तरह से मोह के क्षय हो जाने पर पुन: कर्म उत्पन्न नहीं होते।[29] जिस तरह दग्ध बीजों में से पुन: अंकुर उत्पन्न नहीं होते, उसी तरह कर्म रूपी बीजों के दग्ध हो जाने पर भव अर्थात् जनम-मरण के अंकुर उत्पन्न नहीं होते।[30]

अत: इन कर्मों के अनुसार-फल देने की शक्ति को समझकर बुद्धिमान पुरुष नए कर्मों के संचय को रोकने का प्रयत्न तथा पुराने कर्मों के क्षय करने में सदा प्रयत्नशील रहे।[31] जो अन्तर से राग द्वेषरूप भाव कर्म नहीं करता, उसे नए कर्म का बन्ध नहीं होता।[32] सर्व कर्मों के क्षय से जीव सिद्ध मुक्त होकर सिद्धलोक में पहुंचता है।[33]

निष्कर्षत: व्यक्ति स्वयं अपने कर्मों का उत्तरदायी है। कर्म के परिणाम उस पर थोपे नहीं जाते हैं। इसमें भाग्य जैसी किसी सत्ता का हस्तक्षेप नहीं है न ही ईश्वर का सहयोग है। व्यक्ति का पुरुषार्थ ही उसके भाग्य का नियन्ता है।

आत्मवादी विचारों का मूल-श्रमण संस्कृति

धर्म के सम्बन्ध में प्राचीनता एवं अर्वाचीनता का आग्रह एक धर्म व्यामोह का ही रूप माना जाना चाहिए। कोई विचार प्राचीन होने से ही गौरवशाली नहीं होता उसमें तेजस्विता भी होनी चाहिए। तेजस्विता, जीवनोपयोगिता, विचार को स्वयं ही गौरवमंडित बना देती है। तथापि, ऐतिहासिक अध्ययन के अन्तर्गत प्राय: पूर्वापर क्रम सम्बन्ध स्थापन किया जाता है और अध्येय विषय के प्रारम्भ बिन्दु के अनुसंधान की सहज जिज्ञासा होती है। जैकोबी के अनुसार बौद्ध और जैन धर्मों का विकास ब्राह्मण धर्म से हुआ है।[34] धार्मिक जागरण से अकस्मात ही इनका जन्म नहीं हुआ है बल्कि लम्बे समय से चले आ रहे धार्मिक आन्दोलन ने इनका रास्ता तैयार किया है।[35]

जैकोबी के मत का उल्लेख करते हुए दासगुप्त की मान्यता है कि इन दोनों नवीन धर्म व्यवस्थाओं के मार्गदर्शकों को सम्भवत: यज्ञ धर्म तथा उपनिषदों से सुझाव मिले हैं और इन्होंने अपनी प्रणालियों का निर्माण स्वतन्त्र रूप से अपने ही चिन्तन से किया है।[36]

जैकोबी का यह मत कि जैन धर्म और बौद्धधर्म ब्राह्मण संन्यासाश्रम से निष्पन्न हैं तथा ब्राह्मणों व श्रमणों के व्रतों की समानता के आधार पर निष्पन्न हैं। जैकोबी का विचार है कि श्रमण सम्प्रदाय से ब्राह्मणों का चतुराश्रम प्राचीन है।[37] यह भी विचार व्यक्त किया गया है कि जैनों और बौद्धों ने कालचक्र का विभाजन भी ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव से ही किया है।[38] उदाहरण के लिए चार महाकल्प और अस्सी लघुकल्प ब्राह्मणों के युगों एवं कल्पों के आधार पर बताये हैं। ब्रह्मा के

अहोरात्र तथा मन्वन्तर के हिन्दू आख्यानों का प्रभाव जैनों के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक आरों (काल विभाजन) पर पड़ा था।

हर्मन जैकोबी तथा पाण्डुरंग वामन[39] कणे नामक दोनों विद्वान इस मान्यता पर अत्यधिक आग्रह रखते हैं कि बौद्ध और जैन श्रमण दोनों ही सम्प्रदाय हिन्दू धर्म के ऋणी हैं; इस बात से पूर्णत: इनकार नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए बौधायन धर्मसूत्र में दिये गये पंचव्रत हैं: अहिंसा, सुनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये व्रत वहीं हैं जिनका कि जैन साधुओं को पालन करना पड़ता है और इनका क्रम भी उसी प्रकार है। बौद्ध भिक्षुओं को भी इन्हीं शीलों का पालन करना पड़ता है और इनका क्रम भी उसी प्रकार है। परन्तु उनकी सूची में दूसरे स्थान पर अन्तर है। श्रमण और ब्राह्मण दोनों साधुओं के व्रतों की समानता सामान्य सिद्धान्तों की है जो वैरागी जीवन के सुप्रतिष्ठित आदर्श से सम्बन्धित हैं।[40] उदाहरण के लिए जैनों के पांच महाव्रत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। यह पतंजलि के योगसूत्र में पहले ही से वर्णित हैं। पहले पार्श्वनाथ ने चार याम बनाये थे। सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह जो महावीर के ब्रह्मचर्य जोड़ देने पर पतंजलि के पांच महाव्रतों के सदृश हो गये। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि बौद्धों का चातुर्याम संवर अर्थात् शीतजल प्रयोग, बुराई, पाप तथा प्राकृतिक विसर्जन में सतर्क रहना से प्रतीत होता है कि विभ्रमित सिद्धान्त है।[41] बौद्ध पंचशील भी यही दोहराते हैं। इन्हीं पंचशीलों का विकास आ शीलों में हो जाता है जब उसमें रात्रि में अखाद्य वस्तुएं नहीं खाना, पुष्पहार नहीं पहनना, सुगन्ध का प्रयोग नहीं करना तथा भूमि पर शयन करना जोड़ दिये जाते हैं। यही आठ शील कालान्तर में दस शीलों में पर्यवसित हो जाते हैं जबकि इनमें नृत्य संगीत वर्जित हो जाते हैं तथा स्वर्ण व रजत परित्याग का सिद्धान्त जुड़ जाता है। ब्राह्मण संन्यासी से भी यही अपेक्षा की जाती है कि वह जीव हिंसा से बचे तथा कृपणता से बचे, असत्य से बचे, परद्रव्य से बचे तथा असंयम से बचे।[42]

ब्राह्मण धर्मसूत्र, जैन तथा ब्राह्मणों के संन्यास सम्बन्धी विचार लगभग एक से हैं। आदर्श संन्यासवृत्ति के प्रशिक्षण में है तथा उसके समाज से व्यवहार के नियमन में भी है। योगसूत्र में सांख्य को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि अहिंसा ही प्रधानव्रत है। जिसकी परिपूर्णता के लिए अन्य व्रतों को स्वीकार किया गया है।[43] श्रमण आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास करते थे जो जीवन के निम्नतम रूप से लेकर उच्चतम प्रकार की सत्ता के बीच की निरन्तर अन्तर्क्रिया है। अत: श्रमणों के लिए अहिंसा आवश्यक बन गई। मैक्समूलर,[44] बूलर[45] तथा कर्न[46] तीनों ने इन तीन धर्मों के साहित्य में उपलब्ध संन्यासियों के कर्तव्यों की तुलनात्मक गवेषणा की है तथा तीनों का यही निष्कर्ष है कि जैन धर्म और बौद्धधर्म ब्राह्मण धर्म के ऋणी हैं।[47] इन विद्वानों का मत है कि हिन्दुओं के संन्यास धर्म तथा संन्यासियों के

कर्तव्य और बौद्ध तथा जैन भिक्षुओं के लिए निर्धारित व्रतों और नियमों में हिन्दुओं का अनुकरण किया है। इन विद्वानों के अनुसार हिन्दू धर्म की प्राचीनता निर्विवाद है। बुद्ध अपने सम्प्रदाय के संस्थापक व महावीर के समकालीन थे। महावीर अपने सम्प्रदाय के एक सुधारक मात्र थे। अत: यदि ऋण की ही चर्चा करनी है तो दोनों ब्राह्मणेत्तर सम्प्रदाय हिन्दूधर्म के ऋणी हैं। अपनी मान्यता के लिए इन विद्वानों ने जो प्रमाण दिये हैं वह संन्यासियों के लिए निर्धारित नियमों से तुलनीय हैं :—

1. संन्यासी को अपने पास कुछ भी एकत्र नहीं करना चाहिए।[48] जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय के भिक्षुओं के लिए भी यही नियम है कि वह अपने पास कुछ भी ऐसा न रखे जो व्यक्तिगत हो।
2. संन्यासी को ब्रह्मचारी होना चाहिए।[49] जैन भिक्षु का चौथा महाव्रत और बुद्ध धर्म का पांचवां शील यही है।
3. संन्यासी को वर्षाकाल में अपना निवास नहीं बदलना चाहिए।[50] यह नियम अन्य दोनों सम्प्रदायों में भी मिलता है।
4. संन्यासी अपनी भाषा, दृष्टि तथा कर्म पर संयम रखेगा,[51] जैनों की तीन गुप्तियां भी यही हैं।
5. संन्यासी पेड़-पौधों के उन्हीं अंशों को ग्रहण करेगा जो अपने आप अलग हो गये हैं।[52] कुछ इसी तरह का नियम जैन सम्प्रदाय में भी है। जैन मुनि केवल उन्हीं साग सब्जियों तथा फलों आदि का सेवन कर सकते हैं जिनमें जीवन का कोइ अंश न हो या जो अचित्त हों।[53]
6. संन्यासी बीजों का नाश नहीं करेगा।[54] जैन सम्प्रदाय ने इस नियम में सभी जीवित प्राणियों का समावेश कर लिया है और अपने अनुयायियों को उपदेश दिया है कि वह अण्डों, जीवित प्राणियों, बीजों अंकुरों आदि को चोट न पहुंचाएं।
7. संन्यासी का कोई बुरा करे या भला, उसे विरक्त बने रहना चाहिए।[55] जैन सम्प्रदाय में भी इस विरक्तभाव को महत्व दिया गया है। यह बात महावीर के जीवन प्रसंग से स्पष्ट होती है जिसके अनुसार चार से भी अधिक माह तक उनके शरीर पर नाना तरह के प्राणी एकत्र हुए, रेंगते रहे और उन्हें पीड़ा पहुंचाते रहे।[56]
8. संन्यासी को जल छानने के लिए अपने पास एक वस्त्र रखना चाहिए।[57]

उक्त तर्कों के आधार पर जैकोबी का यह विश्वास है कि निवृत्ति का आदर्श ब्राह्मणों के धर्म में पहले उदित हुआ और चतुर्थ आश्रम के रूप में अभिव्यक्त

हुआ।[58] पीछे इस आदर्श का बौद्धों और जैनों ने अनुसरण अनुकरण किया। किन्तु क्या ब्राह्मणों के धर्म में वैराग्य और संन्यास के सुविकसित विचार विद्यमान थे? क्या उनमें चतुराश्रम्य सिद्धान्त व्यवस्थित हो चुका था? विवेचना का विषय है।

वस्तुतः वैदिक संहिताओं में तथा ब्राह्मणों में आश्रम शब्द की ही कहीं उपलब्धि नहीं होती। सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण की टीका में अवश्य ही चतुराश्रम्य दीख पड़ने की बात कही है।[59] इसे ही आधार बनाकर कणे ने वैदिक साहित्य में चार आश्रमों का अस्फुट उल्लेख होने की बात कही है।[60] किन्तु विद्वानों का दूसरा वर्ग जिसमें एस. दत्त[61], जी.सी. पाण्डे[62] तथा जी.एस.पी. मिश्र[63] सम्मिलित हैं, जैकोबी के इस विचार से असहमत हैं तथा पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर उनने सिद्ध किया है कि निवृत्ति के साथ परिव्रज्या भी ब्राह्मणों ने श्रमण अनुकरण पर स्वीकार की थी। इनके अनुसार श्रामण्य की प्राचीन परम्परा को ही छठी शताब्दी के वैदिक और अवैदिक भिक्षु सम्प्रदायों के मूल में मानना चाहिए।

अपने सिद्धान्त की पुष्टि में यह युक्ति देते हैं कि ऐतरेय ब्राह्मण की सायण की व्याख्या विवादास्पद है। विशेषकर सायण का मल को गृहस्थ का द्योतक मानना। अजिन् को ब्रह्मचर्य, श्मश्रु को वानप्रस्थ और तप को संन्यास का प्रतीक समझ लेना। वस्तुतः इस श्लोक में ब्रह्मचारियों, तपस्वियों और मुनियों को इंगित करने वाली ब्राह्मणों की प्रवृत्तिवादी संस्कृति है।[64]

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता, प्रामाणिकता और आर्येतर तत्व

जैन और बौद्ध साहित्य में इतस्ततः श्रमणों का उल्लेख हुआ है। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि यह मुनि और श्रमण वैदिक समाज के बहिर्भूत थे तथा एक अति विकसित और उदात्त निवृत्तिपरक आध्यात्मिक विचाराधारा के प्रतिनिधि थे। इस श्रमण विचारधारा की प्रतिद्वंद्विता के समक्ष थी वैदिक, ब्राह्मण धर्म की प्रवृत्तिवादी और देववादी विचारधारा। जहां श्रमणों के लिए प्रवृत्तिमूलक कर्म गर्हित थे तथा बन्धनों के हेतु थे तथा ब्रह्मचर्य, तपस्या योग, तप और काय क्लेश आत्मोत्कर्ष के आदर्श साधन वहीं ब्राह्मणधर्म में प्रवृत्तिमूलक, लौकिक सुख ही काम्य था और यज्ञात्मक कर्म आदर्श साधन।[65] ब्राह्मण परम्परा जहां पुत्र को ही विमुक्ति का विशुद्ध साधन मानती थी वहां श्रमण परम्परा वैराग्यमय ब्रह्मचर्य को। मैगस्थनीज ने भारतीय साधुओं को श्रमण और ब्राह्मण दो वर्गों में बांटा था। उसके विवरण से स्पष्ट है कि उसने ब्राह्मणों को ब्रह्मचारी और गृहस्थ ही देखा। जबकि श्रमनोई श्रमणवर्ग में दुलोबियोई आते थे जो कि न नगरों मे रहते थे, न घरों में, वल्कल पहनते थे, अंजलि से पानी पीते थे, न विवाह करते थे न सन्तानोत्पादन।[66] संक्षेप में, ब्राह्मण परम्परा का पुरुषार्थ आप्तकामता अथवा आनन्द में था जबकि श्रमणों

का दु:खनिवृत्ति व उपशम में। इस मत का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता कि सैन्धवसभ्यता ने अपनी विरासत में अध्यात्म की अक्षय निधि छोड़ी जिसकी छाप श्रमण परम्परा पर सुस्पष्ट थी तथा जिससे अनेक महत्वपूर्ण तथ्य परवर्ती वैदिक धर्म ने ग्रहण किये जो इस प्रकार है—पशुपति, योगीश्वर तथा कदाचित नटराज के रूप में शिव की पूजा, मातृ शक्ति की पूजा, अश्वत्थपूजा, वृषभादि अनेक पशुओं का देव सम्बन्ध, लिंगपूजा, जल की पवित्रता, मूर्तिपूजा और योगाभ्यास जो कि आसन और मुद्रा के अंकन से संकेतित होता है।[67] श्रमणों का योगविद्या से अनन्य परिचय होने के कारण ही विद्वान इसका अन्वय सैन्धव संस्कृति से करते हैं। यह श्रमण ब्राह्मणेतर तथा वैदिक संस्कृति से अनभ्यंतर थे तथा उनकी निवृत्तिपरक गतिविधियां तथा क्लेशलक्षण, आर्यों के सुविदित जीवन शैली से नितान्त अपरिचित तथा यौगिक क्रियाएं आप्तकाम दृष्टि के प्रतिकूल थीं। यही कारण है कि श्रमणों को केशधारी, मैले, गेरूए कपड़े पहने, हवा में उड़ते, विषभक्षण करते देखा शृक्-संहिता का संहिताकार विस्मित हो सोचने लगा कि वह आवेश अथवा उन्माद में हैं।[68] उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में श्रमण के पर्याय के रूप में मुनि संज्ञा को भी अभिहित किया गया है।

श्रमण और ब्राह्मण परस्पर प्रतिद्वन्द्वी व विरोधी थे। उदाहरण के लिए एक वैदिक ग्रन्थ में इन्हें इन्द्रदेवता का शत्रु कहा गया है।[69] अन्य में तुरकावषेय मुनि की चर्चा है जो वेदाध्ययन और यज्ञ के विरोधी थे।[70] कवष ऐलूष नामक मुनि को वैदिक यज्ञ से अब्राह्मण होने के कारण तिरस्कृत व बहिष्कृत होना पड़ा था।[71] ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में यूनानियों ने भी इनके विभेद का उल्लेख किया है।[72] महाभाष्यकार पतंजलि ने इनका शाश्वत विरोध मार्जार व मूषकवत बताया है।[73] इसके विपरीत ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं जिनमें श्रमण और ब्राह्मण को समान समझा गया है तथा मान, दान और दक्षिणा की पात्रता की दृष्टि से इन दोनों के साथ साथ उल्लेख किये गये हैं।[74]

ब्राह्मणों तथा श्रमणों को भोजन कराना पुण्य कार्य समझा जाता था।[75] स्थानांगसूत्र में श्रमण-माहन (ब्राह्मण) की पर्युपासना का फल बताते हुए लाभकारी कार्यकारण शृंखला बताई गयी है जो इस प्रकार है[76]—धर्म का फल श्रवण, श्रवण का फल ज्ञान, ज्ञान का फल विज्ञान तथा विज्ञान का फल प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का फल संयम, संयम का फल कर्मनिरोध। कर्मनिरोध (अनाश्रव) का फल तप। तप का फल व्यवदान (निर्जरा)। व्यवदान का फल अक्रिया अर्थात् मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध। अक्रिया का फल है निर्वाण। निर्वाण का फल है सिद्धगति गमन।

महावीर का युग ऐसे वैरागियों से सुपरिचित था जिन्होंने सांसारिक जीवन को त्याग कर गृहविहीन जीवन को अपना लिया था तथा ज्ञान की खोज में भ्रमण कर

रहे थे। इन्हें नामान्तर से परिव्राजक, भिक्षु, श्रमण, यति तथा संन्यासी आदि नामों से पुकारा जाता था। यद्यपि संन्यासी शब्द जैन व बौद्ध साहित्य में दुर्लभ है किन्तु ब्राह्मण साहित्य में संन्यासी गृहविहीन वैरागी के लिए प्रयुक्त हुआ है।[77] इन वीतरागात्माओं में श्रमण का स्थान प्रमुख तथा श्रेष्ठतर था।[78]

वाल्मीकि रामायण[79] में, ब्राह्मण, निर्ग्रन्थ, तापस और श्रमणों का पृथक पृथक उल्लेख है। अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है कि जो स्त्री-पुरुष कुमारावस्था में ही श्रमण दीक्षा ग्रहण कर लेते थे वह कुमार श्रमण कहे जाते थे।[80]

उत्तराध्ययन सूत्र में 'कालीपव्वंण संकासे किस्से धर्माणि संतए'—यह पद प्रयुक्त हुए हैं।[81] जैनसूत्रों में यह विशेषण ऐसे तपस्वी के लिए प्रयुक्त हुए हैं जो तपस्या के द्वारा अपने शरीर को इतना कृश बना लेता है कि वह काली पर्वत के सदृश हो जाता है और उसकी नाड़ियों का जाल स्फुट दीखने लगता है। बौद्ध साहित्य में भी इन पदों की आवृत्ति हुई है।[82] वहां यह पद ब्राह्मण के लक्षण बताते हुए सामान्य साधु के लिए प्रयुक्त हुए हैं। साधु के लिए प्रयुक्त यह विशेषण यथार्थ हैं क्योंकि ऐसी तपस्या जैन मत में सम्मत रही है अत: यह शंका स्वभाविक है कि तपस्या के बिना शरीर इतना कृश नहीं होता और ऐसी कठोर तपस्या बौद्धों में तो अमान्य ही रही है।

डा. विन्टरनित्स की मान्यता है कि इन पदों तथा ऐसी ही कथांओं सम्वादों और गाथाओं की समानता का आधार यह है कि ये सुदीर्घकाल तक प्रचलित श्रमण परम्परा के अंश थे और उन्हीं से जैन, बौद्ध, महाकाव्यकार और पुराणकारों ने उन्हें अंगीकार कर लिया।[83] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि श्रमण संस्कृति की आधारशिला प्रागैतिहासिक काल में ही रखी जा चुकी थी तथा महावीर के काल में अनेक तीर्थों में विभक्त हो चुकी थी।[84]

आदि तीर्थंकर और वातरशना मुनि

जैन कल्पसूत्र में ऋषभदेव आदि तीर्थंकर के जीवन चरित्र का वर्णन मिलता है जिसकी वैदिक साहित्य से पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए जैनागमों में तथा वैदिक साहित्य में उनके माता पिता का नाम मरुदेवी तथा नाभि है।[85] उन्हें स्वायंभूमनु की पांचवीं पीढी में इस क्रम से कहा गया है—स्वायंभूमनु, प्रियव्रत, अग्नीध, नाभि और ऋषभ।[86] उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य देकर संन्यास ग्रहण किया। वह नग्न रहने लगे और केवल शरीर मात्र ही उनके पास था। तिरस्कृत होकर भी वह मौन ही रहते थे। कठोर तपश्चरण द्वारा उन्होंने कैवल्य की प्राप्ति की तथा कर्नाटक प्रदेश तक देशाटन किया। वह कुटकांचल पर्वत के वन में उन्मत्त के समान नग्न विचरण करने लगे। इसी वन में बांसों की रगड़ से उत्पन्न

अग्नि में वह स्वेच्छा से भस्म हो गये।[87]

भागवतपुराण में यह भी कहा गया है कि ऋषभदेव के इस चरित्र को सुनकर कोंक, बैंक व कुटक का राजा अर्हन कलयुग में अपनी इच्छा से उसी धर्म का सम्प्रवर्तन करेगा। इस वर्णन से नि:सन्देह यह निष्कर्ष निकलता है कि यह ऋषभ और कोई नहीं आदि तीर्थंकर ही हैं तथा अर्हन राजा द्वारा सम्प्रवर्तित धर्म का आशय जैन धर्म से ही है।[88]

भागवतपुराण में अन्यत्र कहा गया है कि यज्ञ में परम ऋषियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर, विष्णुदत्त परीक्षित स्वयं ही भगवान विष्णु महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए महारानी मरुदेवी के गर्भ में आये। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से किया।[89]

भागवतपुराण के इस कथन में दो उल्लेखनीय बाते हैं। प्रथम—ऋषभदेव की पूज्यता के सम्बन्ध में जैन और हिन्दू धर्म में कोई मतभेद नहीं है। जैसे वह जैनियों के आदि तीर्थंकर हैं वैसे ही हिन्दुओं के लिए साक्षात भगवान विष्णु के अवतार हैं। द्वितीय, प्राचीनता में यह अवतार राम और कृष्ण के अवतारों से भी पूर्व का माना गया है। इस अवतार का जो हेतु भागवतपुराण में बताया गया है उससे श्रमण धर्म की परम्परा स्वत: ही ऋग्वेद से जुड़ जाती है जिसमें ऋषभावतार का हेतु श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करना बताया गया है।

ऋग्वेद में उल्लेख है कि—

मुनयो वातरशना: पिशंगा वसने भला।
वातस्यानु प्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत।।
उन्मदिता मोनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ।।[90]

यहां वातरशना शब्द महत्वपूर्ण हैं।[91] डा. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार उसका वही अर्थ है जो दिगम्बर का है। वायु जिनकी मेखला है अथवा दिशाएं जिनका वस्त्र है।[92] दोनों शब्द एक ही भाव के सूचक हैं। इसी प्रकरण में मौनेय शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। वातरशना मुनि मौनेय की अनुभूति में कहता है—मुनिभाव से प्रमुदित होकर हम वायु में स्थिर हो गये हैं। मर्त्यो तुम हमारा शरीर मात्र देखते हो।

विद्वानों द्वारा नाना प्रयत्न करने पर भी अभी तक वेदों का नि:सन्देह रूप से अर्थ बैठना सम्भव नहीं हो सका है। तथापि सायणभाष्य की सहायता से डा. हीरालाल जैन[93] उक्त ऋचाओं का अर्थ इस प्रकार करते हैं—अतीन्द्रियार्थदर्शी *वातरशना मुनि मल धारण करते हैं जिससे वह पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं। जब वह*

वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात रोक लेते हैं, तब वह अपनी तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। ''सर्वलौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत उत्कृष्ट आनन्द सहित वायु भाव को अशरीरी ध्यानवृत्ति को प्राप्त होते हैं और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं'' ऐसा वातरशना मुनि प्रकट करते हैं।

भागवतपुराण में ही एक अन्य स्थान पर उल्लेख है—अयमवतरो रजसोपप्लुत कैवल्यो प्रशिक्षणार्थ:[94] अर्थात् भगवान का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगों को कैवल्य की शिक्षा देने के लिए हुआ। किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ अभी भी संभव है कि[95] यह अवतार रज से उपलुप्त अर्थात् रजोचारण मलचारण वृत्ति द्वारा कैवल्य प्राप्ति की शिक्षा देने के लिए हुआ था।

जैन मुनियों के आचार में अस्नान, अदन्तधावन, मलपरीषह आदि द्वारा रजोचारण संयम का आवश्यक अंग माना गया है।

बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे।

स्वयं बुद्ध ने श्रमणों के विषय में कहा था कि वह संघाटिक के संघाटी धारण मात्र से अचेलक के अचेलकत्वमात्र से, रजोजिल्लक के रजोजल्लिकत्वमात्र से और जटिलक के जटाधारण मात्र से भी श्रामण्य नहीं कहता।[96]

ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक सौ पैंतीसवें श्लोक के कर्ता के रूप में सात वातरशनामुनि के नाम आए हैं। यथा—जूति, वातजूति, विप्रजूति, विषाणक, करीक्रत, एतश और ऋष्यश्रंग।[97]

तैत्तिरीय आरण्यक तथा भागवतपुराण में वातरशन के साथ साथ श्रमण का भी उल्लेख हुआ है, जो उनकी अभिन्नता का सूचक है। तैत्तिरीय आरण्यक में वातरशना श्रमणों के निकट अन्य ऋषियों के पहुंचने और उन्हें पवित्र उपदेश देने का उल्लेख है।[98]

श्रीमद्भागवत पुराण में वातरशना श्रमणों को आत्मविद्या विशारद, ऋषि, शान्त, संन्यासी और अमल कहकर पुकारा गया है।[99]

उक्त वातरशना मुनियों की जो मान्यताएं व साधनाएं वैदिक साहित्य में भी उल्लिखित हैं, उनके आधार पर हम इस परम्परा को वैदिक परम्परा से स्पष्ट रूप से अलग समझ सकते हैं। वैदिक ऋषि वैसे त्यागी व तपस्वी नहीं थे जैसे यह वातरशना मुनि। वैदिक ऋषि स्वयं गृहस्थ थे, यज्ञ सम्बन्धी विधि-विधान में आस्था रखते थे और अपनी इहलौकिक इच्छाओं जैसे पुत्र, धन, धान्य आदि सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए इन्द्रादि देवी-देवताओं का आह्वान करते कराते हैं तथा उसके उपलक्ष में यजमानों से धन सम्पत्ति का दान-स्वीकार करते हैं। किन्तु इसके विपरीत वातरशनामुनि उक्त क्रियाओं में रत नहीं होते। समस्त गृहद्वार, स्त्री-पुरुष, धन-

धान्य आदि परिग्रह, यहां तक कि वस्त्र का भी परित्याग कर, भिक्षावृत्ति से रहते हैं। शरीर का संस्कार स्नान आदि से न कर अस्नान, अदन्तधावन द्वारा मल धारण किये रहते हैं। मौन वृत्ति का पालन करते हैं और देवराधना की अपेक्षा आत्मध्यान में रत रहते हैं।

स्पष्टत: यह उस श्रमण परम्परा का प्राचीन रूप है जो आगे चलकर अनेक अवैदिक सम्प्रदायों विशेषरूप से जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय में आज भी विद्यमान हैं। प्राचीन समस्त भारतीय साहित्य वैदिक, बौद्ध व जैन तथा शिलालेखों में भी ब्राह्मण और श्रमण सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। जैन एवं बौद्ध साधु श्रमण ही कहलाते हैं। वैदिक परम्परा में आध्यात्म परम्परा के प्रतीक ऋषि कहलाते थे जिनका वर्णन ऋग्वेद में बारम्बार आया है। श्रमण धर्म में यही मुनि कहलाते थे जिनका उल्लेख ऋग्वेद में वातरशनामुनि के रूप में आया है।

केशी

ऋग्वेद में केशी की स्तुति इस प्रकार की गयी है कि केशी अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्वों का दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान ज्ञान ज्योति केवलज्ञानी कहलाता है।[100] केशी की यह स्तुति वातरशना मुनियों के वर्णन में की गई है, जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशना मुनियों के वर्ण के प्रधान थे।

जैन परम्परा के अनुसार ऋषभ जब मुनि बने तब उन्होंने चार मुष्टि केश लौंच किया जबकि सामान्य परम्परा पांच मुष्टि लोच करने की है। भगवान केशलौंच कर रहे थे, दोनों पार्श्व भागों का केशलौंच करना बाकी था तब देवराज शकेन्द्र ने भगवान से प्रार्थना की कि इतनी रमणीय केशराशि को इसी प्रकार रहने दें। भगवान ने उसकी बात मानी और उन्हें वैसे ही रहने दिया। स्कन्धों पर लटकते घुंघराले केशों की वल्लरी ऋषभ की प्रतिमा की प्रतीक है।[101] ऋषभ को जटाशेखर युक्त कहा है।[102] स्पष्टत: ऋग्वेद के इन केशी वातरशना मुनियों की साधनाएं भागवतपुराण में उल्लिखित ऋषभ और उनकी साधनाओं से तुलनीय हैं। नि:सन्देह यह वातरशना श्रमण ऋषि एक ही समप्रदाय के वाचक हैं।

केशी का अर्थ केशधारी होता है, जिसका अर्थ सायणाचार्य ने केश स्थानीय रश्मियों को धारण करने वाले दिया है और उससे सूर्य का अर्थ निकला है। किन्तु उसकी कोई सार्थकता व संगति वातरशना मुनियों के साथ नहीं बैठती जिनकी साधनाओं का उक्त सूत्र में वर्णन है। केशी स्पष्टत: वातरशना मुनियों के अधिनायक ही हो सकते हैं जिनकी साधना में मलधारण, मौनवृत्ति और उन्मादभाव का विशेष निरूपण हुआ है। इसकी भागवतपुराण में ऋषभ के वर्णन से तुलना की

जा सकती है जहां कहा गया है कि भगवान के शरीर मात्र का परिग्रह बच रहा था। यह दिगम्बर के समान वेशधारी, उन्मत्त, बिखरे हुए केशों सहित आव्हनीय अग्नि को अपने में धारण करके प्रव्रजित हुए। वह जड़, अन्ध, मूक, बधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेश में लोगों के बुलाने पर भी मौनवृत्ति धारण किये हुए चुप रहते थे। सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशों के भार सहित अवधूत और मलिन शरीर से वह ऐसे दिखाई देते थे मानो उन्हें भूत लगा हो।[103]

यथार्थत: यदि ऋग्वेद के उक्त केशी सम्बन्धी सूक्त को तथा भागवतपुराण में चित्रित ऋषभदेव के चरित्र को सन्मुख रखकर पढ़ा जाये तो ऐसा प्रतीत होता है कि भागवतपुराण ऋग्वेद का भाष्य हो। वही वातरशना या गगन परिधान वृत्ति केश धारण, कपिशवर्ण, मलधारण, मौन और उन्माद भाव समान रूप से दोनों में वर्णित हैं। ऋषभ भगवान के कुटिल केशों की परम्परा जैन मूर्तिकला में प्राचीनतम काल से आज तक अक्षुण्ण पाई जाती है। यथार्थत: समस्त तीर्थंकरों में केवल ऋषभ की ही मूर्तियों के सिर पर कुटिल केशों का रूप दिखाया जाता है और यही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं। सिंह भी अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है। इस प्रकार केशी और केशरी एक ही केसरिया नाथ या ऋषभदेव के वाचक प्रतीत होते हैं। जैन पुराणों[104] में भी ऋषभ को जटाजूट ही बताया गया है।

इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि तथा भागवतपुराण के ऋषभ और वातरशना श्रमण ऋषि तथा आदितीर्थंकर केसरियानाथ ऋषभ और उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही प्रतीत होते हैं। केशी और ऋषभ का एक साथ उल्लेख ऋग्वेद में एक स्थान पर आया है —

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्,
अवाव चीत् सारथिरस्य केशी।
दुधर्युक्तस्यद्रवत: सहानस,
ऋच्छन्ति मा निष्पदों मुद्गलानीम्।।[105]

मुद्गल ऋषि की गायों को चोर चुरा ले गये थे। उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी ऋषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से वह गौएं आगे को न भागकर पीछे को लौट पड़ीं।

सायणाचार्य ने इसका वाक्यार्थ किया है—अस्य सारथि: सहायभूत: केशी प्रकृष्टकेशो वृषभ: अवावचीत अ्रशमशब्दयत् इत्यादि।

किन्तु डा० हीरालाल जैन इसका अर्थ दार्शनिक सन्दर्भ में इस प्रकार करते हैं— मुद्गल ऋषि के सारथी विद्वान नेता केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली। जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि

की गौवें इन्द्रियां जुते हुए दुर्धर रथ शरीर के साथ दौड़ रही थीं वे निश्चल होकर मौद्गलानी मुद्गल की स्वात्मवृत्ति की ओर लौट पड़ीं।[106] तात्पर्य यह कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियां परांगमुखी थीं, वह उनके योगी ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश सुनकर अन्तर्मुखी हो गयीं।

निर्ग्रन्थ नग्न सम्प्रदाय

उत्तराध्ययन में 'नगिणिण' शब्द मिलता है। जिसका अर्थ है नग्नता। उत्तराध्ययन के चूर्णिकार ने उस समय प्रचलित कुछ नग्न सम्प्रदायों का उल्लेख किया है जैसे मृग चारिक, उद्दण्डक (हाथ में डण्ड ऊंचा कर चलने वाले तापस) तथा जैन व आजीवक साधु जो कि नग्न रहते थे।[107] इस संदर्भ में ऋग्वेद में उल्लिखित शिश्नदेव भी महत्वपूर्ण है।[108]

इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशना मुनियों के निर्ग्रन्थ साधुओं तथा उन मुनियों के नायक केशी मुनि का ऋषभदेव के साथ एकीकरण हो जाने से जैन धर्म की प्राचीन परम्परा पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। चारों वेदों में ऋग्वेद प्राचीनतम है और ऋग्वेद की ऋचाओं में ही वातरशना मुनियों तथा केशी वृषभ का उल्लेख होने से जैन धर्म की प्राचीनता कम से कम भी 1500 ई.पू. ठहरायी जा सकती है। केशी नाम जैन परम्परा में प्रचलित रहा इसका प्रमाण यह है कि महावीर के समय में पार्श्व सम्प्रदाय के नेता का नाम केशीकुमार था।[109]

व्रात्य

अथर्ववेद के पन्द्रहवें अध्याय में व्रात्यों का वर्णन आया है। इस व्रात्य काण्ड का सम्बन्ध निश्चय ही किसी ब्राह्मणेतर परम्परा से था। आचार्य सायण ने व्रात्य को विद्वत्तम महाधिकार, पुण्यशील, विश्वसम्मान्य और ब्राह्मण विशिष्ट कहा है।[110] उपनयनादि से हीन मनुष्य व्रात्य कहलाते थे। ऐसे मनुष्यों को सामान्यत: वैदिक कृत्यों के लिए अनाधिकारी और सामान्यत: पतित माना जाता था।[111]

उपनयनादि से हीन मनुष्य जिसने गायत्री का उपदेश न कराया हो, वह पापी है तथा आर्यसमाज से बहिष्कृत है। जिस ब्राह्मण का 16वें, क्षत्रिय का 22वें, वैश्य का 24वें वर्ष तक उपनयन संस्कार न हों वह पतित सावित्रीक हैं या व्रात्य हैं।[112] इनको वेदाध्ययन करना, यज्ञों में जाना[113] एवं इनसे विवाह आदि सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने का निषेद्य था।[114] यदि तीन पीढी तक उपनयन न किया जाये तो वह पवित्र स्मृतियों के घातक कहे जाते थे।[115]

सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण, लाट्यायन, कात्यायन व आपस्तम्बीय श्रौतसूत्रों

में व्रात्यस्तोम विधि द्वारा उन्हें शुद्ध कर वैदिक परम्परा में सम्मिलित करने का भी वर्णन है। यह व्रात्य वैदिक विधि से अदीक्षित व संस्कारहीन थे। वे अदुरुक्तवाक्य को दुरुक्त रीति से प्राकृत भाषा में बोलते थे। वे ज्याह्रद प्रत्यंचारहित धनुष धारण करते थे। लिच्छवि, नाथ, मल्ल, आदि जातियों को व्रात्यों में गिना जाता था।[116]

चन्द्रगुप्त मौर्य को भी जैन धर्म का उपासक होने के कारण ही व्रात्य का विशेषण प्राप्त हुआ था। इन तथ्यों के सूक्ष्मविवेचन से ज्ञात होता है कि यह व्रात्य भी श्रमण परम्परा के गृहस्थ व साधु थे जो वेद विरोध होने से वैदिक अनुयायियों के कोप भाजन हुए थे। किन्तु यज्ञ व हिंसा के विरोधी होने के कारण उपनिषदों में इनकी प्रशंसा की गयी है।[117]

अर्हन

ऋग्वेद में भगवान ऋषभ के अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनमें से अर्हन भी एक है।[118] अर्हन श्रमण संस्कृति का प्रिय शब्द है। श्रमण अपने वीतरागात्माओं को अर्हन कहते हैं।[119] वैदिक साहित्य के अनुसार असुर आर्हत धर्म के उपासक थे। आश्चर्य का विषय है कि जैन साहित्य में इसकी स्पष्ट चर्चा नहीं मिलती। किन्तु पुराण और महाभारत में इस प्राचीन परम्परा के अवशेष सुरक्षित हैं।

यति

ऋग्वेद में मुनियों के अतिरिक्त यतियों का भी उल्लेख बहुतायत से आया है। यह यति भी श्रमण परम्परा के साधु ही सिद्ध होते हैं। जैन परम्परा में यह संज्ञा साधु के लिए ही प्रयुक्त होती आई है। यद्यपि आरम्भ में ऋषियों, मुनियों और यतियों के सम्बन्ध सौजन्यपूर्ण थे और वह समानरूप से पूजित थे किन्तु कालान्तर में यतियों के प्रति वैदिक परम्परा में आक्रोश भाव उत्पन्न हो गये। ताण्ड्य ब्राह्मण में उल्लेख है कि इन्द्र व यतियों के बीच शत्रुता थी।[120] इन्द्र द्वारा यतियों को शालावृकों, शृंगालों व कुत्तों द्वारा नुचवाये जाने का उल्लेख है।[121] किन्तु इन्द्र के इस कार्य को देवताओं ने उचित नहीं समझा और इसके लिए इन्द्र का बहिष्कार भी किया।[122] ताण्ड्य ब्राह्मण के टीकाकारों ने यतियों का अर्थ किया है—वेद विरुद्ध नियमोपेत, कर्मविरोधिजन, ज्योतिष्टोमादि अकृत्वा प्रकारान्तरेण वर्तमान आदि। इन विशेषणों से उनकी श्रमण परम्परा स्पष्ट हो जाती है। उपनिषद काल में यति तापस कह जाने लगे।[123] भगवद्गीता में इन्हें योगप्रवृत्त माना गया है। वह काम, क्रोध रहित, संयमचित्त व वीतराग कहे जाते थे।[124]

पुरातात्त्विक साक्ष्य

सिन्धुघाटी से प्राप्त मूर्तियों और कुषाणकालीन जैन मूर्तियों में अपूर्व साम्य है। कायोत्सर्ग मुद्रा जैन परम्परा की ही देन है। प्राचीन जैन मूर्तियां अधिकांशत: इसी मुद्रा में प्राप्त होती हैं। मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त मूर्तियों की विशेषता यह है कि वे कायोत्सर्ग अर्थात खड़ी मुद्रा में हैं, ध्यानलीन हैं और नग्न हैं। खड़े रह कर कायोत्सर्ग करने की पद्धति भी जैन परम्परा में बहुप्रचलित है। इसी मुद्रा को स्थान या ऊर्ध्वस्थान कहा जाता है। पतंजलि ने जिसे आसन कहा है जैनाचार्य उसे स्थान कहते हैं।[125] स्थान का अर्थ है गति—निवृत्ति जिसके तीन प्रकार हैं—

1. उर्ध्वस्थान—खड़े होकर कायोत्सर्ग करना।
2. निषीदन स्थान—बैठकर कायोत्सर्ग करना।
3. शयनस्थान—सोकर कायोत्सर्ग करना।

पर्यंकासन अथवा पद्मासन जैनमूर्तियों की विशेषता है। धर्म परम्पराओं में योगमुद्राओं का विभेद होता था। उसी के सन्दर्भ में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—प्रभो! आपकी पर्यंकासन और नासाग्र दृष्टिवाली योगमुद्रा को भी परतीर्थिक नहीं समझ पाये हैं तो भला वे और क्या सीखेंगे?[126] प्रोफेसर प्राणनाथ ने मोहनजोदड़ो की एक मुद्रा पर जिनेश्वर पढ़ा है।[127] डेल्फी से प्राप्त एक मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा में है, ध्यानलीन है और उसके दोनों कन्धों पर ऋषभ की भांति केशराशि लटकी हुई है। डा० कालीदास नाग ने इसे जैन मूर्ति के अनुरूप बताया है। यह लगभग दस हजार वर्ष पुरानी है।[128] यह भी श्रमण संस्कृति की सुदीर्घ परम्परा के प्रमाण हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त मूर्तियों के सिर पर नागफण का अंकन है। यह नागवेश के सम्बन्ध का सूचक है। सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व के सिर पर सर्पमण्डल का छत्र था।[129] नागजाति वैदिक काल से पूर्ववर्ती भारतीय जाति थी। उसके उपास्य ऋषभ, सुपार्श्व और तीर्थंकर भी प्राग्वैदिक काल में हुए।[130] इससे भी हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि श्रमण परम्परा वैदिक काल से पूर्ववर्ती थी।

यह भी प्रमाणित है कि जैनों का इतिहास महावीर से बहुत प्राचीन था तथा विद्यमान श्रमण परम्परा से प्रादुर्भूत हुआ था।

श्रमणों के प्रकार

जैन साहित्य में श्रमणों के पांच विभाग बताये गये हैं[131]—

1. निर्ग्रन्थ जैनमुनि (णिग्गंथ, खमण)
2. शाक्य—बौद्ध भिक्षु (राबल, रूपड)
3. तापस—जटाधारी बनवासी तपस्वी (तापस, वणवासी)
4. गैरुक—त्रिदण्डी परिव्राजक (गेरुअ परिवाजय)
5. आजीवक—गोशालक के शिष्य—(आजीवय, मंडराभिक्खु)[132]

निशीथचूर्णि में अन्य तीर्थंकर श्रमणों के तीस गणों का उल्लेख मिलता है।[133] बौद्धत्रिपिटक से यह प्रकट है कि बुद्ध के समय में भारतवर्ष में श्रमणों के तिरसठ सम्प्रदाय विद्यमान थे। जिनमें छः बहुत प्रसिद्ध थे।

बुद्ध के अतिरिक्त श्रमण संघ के छः अन्य धर्मोपदेशकों का उल्लेख मिलता है।[134] इन छः सम्प्रदायों के आचार्य थे पूरणकस्सप, मंक्खली गोशाल, अजितकेश कम्बलि, पकुध कच्छायन, निर्ग्रन्थनाथपुत्र 'महावीर' और संजय बेलट्ठिपुत्त।

दशवैकालिक निर्युक्ति में श्रमण के अनेक पर्यायवाची नाम बतलाये गये हैं। प्रव्रजित, अणगार, पाषण्ड, चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, संयत, मुमुक्षुव्रत, तीर्ण, द्रव्य, मुनि, त्रायी, शान्त, दान्त, विरत, रुक्ष एवं तीरस्थ।[135] इन नामों में चरक, तापस, परिव्राजक आदि शब्द निर्ग्रन्थों से भिन्न श्रमण सम्प्रदाय के सूचक हैं। श्रमण के एकार्थवादी शब्दों में सबका संकलन किया गया है।[136]

जैन श्रमण

तत्वार्थसूत्र[137] तथा स्थानांगसूत्र[138] में जैन श्रमणों के पांच भेद बताये गये हैं। यथा—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ तथा स्नातक।

पुलाक

निःसार धान्यकणों की भांति जिसका चरित्र निःसार हो उसे पुलाक निर्ग्रन्थ कहते हैं। इसके दो भेद हैं—लब्धिपुलाक तथा प्रतिषेवापुलाक। संघ सुरक्षा के लिए पुलाक लब्धि का प्रयोग करने वाला लब्धिपुलाक कहलाता है तथा ज्ञान की विराधना करने वाला प्रतिषेवापुलाक कहलाता है। इससे भी उत्तर पांच अन्य भेद हैं।

1. *ज्ञान पुलाक*—स्खलित, मिलित आदि ज्ञान के अतिचारों का सेवन करने वाला।
2. *दर्शनपुलाक*—सम्यक्त्व के अतिचारों का सेवन करने वाला।

3. *चरित्र पुलाक*—मूलगुण तथा उत्तरगुण दोनों में ही दोष लगाने वाला।
4. *लिंग पुलाक*—शास्त्रविहित उपकरणों से अधिक उपकरण रखने वाला या बिना ही कारण अन्य लिंग को धारण करने वाला।
5. *यथासूक्ष्म पुलाक*—प्रमादवश अकल्पनीय वस्तु को ग्रहण करने का मन में भी चिन्तन करने वाला या उपर्युक्त पांचों अतिचारों में से कुछ-कुछ अतिचारों का सेवन करने वाला।

बकुश

शरीरविभूषा आदि के द्वारा उत्तरगुणों में दोष लगाने वाला बकुश निर्ग्रन्थ कहलाता है। इसके चरित्र में शुद्धि और अशुद्धि दोनों का सम्मिश्रण होने के कारण विचित्र वर्ण वाले चित्र की तरह विचित्रता होती है। बकुश पांच प्रकार के होते हैं।[139]

1. *आभोग बकुश*—जानबूझ कर शरीर की विभूषा करने वाला।
2. *अनाभोग बकुश*—अनजाने में शरीर की विभूषा करने वाला।
3. *संवृत बकुश*—छिप-छिप कर शरीर की विभूषा करने वाला।
4. *असंवृत बकुश*—प्रकट रूप में शरीर की विभूषा करने वाला
5. *यथासूक्ष्म बकुश*—प्रकट या अप्रकट में शरीर आदि की सूक्ष्म विभूषा करने वाला।

कुशील

मूल तथा उत्तरगुणों में दोष लगाने वाला कुशील निर्ग्रन्थ कहलाता है। इसके प्रमुख रूप से दो प्रकार हैं—प्रतिषेवना कुशील तथा कषाय कुशील।

प्रतिषेवना कुशील[140]

1. *ज्ञान कुशील*—काल, विनय आदि ज्ञानाचार की प्रतिपालना नहीं करने वाला।
2. *दर्शन कुशील*—निष्काक्षित आदि दर्शनाचार की प्रतिपालना नहीं करने वाला।
3. *चरित्र कुशील*—कौतुक, मूर्तिकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, आजीविका, कल्ककुरुका, लक्षण, विद्या तथा मन्त्र का प्रयोग करने वाला।
4. *लिंग कुशील*—वेष से आजीविका करने वाला।
5. *यथासूक्ष्म कुशील—अपने को तपस्वी आदि कहने से हर्षित होने वाला।*

कषाय कुशील

1. *ज्ञान कुशील*—संज्वलन कषाय वश ज्ञान का प्रयोग करने वाला।
2. *दर्शन कुशील*—संज्वलन कषाय वश दर्शन का प्रयोग करने वाला।
3. *चरित्र कुशील*—संज्वलन कषाय से आदिष्ट होकर किसी को शाप देने वाला।
4. *लिंग कुशील*—कषाय वश अन्य साधुओं का वेश करने वाला।
5. *यथासूक्ष्म कुशील*—मानसिक रूप से संज्वलन कषाय करने वाला।

निर्ग्रन्थ (निगण्ठ)

जिन्होंने राग द्वेष के बन्ध खोल दिये हों और अन्तर्मुहूर्त में केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं।[141] जिनके मोहनीय कर्म छिन्न हो गये हैं।[142] किसी भी ग्रन्थि में न बंधे होने के कारण यह निर्ग्रन्थ, निगण्ठ या जैन कहे जाते थे।[143] आचारांग में निर्ग्रन्थ के लिए कहा गया है कि वह आत्मवादी है, लोकवादी है, कर्मवादी है, क्रियावादी है।[144]

स्नातक

जिन्होंने सर्वज्ञता को पा लिया है वे स्नातक तथा निर्ग्रन्थ हैं। स्नातक पांच प्रकार के होते हैं[145]:

1. *अच्छवी*—काययोग का निरोध करने वाला।
2. *अशबल*—निरतिवार साधुत्व का पालन करने वाला।
3. *अकर्माश*—घात्यकर्मों का पूर्णतः क्षय करने वाला।
4. *संशुद्धज्ञानदर्शनधारी*—अर्हत, जिन, केवली।
5. *अपरिश्रावी*—सम्पूर्ण काय योग का निरोध करने वाला।

श्रमण इन्द्रियमुण्ड, अपरिग्रही, अकिंचन, शील से सुगन्धित और हिंसा भीरु थे।[146] स्थानांग सूत्र[147] में श्रमण के गुणों से युक्त दस प्रकार के मुण्ड बताये हैं—

1. *क्रोधमुण्ड*—क्रोध का अपनयन करने वाला।
2. *मानमुण्ड*—मान का अपनयन करने वाला।
3. *मायामुण्ड*—माया का अपनयन करने वाला।
4. *लोभमुण्ड*—लोभ का अपनयन करने वाला।
5. *शिरमुण्ड*—शिर के केशों का लुंचन करने वाला।

6. *श्रोत्रेन्द्रियमुण्ड*—कर्णेन्द्रिय के विकारों का अपनयन करने वाला।
7. *घ्राणेन्द्रिय मुण्ड*—घ्राणेन्द्रिय के विकारों का अपनयन करने वाला।
8. *रसेन्द्रिय मुण्ड*—रसेन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
9. *चक्षुइन्द्रिय मुण्ड*—चक्षु के विकार का अपनयन करने वाला।
10. *स्पर्शेन्द्रिय मुण्ड*—स्पर्शेन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।

आगमकालीन चिन्तन धाराएं

डा. सुकुमार दत्त के शब्दों में छंठी शताब्दी ई. पूर्व का युग एक बौद्धिक और आध्यात्मिक क्रान्ति का युग था। जबकि ब्राह्मण और श्रमण आचार्य और भिक्षु नाना धार्मिक, दार्शनिक मतों की उद्भावना और नाना नवीन मार्गों और सम्प्रदायों का प्रचार कर रहे थे।[148] यह भी निर्विवाद है कि आगमकालीन भारतीय चिन्तना का और जैन धर्म का मूल आध्यात्मिक जिज्ञासा था, उपनिषद्, बौद्ध धर्म और जैन धर्म इस विकल जिज्ञासा के सुपरिणाम हैं। इतना भी निश्चित ही है कि इस युग के चिन्तक जीवन को अनिवार्यत: दु:ख का पर्याय मानते थे और इस दु:खसन्तप्तता से मुक्ति ही उनके दर्शन का केन्द्रबिन्दु थी। किन्तु इन विविध विचारकों के मतभेद केवल इस विषय पर थे कि बन्धन के कारण क्या हैं और मुक्ति के उपाय क्या हैं।

महावीर और बुद्धकालीन प्रमुख श्रमण सम्प्रदाय भूतवादी, तज्जीव तच्छरीरवादी, आत्मषष्टवादी, आत्माद्वैतवादी, सांख्यवादी, ईश्वरवादी तथा नियतिवादी थे।[149] इसके अतिरिक्त दु:खवादी, निवृत्तिवादी, निरीश्वरवादी, जीववादी और क्रियावादी अन्य प्रमुख सम्प्रदाय थे।[150] उनकी दार्शनिक निष्ठा का मूल आधार संसारवाद, कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त थे।

सूत्रकृतांगसूत्र[151] में अन्य मतमतान्तरों की चर्चा है जैसे क्रियावाद, अक्रियावादी, विनयवाद, अज्ञानवाद, वेदवाद, हिंसावाद, हस्तितापसवाद आदि। कहीं इनका संक्षेप में और कहीं विस्तार से उल्लेख हुआ है। परन्तु निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे विस्तार दिया और टीकाकार आचार्य शीलांक ने इन मतमतान्तरों की मान्यताओं का नामोल्लेख किया है।

आचार्य शीलांक का यह प्रयास दार्शनिक क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण है। टीकाकारों के अनुसार क्रियावादियों के एक सौ अस्सी सम्प्रदाय, अक्रियावादियों के चौरासी, अज्ञानवादियों के सड़सठ तथा विनयवादियों के बत्तीस उप सम्प्रदाय अथवा पंथ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर तीन सौ तिरसठ मतों की चर्चा सूत्रकृतांग सूत्र में है।[152] यह तीन सौ तिरसठ मत इस प्रकार हैं—

1. क्रियावाद

यह दर्शन जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इस प्रकार नौ तत्व मानता है। इसके अनुसार यह नौ पदार्थ स्वत: और परत: के भेद से दो प्रकार के हैं। पुन: सभी पदार्थ नित्य और अनित्य होते हैं—9 x 2 = 18 x 2 = 36। यह 36 पदार्थ काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा के भेद से पांच प्रकार के हैं—36 x 5 = 180। इस प्रकार क्रियावाद के कुल 180 भेद हुए।

2. अक्रियावाद

इस दर्शन के अनुसार पुण्य और पाप का स्थान जीवन में कुछ भी नहीं हैं। अत: इनके मत से कुल सात पदार्थ हुए। इनके दो भेद हैं—स्वत: और परत:। पुन: इसके काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा ये 6 भेद हैं। इस प्रकार अक्रियावाद के कुल 7 x 2 x 6 = 84 भेद हुए।

कालयद्दृच्छानियति स्वभाव वेश्वरात्मनश्चवतुरज्ञीति:।
नास्तिक्लादिगणमते न सन्ति भावा स्वपरसंस्था।।[153]

3. अज्ञानवाद

इस दर्शन में पूर्वोल्लिखित नौ पदार्थ स्वीकृत हैं। ये सभी पदार्थ सत्, असत् सदसत्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य, सदा-सदवक्तव्य के भेद से सात प्रकार के हैं। इनके अतिरिक्त 1 सती भावोत्पत्ति: को वेत्ति। किं वा न्या ज्ञातया। 2 असतो भावोत्पत्ति: को वेत्ति। किं वा न्या ज्ञातया। 3 सदसती भावोत्पत्ति: को वेत्ति। किं वा नया ज्ञातया। 4 अवक्तव्या भावोत्पत्ति: को वेत्ति:। किं वा न्या ज्ञातया। यह चार भेद भी हैं। इस प्रकार (9×7)+4 = 67 भेद अज्ञानवाद के हैं।

अज्ञानकवादिमतं नव जीवादीन् सदादिसप्तविधान्।
भावोत्पत्ति: सदसद्भैवा वाच्या च कोवेत्ति।।[154]

4. विनयवाद

इस दर्शन में विनय से ही मुक्ति प्रदर्शित की गयी है। यह विनय सुर, नृपति, यति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता और पिता के प्रति मन, वचन, काय और दान

के भेद से चार प्रकार की है। अत: वैनयिकवाद के 8 x 4 = 32 भेद हुए।

वैनयिकमतं विनयश्चेतोवाक् कायदानत: कार्य: ।
सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु सदा ।।[155]

पालि साहित्य में श्रमणों के चार प्रकार बताये गये हैं—मग्गजिन, मग्गदेसिन, मग्गजीविन और मग्गदूसिन।[156] इनमें पारस्परिक मतभेद उत्पन्न होने के फलस्वरूप अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए, जिन्हें बुद्ध ने ''द्विट्ठि'' की संज्ञा दी।[157] इन सभी विवादों का संकलन बासठ प्रकार की मिथ्यादृष्टियों (मिच्छादिटठि) में किया गया है। जैन साहित्य में इन्हीं दृष्टियों को विस्तार से 363 श्रेणियों में विभक्त कर समझाने का प्रयत्न किया गया है।[158] ठाणांग में श्रमणों के पांच भेद निर्दिष्ट हैं। निगण्ठ (जैन) (सक्क बौद्ध) तापस, गेरु और परिव्राजक।[159] सुत्तनिपात में इनके तीन भेद मिलते हैं—तित्थिय, आजीविक और निगण्ठ। इन्हें वादसील कहा गया है।[160]

भगवान महावीर पालि निगण्ठ नाथयुत्त के समकालीन पूरणकस्सप, मक्खलिगोशाल, अजितकेशकम्बलि, पकुधकच्छायन, संजयबेलट्ठिपुत्त और महात्मा बुद्ध रहे हैं। त्रिपिटक में इन सभी आचार्यों को सङ्घीचैव गणी च, गणाचारियो च, या तो, यसस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तजं, चिर पब्बजितो, अद्धगतो वयोनुपतो'' कहा गया है। इनमें अधिकांश आचार्य श्रमण परम्परा से सम्बद्ध हैं।

उक्त छ: शास्ताओं के अतिरिक्त कुछ शास्ता और भी थे जो अपने मतों का प्रवर्तन और प्रचार समाज में कर रहे थे। ब्रह्मजालसुत्त के बासठ दार्शनिक मत इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इन्हें भी गम्भीर, दुर्बोध आदि कहा गया है। यह मत इस प्रकार हैं—

(1) पुज्जन्तानुदिट्ठी अठारस हि वत्थूहि—		
(अ) सस्सतवाद	4	
(ब) एकच्चसस्सतवाद	4	
(स) अनन्तानन्द वाद	4	18
(द) अमराविकसेपवाद	4	
(य) अधिच्चसमुप्पन्नवाद	2	
(2) अपरन्तानुदिट्ठि चतुचतारीयसाय वत्थूहि—		
(अ) उद्धमाघातनिका सन्जीवादा	16	
(ब) उद्धमाघातनिका असन्जीवादा	*8*	

(स) उद्धमाघातनिका नेवसंजीना सन्जीवादा	8	44	18 = 62
(द) उच्छेदवाद	7		
(य) दिट्ठधम्मनिब्बानवाद	5		

इसके अतिरिक्त यज्ञ, भूत, प्रेत, पशु आदि की भी पूजा की जाती थी। इसके अतिरिक्त भी अन्य अनेक सम्प्रदाय थे जो लुप्त हो गये।

क्रियावाद

भगवान महावीर के वचनों को उद्दिष्ट कर चूर्णिकार कहते हैं कि क्रियावादी मतों के एक सौ अस्सी भेद हैं।[160] उनमें से कुछ आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं, कुछ मूर्त, कुछ अमूर्त, कुछ श्यामाक परिमाण, कुछ तंदुल परिमाण और कुछ अंगुष्ठ परिमाण मानते हैं।[161] कुछ लोग आत्मा को दीपशिखा के समान क्षणिक मानते हैं।[162]

क्रियावादियों के अनुसार शरीर तन्त्र कर्म से संचालित होता है। कर्मतन्त्र क्रिया से संचालित होता है। इस संसार की विविधता या परिवर्तन का मूल हेतु क्रिया है। जीव में जब तक प्रकम्पन, स्पन्दन, क्षोभ और विविध भावों का परिणमन होता है, तब तक वह कर्म परमाणुओं से बंधता रहता है। वह कर्म परमाणुओं से बद्ध होता है, तब नाना योनियों में अनुसंचरण करता है। आत्मा के अस्तित्व का स्पष्ट लक्षण है—अनुसंचरण या पुनर्जन्म। उसका हेतु है—कर्मबन्ध और उसका हेतु है—क्रिया। यह सब लोक में ही घटित होती है।[163]

इस मत के समर्थक मानते हैं कि दु:ख उन्हीं को होता है जो कार्य को ठीक से नहीं समझते। एक व्यक्ति जो जीव को मारने का निश्चय करता है लेकिन मारता नहीं और एक अन्य व्यक्ति जो किसी को मारना नहीं चाहता है किन्तु अनजाने में मार बैठता है, दोनों ही कर्म से प्रभावित हैं पर दोनों के दुष्परिणाम विकसित नहीं हैं क्योंकि ज्ञानहीन क्रिया और क्रियाहीन ज्ञान फलवान नहीं होता है।[165] क्रियावादियों के अनुसार अभिप्रेरक के अनुसार कर्मबन्ध होता है। चाहे हत्या नहीं की जाये किन्तु हत्या के विचार से भी कर्माश्रव आत्मा को ढक लेता है। मानसिक अथवा शारीरिक क्रिया मात्र से भी कर्म का परिपाक होता है।[166]

यही कारण है कि बौद्ध धर्म कर्म में विश्वास करता है क्रिया में नहीं। उसके समर्थक महावीर को कर्मवादी, क्रियावादी कह कर पुकारते हैं क्योंकि जैन धर्म में सभी तत्व चैतसिक हैं। अत: प्रत्येक कर्म और क्रिया बन्धन उत्पन्न करती है।[167] जैन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने के साथ ही उसे अपरिवर्तनीय भी मानते हैं।[168] शीलांक के अनुसार क्रियावादी यह मानते हैं कि बिना ज्ञान के भी केवल

क्रिया से या कार्यों से व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है।[169] महावग्ग में जैनों को क्रियावादी बताया गया है।[170]

अक्रियावाद

अक्रियावाद के अनुसार आत्मा का अस्तित्व नहीं है।[171] अक्रियावाद का समीकरण बौद्धों के क्षणिकवाद से किया जाता है।[172] अक्रियावादियों के मत में सूर्योदय नहीं होता, न ही वह अस्त होता है। न पूर्णिमा होती है, न अमावस्या। न नदी बहती है न हवा चलती है। यह सारा संसार मिथ्या है।[173] इस मत की आलोचना करते हुए जैन दार्शनिक कहते हैं कि अन्धा व्यक्ति प्रकाश होने पर भी आंख नहीं होने से रंग नहीं देख सकता वैसे ही अक्रियावादी उन्मार्गी होने से आत्मा की क्रिया नहीं देख सकते यद्यपि उसका अस्तित्व है।[174]

अक्रियावाद[175] के प्रतिपादक पूरणकास्सप थे। इनका विश्वास था कि कुछ भी करने से पाप अथवा पुण्य नहीं होता। अक्रियावादियों को जैन आचार्य आदर से नहीं देखते।

अज्ञानवाद

अज्ञानवादी अप्रत्यक्ष विषय को निश्चित ज्ञान का अगोचर समझते थे।[176] सूत्रकृतांग के प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की छठी गाथा से जिस वाद की चर्चा आरम्भ होती है वह अज्ञानवाद है। निर्युक्तिकार के अनुसार नियतिवाद के बाद क्रमशः अज्ञानवाद, ज्ञानवाद एवं बुद्ध के धर्म की चर्चा आती है। निर्युक्तिकार निर्दिष्ट ज्ञानवाद की चर्चा चूर्णि अथवा वृत्ति में कहीं भी दिखाई नहीं देती। समवसरण नामक अध्ययन में जिन मुख्य चार वादों का उल्लेख है उसमें अज्ञानवाद का भी समावेश है। इस वाद का स्वरूप वृत्तिकार ने इस प्रकार बताया है कि अज्ञानमेव श्रेयः अर्थात अज्ञान ही कल्याण रूप है। अतः कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान प्राप्त करने से उल्टी हानि होती है, ज्ञान न होने पर बहुत कम हानि होती है। महावीर ने क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी सिद्धान्तों को समझकर अपना अनुशासन किया।[177]

सूत्रकृतांग के अनुसार पार्श्वस्थ जिन्हें उचित अनुचित का विवेक नहीं है, ज्ञानोपदेश देते हैं किन्तु यह तो अन्धे का अन्धे को ज्ञान है क्योंकि उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि लोभ, मान, छल और क्रोध को त्याग कर ही कर्मों से मुक्त हुआ जाता है। इस सिद्धान्त को अज्ञानी हिंसक पशु के समान समझते नहीं हैं।[178] यह अयोग्य

विधर्मी और अज्ञानी स्त्रीदास हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार फोड़े को दबाना या

उस पर सेक कुछ समय के लिए आराम पहुंचाता है और इससे कोई हानि भी नहीं होती उसी प्रकार की स्थिति स्त्रियों के साथ आनन्द की है।[179] जैनमत में मुक्ति के लिए ज्ञान आवश्यक नहीं है किन्तु तप आवश्यक है। तप ही कर्मपथ है। अज्ञानवादियों के अनुसार परलोक, औपपातिक जीव, कर्म तथा मुक्ति के बाद की अवस्था इन विषयों का निश्चित ज्ञान असम्भव है।[180]

''माहण समणा एगे सव्वे नाणं सयं वए। सव्व लोगे वि जे पाणानते जाणांति किंचण''—अर्थात् कुछ श्रमणों एवं ब्राह्मणों की दृष्टि से उनके अतिरिक्त सारा जगत अज्ञानी है।[181] यह अज्ञानवाद की भूमिका है। भगवान महावीर के समकालीन छः तीर्थंकरों में से संजयवेलट्ठि पुत्र नामक विचारक अज्ञानवादी था। सम्भवतः उसी को निर्दिष्ट करने के लिए इस गाथा की रचना हुई हो। उसके मतानुसार तत्वविषयक अज्ञेयता अथवा अनिश्चितता अज्ञानवाद की आधारशिला है। यह मत पाश्चात्य दर्शन के अज्ञेयवाद अथवा संशयवाद से मिलता जुलता है। संजय के कुछ विषयों को 'चतुष्कोटि' का सिद्धान्त[182] बौद्धों तथा जैनों के परवर्ती विचारों पर प्रकारांतर से प्रभाव डाले बिना नहीं रहा।[183] जैनों का यदृच्छावाद तथा बौद्धों का प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त ऐसे ही विचारकों के मत थे। इस दृष्टि से मोक्ष बन्धन के समान प्रारब्ध से नियन्त्रित और पुरुषार्थहीन हो गया। कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद तीनों इसके अन्तर्गत हो गए।

नियतिवाद

व्यक्ति के जीवन के विषय में यह आस्था पुरानी और विश्वव्यापी रही है कि वह एक पूर्व निर्धारित भाग्य के अनुसार एक निश्चित भविष्य की ओर गतिशील होता है। इस धारणा में व्यक्ति के जीवन का अन्त या सार्थक जीवन का अन्त मृत्यु में हो जाता है तथा उसमें विकासात्मक लक्ष्य कोई स्थान नहीं पाता न ही मनुष्य अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी होता है। इसे दर्शन की भाषा में नियतिवाद कहते हैं। यह नियतिवाद प्रारब्ध कर्मों पर निर्भर था। पुरुषार्थ की इसमें अपेक्षा ही नहीं थी।

जैनागमानुसार नियतिवादियों की मान्यता थी कि भिन्न-भिन्न जीव जो सुख और दुख का अनुभव करते हैं, यथा प्रसंग व्यक्तियों का जो उत्थान और पतन होता है, यह सब जीव के अपने पुरुषार्थ के कारण नहीं होता है। इस सबका कर्ता जीव स्वयं नहीं है, बल्कि नियति है। जहां पर जिस प्रकार तथा जैसा होने का समय आता है वहां पर उस प्रकार और वैसा ही होकर रहता है। उसमें व्यक्ति के पुरुषार्थ, काल अथवा कर्म आदि कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते। जगत में सब कुछ नियत है। अनियत कुछ भी नहीं है। सूत्रकृतांग सूत्र के अनुसार क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों ही नियतिवादी हैं क्योंकि नियतिवाद के अनुसार क्रिया

तथा अक्रिया दोनों का कारण नियति है। अतएव नियतिवादी मानते हैं कि जो साधक तपस्वी अकेला निर्द्वन्द्व होकर विचरण करता है, वह चाहे कच्चा पानी पीए, चाहे बीजकाय वनस्पति का सेवन करे, चाहे स्त्रियों का संसर्ग एवं सेवन करे, उसे किसी प्रकार का पापदोष नहीं लगता।[184] भगवान महावीर के युग में गोशालक का भी यही मत था[185] जिसका उल्लेख भगवतीसूत्र आदि अन्य आगमों में भी उपलब्ध होता है। निश्चय ही नियतिवाद की यह परम्परा गौशालक से पूर्व भी रही होगी[186] गोशालक ने इसी सिद्धान्त को अपने मत का आधार बनाया था। सूत्रकृतांग के द्वितीय उद्देशक के आरम्भ में नियतिवाद का उल्लेख है। मूल में इसके प्रणेता गौशालक का कहीं भी नाम नहीं है।[187] उपासकदशा नामक सप्तम अंग में गोशाल तथा उसके मत का नियतिवाद के नाम से उल्लेख है।[188] इसमें बताया गया है कि गोशालक के अनुसार बल, वीर्य, उत्थान कर्म आदि कुछ नहीं है। सब भाव सदा के लिए नियत हैं। बौद्धग्रन्थ सामंज्जफल सुत्त में अजातशत्रु ने मक्खली गोशाल के मत को संसारविशुद्धि का मत कहा है।[189]

जैन श्रमणों का मत था कि सजीव जल का प्रयोग हिंसा है। अदत्तादान है। जबकि आजीवकों का मत था कि जल सजीव नहीं है अत: इसका प्रयोग करना न हिंसा है और न अदत्तादान। वह इस जल का उपयोग कर सकते हैं, फिर भी केवल पीने के लिए इसका उपयोग करते थे।[190] आजीवकों का नीतिशास्त्र कुछ भी रहा हो किन्तु यह निश्चित है कि वह कठोर तप का अभ्यास करते थे जिसका परिणाम जैनों के समान अनशन मरण होता था।[191]

जैन ग्रन्थों में आजीवक अक्रियावादी कहे गये हैं। आजीवकों का निगण्ठों अर्थात् जैनों से विशेष सम्बन्ध था। गोशाल और भगवान महावीर न केवल परिचित थे अपितु कुछ वर्षों तक एक साथ रहे थे।[192] आजीवकों के अनेक सिद्धान्त निगण्ठों में भी स्वीकृत हुए। आजीवक छ: अभिजातियों[193] में विश्वास करते थे। वही निगण्ठों में लेश्याओं के रूप में प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार सत्व, प्राण भूत और जीव इन चारों पदों का सहप्रयोग, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों का वर्गीकरण और सिद्धों की सर्वज्ञता में विश्वास आदि धारणाएं भी समान हैं। किन्तु जहां आजीवक अक्रियावादी थे और जीव को रूपी मानते थे वहीं निगण्ठ क्रियावादी थे और जीव को अरूपी मानते थे।[194]

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रमेण यो र्थ:, सो वश्य भवति नृणां शुभो वा।
भूतानां महति कृपे पि हि प्रयत्ले, नाभाव्यं भवति, न भावितो अस्तिनाश:।।

जब हम यह देखते हैं कि बहुत से मनुष्य अपने अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए समान रूप से प्रयोग करते हैं परन्तु किसी के कार्य की सिद्धि होती है और

किसी के नहीं होती तब यह मानना पड़ता है कि मनुष्य के कार्य या अकार्य की सिद्धि या असिद्धि नियति के हाथ में है। अत: नियति को छोड़कर काल, ईश्वर, कर्म आदि को सुख-दुख का कारण मानना अज्ञान है। सब कुछ नियति के प्रभाव से ही प्राणी को प्राप्त होता है। अत: नियतिवादी सुख-दुख प्राप्त होने पर इस प्रकार सोचता है यह मेरे किए हुए कर्मों का फल नहीं है अपितु इसका कारण नियति है। क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों नियति के अधीन हैं। इस जगत में कोई ऐसा प्राणी नहीं है जिसे अपनी आत्मा अप्रिय हो। ऐसी दशा में कौन प्राणी अपने आप को कष्ट देने वाली क्रिया में प्रवृत्त होगा? परन्तु कष्ट मिलता है। अतएव यह सिद्ध है कि नियति की प्रेरणा से ही जीव को दुखजनक क्रिया में प्रवृत्ति करनी पड़ती है। जीव स्वाधीन नहीं नहीं है। वह नियति के वशीभूत है। नियति की प्रेरणा से ही जीव को सुख-दुख मिलते हैं। शुभ कार्य करने वाले दुखी और अशुभ कार्य करने वाले सुखी समझे जाते हैं, इससे भी नियति की प्रबलता सिद्ध होती है।

इस प्रकार जैनों की दृष्टि में नियतिवादी क्रिया, अक्रिया पुण्य, पाप सुकृत, दुष्कृत आदि का कोई विचार नहीं करते। परलोक या पाप के दण्ड का भय न होने के कारण वह बेखटके नाना प्रकार के सावद्य कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, शब्दादि विषयभोगों में प्रवृत्त होते हैं। अपने सुखभोग के लिए वह बुरे से बुरे कृत्य करने में नहीं हिचकिचाते। सुख-दुख का कारण नियति को मानने से उन्हें कोई दुख नहीं होता, न परलोक की चिन्ता होती है। जिस प्रकार एक सूत का गोला फेंक देने पर अपनी स्वत: नियति से नियंत्रित होता है उसी प्रकार यह संसार एक अन्तर्भूत नियति से स्वत: नियन्त्रित हो रहा है। प्रत्येक मनुष्य के सुख-दु:ख की मात्रा नियत है।[195] इस वर्णन का सार यह है कि गोशालक ने एक विशिष्ट पन्थ प्रवर्तक के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त की।[196] गोशालक का आजीवक सम्प्रदाय राज्य मान्य भी हुआ। प्रियदर्शी राजा अशोक एवं उसके उत्तराधिकारी दशरथ ने आजीवक सम्प्रदाय को दान दिया था ऐसा उललेख शिलालेखों में आज भी उपलब्ध है।[197] बौद्धग्रन्थ महावंश की टीका में यह बताया गया है कि अशोक का पिता बिन्दुसार भी आजीवक सम्प्रदाय का आदर करता था। वराहमिहिर[198] के ग्रन्थ में भी आजीवक भिक्षुओं का उल्लेख है। आजीवक सम्प्रदाय, त्रिराशिक मत और दिगम्बर परम्परा इन तीनों में कालान्तर में कोई भेद नहीं रहा। शीलांक व अभयदेव जैसे विद्वान वृत्तिकार तक इनका भेद नहीं बता सके।[199]

होर्नले आजीवकों के अध्ययन में बताते हैं कि वह 'हत्थापलेखन'[200] करते थे। जिसका अर्थ है कि आजीवक कमण्डल या भिक्षापात्र नहीं रखते थे किन्तु होर्नले की इस व्याख्या की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि उवासगदसाओं में गोशाल को भिक्षापात्र (माण्डम) ले जाते हुए दर्शाया गया है।[201] सूत्रकृतांग की व्याख्या करते हुए शीलांक का कथन है कि इसमें आजीवक या

दिगम्बर का ऐसा वर्णन है कि वह पात्र में से (अनुमान से गृहस्थों के पात्र से) भोजन करने के लिए लांछित किये गये हैं।[202]

सूत्रकृतांग में ही आर्द्रक और गोशालक के वार्तालाप के मध्य भी आजीवकों को इस पाप का दोषी बताया गया है कि वह ऐसे भोजन के लिए इच्छुक रहते हैं जो विशेष रूप से उन्हीं के लिए बनाया गया हो।[203] वस्तुत: बौद्धों के विचार में अचेलकों के भोजन समबन्धी विचार व्यर्थ थे, बल्कि उपहासात्मक थे। वहीं जैनों के विचार में आजीवकों का आचार गृहस्थों से कुछ ही बेहतर था तथा कठोरता की दृष्टि से ढीला था।

लोकायत मत भौतिकवाद या चार्वाक

महावीर के काल में पूर्णतया भौतिकवादी चार्वाक अथवा लोकायत मत सुविख्यात था जो आत्मा, देवता तथा भविष्य जीवन के अस्तित्व को अस्वीकार करता था।[204] इस मत की ओर इंगित करते हुए सूत्रकृतांग में उल्लेख है कि इस मत के मानने वाले केवल पांच महाभूतों की सत्ता में ही विश्वास करते हैं। उनके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच महाभूत से ही नए तत्व आत्मा का आर्विभाव होता है।[205]

वस्तुत: लोकायतिक मनुष्य को एक प्राकृतिक और सामाजिक प्राणी मानते थे न कि एक अप्राकृतिक आध्यात्मिक जीव। फलत: उसने मनुष्य का चरम भाग्य लोकोत्तर न मानकर सर्वथा लौकिक ही माना है। उपयासपूर्वक सुख का उपभोग ही इनका मूलप्रेरक था। लोकायतिक व्यक्ति के लिए सुखभोग के अधिकतम सम्पादन पर और राज्य के लिए अर्थ के अधिकतम संग्रह पर बल देते थे।[206]

इसी मत को बौद्धग्रन्थों में नामान्तर से उच्छेदवाद कहा गया है। यह मत आत्मा के अविनाशी और शाश्वत सिद्धान्त का विरोधी था। इस मत के अनुसार पंचस्कन्धरूप शरीर के उच्छेद के साथ कुछ भी शेंष नहीं रहता। सामंज्जफल सुत में अजितकेशकम्बलि नामक आचार्य का उल्लेख मिलता है।[207] इसी प्रकार बौद्ध और जैन ग्रन्थों में पायासि पएसि नामक भौतिकवादी विचारक का उल्लेख आता है जो आत्मा की सत्ता को प्रत्यक्ष की कसौटी पर जांचना चाहता था।[208] उत्तरकाल में विकसित लोकायत चार्वाक मत के अनुसार भी प्रत्यक्ष ही प्रमाण था। इतना निश्चित है कि आगमों की रचना के पूर्व नास्तिक भौतिकवादी विचारधारा अस्तित्वशील थी। यह विचार प्रत्यक्षवादी होने के कारण पुनर्जन्म स्वर्ग आदि में अविश्वास रखते थे। इसलिए लोकायतिक वैदिक यज्ञ आदि का उतना ही विरोध करते थे जितना बौद्ध और जैन।

वस्तुत: दर्शनशास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह रहा है कि यह लोक

क्या है? इसका निर्माण किसने किया और कैसे हुआ? सूत्रकृतांग में कहा गया है कि यह लोक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशरूप पांच भूतों का बना हुआ है।[209] इन्हीं के विशिष्ट संयोग से आत्मा का जन्म होता है और इसके वियोग से विनाश हो जाता है। पंच महाभूत किसी से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु अनिर्मित और अनिर्मापित हैं, शाश्वत और अपुरोहित हैं अर्थात् इनको प्रेरित करने वाला कोई दूसरा नहीं है। काल तथा ईश्वर आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों की कल्पना करना भी मिथ्या है।[210] वास्तव में इसी लोक में उत्तम सुख भोगा जाता है, यही स्वर्ग है तथा भयंकर रोग, शोक आदि पीड़ाएं भोगना नरक है, इससे भिन्न स्वर्ग या नरक कोई लोक विशेष नहीं है। अत: स्वर्ग लोक की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की तपस्या करना, व्यर्थ कष्ट सहना शरीर को निरर्थक क्लेश देना तथा नरक के भय से इस लौकिक सुख का त्याग करना अज्ञान है, मूढता है। शरीर में जिस चैतन्य की अनुभूति होती है, वह शरीर रूप में परिणत पांच महाभूत का ही गुण है, किसी अप्रत्यक्ष आत्मा का नहीं। शरीर का नाश होने पर उस चैतन्य का भी नाश हो जाता है। अत: नरक या तिर्यन्च योनि में जन्म लेकर कष्ट सहन करने का भय अज्ञान है।

तज्जीव तच्छरीरवादी

इस वाद के अनुसार संसार में जितने शरीर हैं, प्रत्येक में एक आत्मा है। शरीर की सत्ता तक ही जीव की सत्ता है। शरीर का नाश होते ही आत्मा का नाश हो जाता है। यहां शरीर को ही आत्मा कहा गया है। इसमें बताया गया है कि परलोक गमन करने वाला कोई आत्मा नहीं है। पुण्य और पाप का कोई भी अस्तित्व नहीं है। इस लोक के अतिरिक्त और कोई दूसरा लोक भी नहीं है।[211]

तज्जीव तच्छरीरवादी कहते हैं कि कुछ लोगों के अनुसार शरीर अलग है और जीव अलग हैं। वे जीव का आकार, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आदि कुछ भी नहीं बता सकते। यदि जीव शरीर से पृथक होता है तो जिस प्रकार म्यान से तलवार, मूंज से सींक तथा मांस से अस्थि अलग करके बताई जा सकती है, उसी प्रकार आत्मा को भी शरीर से अलग करके बताया जाना चाहिए। इस मत के अनुसार जीव और शरीर एक ही हैं तथा पांच भूतों से चेतना का जन्म होता है। अत: यह वाद भी चार्वाकवाद से मिलता-जुलता ही है।[212] इस प्रकार के वाद का वर्णन प्राचीन उपनिषदों में भी उपलब्ध होता है।

तज्जीव तच्छरीरवादी मानते हैं कि तलुओं से लेकर केशाग्र मस्तक तक जो शरीर दिखाई देता है वही जीव है। इस शरीर से भिन्न जीव या आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। शरीर और जीव वस्तुत: एक हैं, शरीर के मरने के साथ ही

जीव भी मर जाता है। शरीर के नष्ट होते ही जीव भी नष्ट हो जाता है। शरीर रहता है तभी तक जीव रहता है। यह प्रत्यक्ष है कि जब तक पांच भूतों वाला शरीर जीता है तभी तक यह जीव जीता रहता है। अत: शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व किसी भी प्रमाण से प्रमाणित नहीं होता। अपने मत के समर्थन में वह निम्न युक्तियां देते हैं—

1. मरने के पश्चात् मृत व्यक्ति को जलाने के लिए जो लोग श्मशान जाते हैं, वह उसे जलाकर अकेले घर लौटते हैं, उनके साथ मृत व्यक्ति का, जीव नामक कोई भी पदार्थ लौट कर नहीं आता।
2. जब शरीर का क्रियाकर्म होता है तब जीव नामक कोई पदार्थ शरीर छोड़कर अलग जाता हुआ दिखाई नहीं देता। शरीर के अतिरिक्त कोई जीव नहीं है। यही ज्ञान यथार्थ है और सर्वश्रेष्ठ प्रमाण प्रत्यक्ष से प्रमाणित है।
3. जो वस्तु अन्य से भिन्न है उसे अलग करके दिखाया जा सकता है। उदाहरण के लिए तलवार म्यान से भिन्न है और उसकी यह भिन्नता दिखाई जा सकती है किन्तु जो तत्वस्वरूप है उसे पृथक दिखाना शक्य है। यही कारण है कि आत्मा को शरीर से अलग करके नहीं दिखाया जा सकता।

इस प्रकार इन नास्तिकों तज्जीव तच्छरीरवादियों के अनुसार नाना प्रकार के दु:खों को सहन करना मूर्खता है। कोई क्रिया शुभ या अशुभ नहीं होती, न कोई पुण्य होता है और न पाप। न उसके फलस्वरूप स्वर्ग या नरक है। कर्म और उसके फलस्वरूप मोक्ष नहीं है, सुख और दुख भी नहीं है, पुण्य और पाप का फल भी नहीं है। अतएव नास्तिकों का कथन है, खूब खाओ, पीओ और मौज करो। शरीर नष्ट होते ही सब नष्ट हो जाता है। वापिस कोई लौटकर नहीं आता। सब उपभोग के साधन और सामग्री व्यर्थ हो जाते हैं। नरक से डरना मूर्खता है। कर्ज लेकर भी घी पीना चाहिए। नि:शंक होकर नास्तिक हिंसा आदि कुकृत्यों में रात-दिन पचा रहता है। विषय भोगों को प्राप्त करना ही बुद्धिमान का कर्तव्य है। उसके लिए नाना कुकर्म भी करने पड़े तो मत हिचकिचाओ। किन्तु जैनमत इस मत की कठोर आलोचना करते हुए इसे मिथ्यामत मानते हैं।[213]

सांख्यमत अथवा एकदण्डी मत

सांख्यवादी मानते थे कि पांच तत्व के अतिरिक्त आत्मा नामक छह तत्व हैं। यह छहों तत्व शाश्वत हैं, अविनाशी हैं। वस्तुएं नित्यभव हैं अर्थात् स्वभाव से ही सत हैं।[214] सांख्यवादियों के अनुसार पदार्थ की न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश

होता है। प्रत्येक पदार्थ स्थिर एवं स्वभावरूप कूटस्थनित्य है अर्थात् सभी पदार्थ एकान्तनित्य हैं।[215] सृष्टि ईश्वर की रचना नहीं अपितु जड़ और चेतन तत्व से बनी है।[216]

यद्यपि सांख्यवादी छह तत्वों आत्मा और पांच द्रव्य की सत्ता में विश्वास रखते हैं तथापि वह पांच भूतिकों से भिन्न नहीं हैं क्योंकि सांख्यमत आत्मा को निष्क्रिय मानकर पंचमहाभूतों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को ही सब कार्यों का कर्ता मानता है। सत्य, रजस और तमस यह तीन गुण संसार के मूल कारण हैं।[217] इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है और यह तीनों प्रकृति के गुण हैं। यह प्रकृति ही समस्त कार्यों का सम्पादन करती है। यद्यपि पुरुष या जीव नामक चेतन पदार्थ भी है तथापि पुरुष आकाशवत् व्यापक होने के कारण क्रियारहित है। वह प्रकृति द्वारा किये हुए कर्मों का फल भोगता है और बुद्धि द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों को प्रकाशित करता है। यह बुद्धि भी प्रकृति से भिन्न नहीं है किन्तु उसी का कार्य है अतएव त्रिगुणात्मिका है। बुद्धि भी तीन सूत्रों से बंटी रस्सी के समान सत्व, रजस और तमस इन तीन गुणों से बनी हुई है। इन तीन गुणों का सदा उपचय और अपचय होता रहता है। इसलिए यह तीनों गुण कभी स्थिर नहीं रहते। जब सत्व गुण की वृद्धि होती है तो मनुष्य शुभ कार्य करता है। रजोगुण की वृद्धि होती है तो पाप पुण्य मिश्रित कार्य करता है। पृथ्वी आदि पांच महाभूत इन तीनों गुणों द्वारा ही उत्पन्न हैं। अतः प्रकृति ही इन सबकी अधिष्ठात्री है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका होती है, उससे बुद्धि महत् तत्व, महत्व से अहंकार, अहंकार से पांच तन्मात्र, सूक्ष्मभूत तथा तन्मात्रों से पांच महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्री, पांच कर्मेन्द्री और मन उत्पन्न होता है। यों कुल चौबीस पदार्थ ही समस्त विश्व के परिचालक हैं। पच्चीसवां पुरुष भी एक तत्व है, पर वह भोग तथा बुद्धि से ग्रहीत पदार्थ को प्रकाशित करने के सिवाय कुछ नहीं करता।

ऐसी स्थिति में सांख्यमतानुसार प्रकृति ही समस्त कार्य करती है। पुण्य पाप आदि सभी क्रियाएं प्रकृति ही करती है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—से किण किणा वेमाणे, हयं धायमाणे—णत्थित्थ दोसौ। आशय यह है कि सांख्य दर्शन के मतानुसार भारी से भारी पाप करने पर भी पुरुष को उसका दोष नहीं लगता, वह तो निर्मल ही बना रहता है। पंचेन्द्रिय जीवों के घात का पाप पुरुष को नहीं लगता क्योंकि आत्मा निष्क्रिय है और सब कार्य प्रकृति ही करती है।

जैन विचारक इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह मत निःसार और युक्तिहीन है।[218] सांख्यवादी पुरुष को अचेतन तथा नित्य कहते हैं, भला अचेतन और नित्य प्रकृति विश्व को कैसे उत्पन्न और संचालित कर सकती है? क्योंकि वह ज्ञानरहित एवं जड़ है। सांख्य का आत्मा तो बेचारा पाप-पुण्य कुछ नहीं करता फिर उसे सुख-दुःख क्यों भोगने पड़ते हैं। जब वह निष्क्रिय है तो

भोक्ता कैसे हो सकता है? प्रकृति ने पुण्य-पाप किये हैं, तब उचित और न्याय संगत तो यही है कि प्रकृति ही उनका फल भोगे। प्रकृति के कृत पुण्य-पाप का फल यदि पुरुष भोगता है, तो देवदत्त के पुण्य-पाप का फल यज्ञदत्त क्यों नहीं भोगता? जड़ पदार्थ से विश्व की उत्पत्ति मानना भी असंगत है। सूत्रकृतांग में अन्यत्र सांख्य को एकदण्डी मत कहकर भी पुकारा गया है। इस मत के समर्थक आर्हत दर्शन की तुल्यता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि शरीर पुर है और उसमें जो निवास करता है वह पुरुष है, वह जीवात्मा है। यह जीवात्मा इन्द्रिय और मन से अग्राह्य होने के कारण अव्यक्त है। वह स्वत: अवयवों से युक्त नहीं है, वह सर्वलोकव्यापी एवं नित्य है तथा उसकी नाना योनियों में गति होती है तथापि उसके चैतन्यरूप का कभी नाश नहीं होता, अत: वह नित्य है। उसके प्रदेशों को कोई खण्डित नहीं कर सकता इसलिए वह अक्षय है। अनन्त काल बीत जाने पर भी उसके एक अंश का भी नाश नहीं होता, इसलिए वह अव्यय है। सभी भूतों से पूर्ण सम्बद्ध है, किसी एक अंश से नहीं क्योंकि वह निरंश है। यह विशेषण एकदण्डी मत में आत्मा को देकर उसे आर्हत दर्शन से श्रेष्ठ बताया गया है।

किन्तु जैन चिन्तक आर्द्रक मुनि जैन दर्शन से एकदण्डी मत अर्थात् सांख्य की भिन्नता बताते हुए उनकी आलोचना करते हैं। सांख्य द्वैतवादी दर्शन है जबकि जैन दर्शन अनेकान्तवादी है। सांख्य आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं जबकि जैन शरीर मात्र व्यापी। सांख्यानुसार सभी पदार्थ प्रकृति से अभिन्न हैं जबकि जैन मत में कारण में कार्य द्रव्य रूप में विद्यमान रहता है। पर्याय रूप में नहीं। सांख्य मत में कार्य कारण में सर्वात्मरूप में विद्यमान रहता है जबकि जैन मत में ऐसा स्वीकार नहीं किया जाता। सांख्य मत में पदार्थ को केवल ध्रौव्य माना जाता है जब कि जैन मत में सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से मुक्त माने जाते हैं। यद्यपि सांख्यवादी पदार्थों का अविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं। लेकिन वह भी उत्पत्ति और विनाश के बिना नहीं।

सांख्य के आत्म विषयक विचारों का खण्डन करते हुए जैन युक्ति देते हैं कि आत्मा को सर्वव्यापी मानना युक्ति सिद्ध नहीं है क्योंकि चैतन्य रूप आत्मा का गुण सर्वत्र नहीं पाया जाता, शरीर ही में उसका अनुभव होता है। इसलिए आत्मा को सर्वव्यापी न मानकर शरीर मात्र व्यापी मानना ही उचित है। जो वस्तु आकाश की तरह सर्वव्यापी होती है, वह गति नहीं कर सकती, जबकि आत्मा कर्म से प्रेरित होकर नाना गतियों में गमनागमन करती है। अत: इसे सर्वव्यापी मानना यथार्थ नहीं है। सांख्यवादी आत्मा में किसी प्रकार का विकार नहीं मानते, उसे सदा एक रूप मानते हैं, ऐसी स्थिति में उसका विभिन्न और गतियों और योनियों में परिवर्तन कैसे हो सकता है? इस जगत में नानाभेद दृष्टिगोचर होते हैं। यह भेद आत्मा को नित्य, कूटस्थ, एकरूप, एकरस, नित्य तथा एक मानने पर सम्भव नहीं

हो सकते। इसलिए आत्मा को एकान्त कूटस्थ नित्य मानना गलत है। वस्तुत: प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, भिन्न-भिन्न है इसलिए स्वकर्मानुसार प्रत्येक आत्मा अपना अपना सुख-दु:ख भोगता है। आत्मा का निजी गुण चैतन्य शरीर पर्यन्त ही पाया जाता है इसलिए वह शरीर मात्र व्यापी है तथा कारण में कार्य द्रव्य रूप से ही रहता है। आत्मा नाना गतियों में जाता है, इसलिए वह परिणामी है, कूटस्थ नित्य नहीं। अत: आर्हत दर्शन ही युक्ति संगत और मान्य है, सांख्यदर्शन और आत्माद्वैतवाद नहीं।

हस्तितापस

जैन मतावलम्बी आर्द्रक मुनि से वाद-विवाद के प्रसंग में सूत्रकृतांग में हस्तितापसों की चर्चा मिलती है।[219] हस्तितापस आर्द्रक मुनि से जैन धर्म छोड़कर उनका धर्म स्वीकार करने का आग्रह करते हुए युक्ति देते हैं कि बुद्धिमान मनुष्य को सदा अल्पत्व और बहुत्व का विचार करना चाहिए। जो कन्दमूल, फल आदि खाकर निर्वाह करते हैं, वह स्थावर प्राणियों को तथा उनके आश्रित अनेक जंगमप्राणियों का संहार करते हैं। गुल्लर आदि में अनेक जंगम प्राणी अपना डेरा जमाए रहते हैं, अत: उनको खाने वाले जंगमप्राणियों का संहार करते हैं। जो लोग भिक्षा से अपना निर्वाह करते हैं, वह भिक्षा के लिए इधर-उधर जाते समय चींटी आदि अनेक प्राणियों का घात कर देते हैं तथा भिक्षा की कामना से उनका चित्त भी दूषित रहता है। जबकि हस्तितापस वर्ष में एक भारीभरकम हाथी को बाण से मारकर उसके मांस से वर्षभर तक अपना निर्वाह कर लेते हैं। ऐसा करके वह अन्य समस्त जीवों की रक्षा कर लेते हैं तथा उन्हें अभयदान देते हैं।

इसका प्रत्याख्यान करते हुए जैन मुनि कहते हैं कि हिंसा-अहिंसा की न्यूनाधिकता का नाप-तौल मृत जीवों की संख्या के आधार पर नहीं किया जाता है अपितु यह आधार है प्राणी की चेतना, इन्द्रियों, मन, शरीर आदि का विकास। यदि कोई वर्ष भर में सिर्फ एक विशालकाय जीव मारता है तो भी वह हिंसा के दोष से कदापि नहीं बच सकता। उस पर भी हाथी जैसे पंचेन्द्रिय जीव के लिए तो यह असम्भव ही है। जो श्रमण धर्म में प्रव्रजित है वह सूर्य की किरणों से स्पष्ट नजर आने वाले मार्ग पर गाड़ी के जुए जितनी लम्बी दृष्टि रख कर चलते हैं। वह इर्या समिति से युक्त होकर बयालीस भिक्षादोषों से वर्जित करके आहारादि ग्रहण करते हैं। वह लाभ-अलाभ दोनों में सम रहते हैं। अत: उनके द्वारा चींटी आदि प्राणियों का घात भी सम्भव नहीं है। उन्हें अहिंसा का दोष भी नहीं लगता। हस्तितापस अल्पजीवों के घात को पाप नहीं मानते, यह मान्यता भी ठीक नहीं है। एक महाकाय प्राणी का घात करने से मात्र एक ही प्राणी का घात नहीं होता, अपितु

उस प्राणी के आश्रित रहे हुए अनेक जीवों का घात होता है। उस प्राणी के मांस, खून, चर्बी आदि में रहने वाले या पैदा होने वाले अनेक स्थावर और जंगम प्राणियों का घात होता है। इसलिए वर्षभर में जो एक प्राणी की हत्या की बात करते हैं, वह घोर हिंसक हैं, पंचेन्द्रिय वध के कारण नरक के मेहमान बनते हैं। वह अहिंसा की उपासना से कोसों दूर हैं।

अनागार

आचारांग प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में 'अणगारों' मोति एगे पवयमाणा अर्थात् कुछ लोग कहते हैं कि हम अनागार हैं; ऐसा वाक्य आता है।[220] अपने को अनागार कहने वाले ये लोग पृथ्वी आदि का आलंभन अर्थात् हिंसा करते हुए नहीं हिचकिचाते। ये अनागार कौन हैं? इसका स्पष्टीकरण करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि ये अनागार बौद्ध परम्परा के श्रमण हैं। ये लोग ग्राम आदि दान में स्वीकार करते हैं एवं ग्रामदान आदि स्वीकृत कर वहां की भूमि को ठीक करने के लिए हल, कुदाली आदि का प्रयोग करते हैं तथा पृथ्वी में रहने वाले कीट पतंगों का नाश करते हैं। इस प्रकार कुछ अनागार ऐसे हैं जो स्नान आदि द्वारा जल की तथा जल में रहते हुए जीवों की हिंसा करते हैं। स्नान नहीं करने वाले आजीवक तथा अन्य श्रमण स्नानादि वृत्ति के निमित्त पानी की हिंसा नहीं करते किन्तु पीने के लिए तो करते ही हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि हमारे पास देवों का बल है, श्रमणों का बल है।[221] ऐसा समझकर वे अनेक हिंसामय आचरण करने से नहीं चूकते। वे ऐसा समझते हैं कि ब्राह्मणों को खिलाएंगे तो परलोक में सुख मिलेगा। इस दृष्टि से वह यज्ञ भी करते हैं। बकरों, भैंसों यहां तक कि मनुष्यों के वध द्वारा चाण्डिकादि देवियों के यज्ञ करते हैं। ब्राह्मणों को दान देंगे तो धन मिलेगा, कीर्ति प्राप्त होगी व धर्म सधेगा, समझकर अनेक आलम्भक-समालम्भन करते रहते हैं।[222] इस उल्लेख में भगवान महावीर के समय में धर्म के नाम पर चलने वाली हिंसक प्रवृत्ति का स्पष्ट निर्देश है। इस जगत में कुछ श्रमण[223] व ब्राह्मण भिन्न भिन्न रीति से विवाह करते हुए कहते हैं कि हमने देखा है, हमने सुना है, हमने माना है, हमने विशेष तौर से जाना है तथा पूरी सावधानीपूर्वक पता लगाया है कि सर्वप्राण, सर्वभूत, सर्वजीव, सर्वसत्व हनन करने योग्य हैं, सन्ताप पहुंचाने योग्य हैं, उपकृत करने योग्य हैं एवं स्वामित्व करने योग्य हैं। ऐसा करने में कोई दोष नहीं है।[224]

इस प्रकार कुछ ब्राह्मणों व श्रमणों के मत का निर्देश कर सूत्रकार ने उनका अभिमत बताते हुए कहा है कि यह वचन अनार्यों का है अर्थात् इस प्रकार की *हिंसा का समर्थन करना अनार्य मार्ग है। इसे आर्यों ने दुर्वचन कहा है, दुःश्रवण* कहा है, दुर्मत कहा है, दुर्विज्ञान कहा है। हिंसा का विधान करने वाले एवं उसे

निर्दोष मानने वाले समस्त प्रवादियों को एकत्र कर प्रत्येक से पूछना चाहिए कि तुम्हें मन की अनुकूलता, दु:खस्वरूप लगती है या प्रतिकूलता? जैसे तुम्हें मन की प्रतिकूलता दुखरूप लगती है वैसे ही समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों व सत्वों को भी मन की प्रतिकूलता दुखरूप लगती है। ये वादी आलम्भार्थी हैं, प्राणियों का हनन करने वाले हैं, हनन करने वालों का समर्थन करने वाले हैं, अदत्त को लेने वाले हैं।[225]

यद्यपि महावीर कालीन परिव्राजक अदत्त जल का प्रयोग नहीं करते थे, वह जलाशय के स्वामी की अनुमति लेकर ही जल लेते थे।[226] इस पर भी जैन श्रमणों का तर्क था कि क्या जल के जीवों ने अपने प्राण हरण की अनुमति दी है? यदि नहीं दी है तब सजीव जल का प्रयोग कर उनके प्राणों का हरण करना अदत्तादान कैसे नहीं होगा?

परिव्राजक स्नान, पान आदि सीमित प्रयोजनों से जलकायिक जीवों की परिमित हिंसा करते हैं किन्तु उनके लिए हिंसा सर्वथा अकरणीय नहीं है। जबकि जैनों के लिए सजीव जल का प्रयोग हिंसा और अदत्तादान है।

भगवान महावीर के युग में कुछ परिव्राजक यह प्रतिपादित करते थे कि वह केवल पानी के जीवों की हिंसा करते हैं, अन्य जीवों की हिंसा नहीं करते। कुछ श्रमण निरूपित करते थे कि वह केवल भोजन के लिए जीव हिंसा करते हैं, अन्य प्रयोजन के लिए नहीं। भगवान महावीर के शिष्य जंगल में विहार करते तब उचित पानी नहीं मिलता था। अनेक मुनि प्यास से आकुल हो प्राण छोड़ जाते थे। ऐसी स्थिति में कदाचित यह प्रश्न उठा कि विकट परिस्थिति में संचित पानी पी लिया जाये तो क्या आपत्ति है? इन सब निरूपणों और प्रश्नों को सामने रखकर भगवान ने यह प्रतिपादित किया कि जिस साधक के चित्त में किसी एक जीव निकाय की हिंसा की भावना अव्यक्त रहती है, उसका सर्वजीव अहिंसा के पथ में प्रस्थान नहीं होता। अत: साधक की मैत्री सघन होनी चाहिए। उसके चित्त में कभी जीव निकाय की हिंसा की भावना शेष नहीं रहनी चाहिए।[227]

बौद्धमत शाक्यतापस

सूत्रकृतांग द्वितीय उद्देशक के आर्द्रकीय अध्ययन में शाक्य तापसों की चर्चा मिलती है। शाक्य तापस मानते थे कि पाप और पुण्य आन्तरिक भावों के अनुसार ही होता है। द्रव्यत: प्राणिघात न होने पर भी चित्त दूषित होने से प्राणिवध का पाप लग जाता है। उसी प्रकार यदि अज्ञानी मनुष्य को खली मानकर और बालक को तुम्बा मानकर पकाएं तो उन्हें प्राणिवध का पाप नहीं लगता। कोई बौद्ध भिक्षु चाहे उन्हें शूल में पिरोकर आग में पकाएं तो भी उसे प्राणिवध का पाप नहीं लगता, वह

आहार निर्दोष है और बुद्धों के पारणे योग्य है। तात्पर्य यह है कि जो कार्य भूल से हो जाता है तथा मन के संकल्प के बिना किया जाता है, वह बन्धन का कारण नहीं होता।[228] इसके अतिरिक्त वह यह भी मानते थे कि जो व्यक्ति प्रतिदिन दो हजार शाक्य भिक्षुओं को अपने यहां भोजन कराता है, वह महान पुण्य राशि उपार्जित करके उसके फलस्वरूप आरोप्य नामक उत्तम देव होता है।

जैन चिन्तक अपने मत का प्रतिपादन करते हुए शाक्यों के मत का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार जो पुरुष पांच समिति और तीन गुप्तियों का पालन करते हुए सम्यग्ज्ञानपूर्वक क्रिया करता है और अहिंसाव्रत का पालन करता है, उसी की भावशुद्धि होती है। परन्तु जो अज्ञानी है और मोह में पड़कर खली और पुरुष के अन्तर को नहीं जानता उसकी भावशुद्धि अत्यन्त पापजनक ही है। चाहे वह हिंसा स्वयं की गई हो, अथवा दूसरे से कराई गई हो या उसका अनुमोदन किया गया हो, हिंसा कभी धर्मयुक्त नहीं हो सकती। यदि ऐसे मनुष्यों का भाव शुद्ध मान लिया जाये तो जो लोग रोग आदि से पीड़ित प्राणी को विष आदि का प्रयोग करके मार डालने का उपदेश देते हैं, उनके भावों को भी शुद्ध मानना चाहिए। यदि भावशुद्धि ही एक मात्र कल्याण का साधन है तो फिर बौद्ध भिक्षु सिर का मुण्डन और भिक्षावृत्ति आदि बाह्य क्रियाएं क्यों करते हैं? यह तो अत्यन्त मूर्ख के लिए भी संभव नहीं कि वह बालक को खलीपिण्ड समझकर भून ले और खा जाये। यह तो स्पष्ट ही असत्य भाषण है जबकि जिनेन्द्र शासन के अनुयायी बुद्धिमान साधक प्रणियों की पीड़ा या कर्मफल का भली भांति विचार करके शुद्ध भिक्षान्न को ही ग्रहण करते हैं। वह बयालीस दोषों को वर्जित करके जीवविघात से सर्वथा दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। जैसे बौद्ध साधक भिक्षापात्र में आये हुए मांस को भी बुरा नहीं मानते वैसा आर्हत साधक नहीं करते। जो कपट से जीविका करता है वह साधु बननें के योग्य नहीं है। इसलिए जैन धर्म ही पवित्र एवं आदरणीय है। बौद्धों का यह कथन भी उपयुक्त नहीं है कि अन्न भी मांस के सदृश है क्योंकि वह भी प्राणी का अंग है। किन्तु प्राणी का अंग होने पर भी जगत में कोई वस्तु मांस और अमांस मानी जाती है। जैसे दूध और रक्त दोनों ही गाय के विकार हैं तथापि लोक में यह दोनों अलग-अलग माने जाते हैं। दूध भक्ष्य और रक्त अभक्ष्य माना जाता है। अपनी माता और पत्नी दोनों ही स्त्री जाति की होने पर भी माता अगम्य और पत्नी गम्य मानी जाती है। यही अन्तर अन्न और मांस में है।[229]

बौद्धों का यह कथन भी निराधार है कि जो पुरुष बोधिसत्व के तुल्य दो हजार भिक्षुओं को प्रतिदिन भोजन कराता है उत्तम गति को प्राप्त करता है। जबकि ऐसे मांसाहारी भिक्षुओं को भोजन कराने वाला असंयमी होता है। उसके हाथ रक्त से *सने रहते हैं तथा वह व्यक्ति उत्तम साधुओं से निन्दित होता है, हिंसा का भागी* होता है। अत: बौद्धतापस अज्ञानी, अनार्य और रसलोलुप हैं। ऐसे पापकर्मा लोगों

को भोजन कराने से सुगति गमन कैसे सुफल हो सकता है? एक तो मांस हिंसा के बिना मिलता नहीं, दूसरे वह स्वभाव से ही अपवित्र और रौद्रध्यान का हेतु है, रक्त आदि दूषित पदार्थों से परिपूर्ण होता है तथा अनेक कीड़ों का घर है। फिर मांस बहुत ही दुर्गन्धित, शुक्रशोणित से उत्पन्न है।[230]

जैन बौद्धों की आलोचना करते हुए कहते हैं कि कुछ मतवादी क्षणिक अस्तित्व वाले पंचस्कन्ध मानते हैं किन्तु यह व्याख्या नहीं करते कि आत्मा इनसे भिन्न है या स्कन्धमय है या स्कन्धजात है। न जो वह इसका कारण बताते हैं और न इसे शाश्वत बताते हैं।[231] यह गानय[232] सभी पदार्थों को क्षणभंगुर मानकर एकान्त अनित्य मानते हैं। इसी प्रकार सूत्रकृतांग में एक अन्य स्थान पर उल्लेख है कि कुछ मतवादी[233] कहते हैं कि आनन्ददायक वस्तुओं से आनन्ददायक वस्तुएं उत्पन्न होती हैं।[234] शीलांक इसे बौद्ध धर्म का पुष्टिमार्ग बताते हैं। किन्तु जैकोबी के लिए यह मत अज्ञात ही है। इस मत के अनुसार आनन्ददायक भोजन के उपरान्त, आनन्ददायक आसन अथवा शय्या पर आनन्ददायक गृह में मुनि आनन्ददायक विषयों का चिन्तन करते हैं।

उल्लेखनीय है कि अक्रियावादी आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते।[235] अक्रियावादी को बौद्धों के क्षणिकवाद से समीकृत किया जाता है।[236] आचार्य शीलांक इसे बौद्धमत का शून्यवाद मानते हैं। क्योंकि शून्यवादियों को क्रियावादी ही माना गया है।[237] अन्धा व्यक्ति प्रकाश होने पर भी आंख से नहीं देख सकता वैसे ही अक्रियावादी उन्मार्गी होने से आत्मा की क्रिया नहीं देख सकते, यद्यपि उसका अस्तित्व है।[238]

शैव मत

सूत्रकृतांग में एक एकान्तवादी मत का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार पूर्णता केवल धर्म जीवन से ही मिल सकती है। यहां तक कि उससे अष्टसिद्धि व मनोवांछित की प्राप्ति हो जाती है।[239]

महाभारत

महाभारत का उल्लेख करते हुए जैनचिन्तक कहते हैं कि कुछ मतवादियों के अनुसार संसार सीमित है किन्तु शाश्वत है। पुराणकारों ने व्यास के इन्हीं विचारों का प्रसार किया है।[240] इनके अनुसार परब्रह्म का ज्ञान भी सीमित है।[241]

वेदान्ती

कुछ व्यक्ति यह मानते हैं कि प्रकृति यद्यपि जड़ है फिर भी अपने आपको अनेक रूपों में अभिव्यक्त करती है उसी प्रकार आदि तत्व आत्मन अपनी अभिव्यक्ति जगत के रूप में कर लेता है।[242] जैन चिन्तक इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि जगत एक ही आत्मा की अभिव्यक्ति है तो हम जिन अनेक आत्माओं को देखते हैं वह क्या है? फिर तो एक के कर्मों का फल दूसरे को भोगना होगा।

वैष्णव वेदान्त

कुछ ऋषियों के अनुसार जगत स्वयंभू से उत्पन्न हुआ है और मार से माया, इसलिए संसार अशाश्वत दिखाई देता है। कुछ कहते हैं कि जगत अण्डे से निकला है और ब्रह्म उसके कर्ता हैं किन्तु जैनों के अनुसार यह विचार असत्य है क्योंकि न तो जगत की उत्पत्ति हुई है न ही वह नष्ट होगा।[243] कुछ कहते हैं कि सृष्टि ईश्वर कृत है।[244]

वैनयिक अथवा विनयवादी

यह मतवादी सबकी विनय करने के कारण विनयवादी कहे जाते हैं।[245] यह विनयवादी सत्य को असत्य व बुरे व्यक्ति को अच्छा समझते हैं तथा बिना सत्य का प्रत्यक्ष किये ही कहते हैं कि हमने विनय से परमतत्व का साक्षात्कार कर लिया है। जैनों के अनुसार क्रिया, अक्रिया, विनय और अज्ञान--इन चार स्थानों के द्वारा कुछ एकान्तवादी मेयज्ञ अर्थात् तत्ववेत्ता असत्य तत्व की प्ररूपणा करते हैं।[246] इन विनयवादियों के अनुसार भक्ति से मोक्ष सम्भव था।[247]

त्रैराशिक सम्प्रदाय

इस मत में दु:ख बुरे कर्मों का परिणाम है ऐसा स्वीकार किया जाता है। जिन्हें इनका कारण ज्ञात नहीं वह दुख निरोध का उपाय कैसे जान सकते हैं? त्रैराशिक के अनुसार जो धरती पर संयत श्रमण बनकर रहा--कर्मों से मुक्त हो जायेगा। लेकिन जैसे शुद्ध जल पुन: कलुषित हो जाता है वैसे ही आत्मा भी हो सकती है। जो पवित्र जीवन नहीं जीते हैं वह वितण्डावादी केवल दूसरों के विरोध में अपने मत का प्रचार करते हैं।[248]

ईश्वरकारणवादी तथा आत्माद्वैतवादी

इस्सकरणवादी[249] या ईश्वरकारणवादी यह मानते हैं कि इस सारे संसार का कर्ता ईश्वर है। ईश्वर जगत का आदि कारण है। जीव अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान है। वह अपनी इच्छा से न तो सुख पा सकता है और न ही दुख को मिटा सकता है अपितु ईश्वर की आज्ञा से ही सुख-दुख की प्राप्ति होती है। ईश्वर कारणवादी कहते हैं कि अज्ञानी जीव स्वयं सुख प्राप्ति तथा दुख परिहार करने में समर्थ नहीं हैं, यह स्वर्ग या नर्क में जाता है तो ईश्वर की प्रेरणा से ही जाता है।[250] आत्माद्वैतवादी एक आत्मा ब्रह्म को ही सारे जगत का कारण मानते हैं। वे कहते हैं कि सारे विश्व में एक ही आत्मा है, वही प्रत्येक प्राणी में स्थित है। वह एक होता भी विभिन्न जलपात्रों के जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान प्रत्येक जीव में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।[251] जैसा कि श्रुति में माना गया है कि जो कुछ हो चुका है, या जो कुछ होने वाला है, वह सब आत्मा ही है।[252]

ईश्वरकारणवादी और आत्माद्वैतवादी यह दोनों ही यह मानते हैं कि आचारांग से लेकर दृष्टिवाद तक जो श्रमण निर्ग्रन्थों का द्वादशांगी गणिपिटक जैनागम है, वह मिथ्या है, क्योंकि वह ईश्वर द्वारा रचित नहीं है, किन्तु किसी साधारण व्यक्ति द्वारा निर्मित और विपरीत अर्थ का बोधक है। इसलिए यह सत्य नहीं है और न ही वस्तुस्वरूप का प्रतिपादक है। इस प्रकार आर्हतदर्शन की निन्दा करने वाले ईश्वरकारणवादी और आत्माद्वैतवादी दोनों अपने अपने मतों का आग्रह रखते हुए अपने मत की शिक्षा अपने शिष्यों को देते हैं तथा द्रव्योपार्जनार्थ अनेक प्रकार के पाप कर्म करके उनके फलस्वरूप नाना प्रकार के दुख पाते हैं। इसके अतिरिक्त निर्दोष शास्त्रों की निन्दा करने और उनसे विपरीत कुशास्त्र प्रतिपादित जीवहिंसा आदि कुकृत्य करने के कारण उत्पन्न होने वाले अशुभबन्धनों को नष्ट करने में असमर्थ होकर वह संसार चक्र में ही परिभ्रमण करते रहते हैं। जैसे पक्षी पिंजरे के बन्धन को तोड़ नहीं सकता वैसे ही यह वादी भी संसार चक्र का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं क्योंकि वह अपने द्वारा उपार्जित अशुभ कर्मों से बंधे हुए हैं। वह मोक्ष मार्ग को स्वीकार नहीं करते। उनका मन्तव्य है कि न क्रिया है न अक्रिया है, न नरक है, न नरक के अतिरक्त लोक है। न पुण्य-पाप है, न शुभाशुभ कर्म का फल, न कोई भला है न बुरा, न सिद्ध है, न असिद्ध, न सुकृत है न दुष्कृत।

जैन चिन्तक इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि यह मान लें कि प्राणी अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से क्रिया में प्रवृत्त होते हैं तो यह भी मानना पड़ेगा कि अनादिसिद्ध होती है, तथा वही प्राणी की क्रिया में प्रवृत्ति का कारण बनती है, तब फिर ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है?

इसी तरह आत्माद्वैत भी युक्ति रहित है क्योंकि इस जगत में जब एक आत्मा के सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तब फिर मोक्ष के लिए प्रयत्न करना, शास्त्रों का अध्ययन करना आदि बातें निरर्थक ही सिद्ध होंगी तथा सारे जगत की एक आत्मा मानने पर जगत में जो प्रत्यक्ष विचित्रता देखी जाती है, वह भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। बल्कि एक के पाप से दूसरे सब पापी और एक की मुक्ति से दूसरे सब की मुक्ति एवं एक के दुख से दूसरे सब को दुखी मानना पड़ेगा, जोकि आत्माद्वैतवादी को अभीष्ट नहीं है। अत: युक्तिरहित आत्माद्वैतवाद को भी मिथ्या ही समझना चाहिए।[253]

ब्राह्मण परिव्राजक

सूत्रकृतांगसूत्र में ऐसी चर्चा आती है कि महावीर भगवान से मिलने जाते समय मार्ग में ब्राह्मण आर्द्रक मुनि को रोक कर कहते हैं कि उन्होंने गोशालक मत और बौद्धमत का खण्डन करके बहुत अच्छा किया क्योंकि दोनों वेद बाह्य हैं। इसी तरह आर्हत मत भी वेद बाह्य है। अत: खण्डनयोग्य व त्याजनीय है।[254] जो क्षत्रियों में श्रेष्ठ है उसके लिए वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मणों की सेवा करना ही धर्म है, शूद्रों की नहीं। अत: यज्ञ, याग का अनुष्ठान व ब्राह्मणों की सेवा ही करणीय है। ब्राह्मण सेवा का बड़ा महत्व है। वेदपाठी, षट्कर्मपरायण, शोचाचारक, सदा स्नान करने वाले दो हजार स्नातक ब्रह्मचारी ब्राह्मणों को जो व्यक्ति प्रतिदिन भोजन कराता है वह महान पुण्य का उपार्जन करके स्वर्ग में देवता बनता है।[255]

आर्द्रकमुनि[256] इसका प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि वैडालिकवृत्ति वाले दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराने वाला कुपात्रदानी है। ऐसे ब्राह्मण बिल्लियों के समान क्षत्रिय कुलों में घूमते रहते हैं। इसीलिए इनका नाम 'कुलालय' पड़ा है। कुलालय का अर्थ होता है जो मांसादि भोजन के लिए क्षत्रिय कुलों में पड़े रहें। अत: दूसरों के श्रम पर आनन्द मानने वाले, निन्दनीय जीविका वाले ऐसे ब्राह्मण कुपात्र हैं, तथा शील रहित हैं। इन्हें भोजन कराने वाला व्यक्ति मांसभक्षी, वज्रचंचुपक्षियों से परिपूर्ण तथा भयंकर वेदनायुक्त नरक का गामी होता है। हिंसा प्रधान धर्म, विवेकमूढ, व्रतरहित, शीलहीन एक ब्राह्मण को जो षट्कायिक जीवों का उपमर्दन करके भोजन कराता है, वह मरकर अधमदेव भी नहीं होता। तब दो हजार ब्राह्मणों को भोजन कराने के पाप का तो अनुमान ही क्या है?

लोक धर्म

धर्म, तत्वरूप में मस्तिष्क की बौद्धिक मनोवृत्ति की अपेक्षा सहज ज्ञान और मनोवेग के ऊपर अधिक आधारित है। धर्म की सहायता से ही मनुष्य ने किसी निरन्तर विद्यमान कर्तव्य जिसे वह विश्व का नियामक समझता था—के अस्तित्व की कल्पना करके प्राकृतिक शक्तियों और विश्व के तथ्यों को प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार विश्व के नियामक समझे जाने वाले अनेक देवी देवता और पुरातन पवित्र आत्माओं का प्रादुर्भाव हुआ। भाव के स्तर पर मनुष्य अपने मर्त्य जीवन और देवतत्व के अमर जीवन की अपूरणीय खाई देखता है। देव महिमा के बोध से उसके मन में स्तुति, प्रार्थना एवं प्रणति की प्रवृत्तियां जागती हैं। देवता के इस मानसिक सान्निध्य से उसे यह आशा होती है कि उसका जीवन सुखी होगा तथा प्रेतलोक के स्थान पर देवलोक को प्राप्त होगा।

देवी-देवताओं का अस्तित्व भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है।[257] जैन सूत्रों में इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, मुकुन्द, शिव, वैश्रमण, नाग, यक्ष, भूत, *आदि का उल्लेख किया गया है।*[258]

दोगुन्दग देव नामक देवता की चर्चा उत्तराध्ययन सूत्र में प्राप्त होती है। यह त्रायस्त्रिंश जाति के देव होते हैं। वह सदा भोग परायण होते हैं।[259] साथ ही वह सदा प्रमुदित मन रहने वाले, आनन्द देने वाले प्रासादों में स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करते रहते हैं। सम्भवत: आगमकाल में जैनेतर सम्प्रदाय इनकी उपासना करते हों अथवा यह लोक पूजित हों।

इन्द्र

जैन सूत्रों में इन्द्रदेव का भी उल्लेख प्राप्त होता है। उन्हें सहस्त्राक्ष बताया गया है तथा स्वर्ग के देवताओं में द्युतिमान बताया गया है।[260] इन्द्र मूलत: वैदिक देवता है तथा समस्त देवताओं में अग्रणी है। इन्द्र को परस्त्रीगामी माना जाता है। कल्पसूत्र के अनुसार इन्द्र अपनी आठ पटरानियों, तीन परिषदों, सात सैन्यों, सात सेनापतियों और आत्मरक्षकों से परिवृत्त होकर स्वर्गिक सुख का उपभोग करता है।[261] इन्द्र मह उत्सव सब उत्सवों में श्रेष्ठ माना जाता था।[262] निशीथसूत्र में इन्द्र, स्कन्द, यक्ष और भूत नामक महामहो के उत्सवों का उल्लेख है जो क्रम से[263] आषाढ, आसोज, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमाओं के दिन मनाये जाते थे। यह उत्सव आमोद-प्रमोद के साथ मनाया जाता था।[264]

हरिणेगमेषी

हरिणेगमेषी नामक देव को इन्द्र की पदाति सेना का सेनापति पादातानीकाधिपति बताया गया है।[265] इसी ने महावीर के गर्भ का परिवर्तन किया था।[266] मथुरा के जैन शिलालेखों में भगवा नेमेसो कहकर उसका उल्लेख किया है।

यक्ष

यक्ष शब्द यज् धातु से बना है।[267] आरम्भिक साहित्य में इसका अर्थ देव था। उत्तरवर्ती साहित्य में इसका अपकर्ण हो गया और यह निम्नकोटि की देवजाति के लिए व्यवहृत होने लगा।[268] जैन सूत्रों के अनुसार जो व्यक्ति शील का पालन करते हैं वह यक्ष की योनि में उत्पन्न होते हैं।[269] यक्ष, देव, दानव, गन्धर्व और किन्नर ब्रह्मचारियों को नमन करते हैं।[270] आगमकाल में यक्षों की आराधना लोकप्रचलित थी। यह विश्वास प्रचलित था कि यक्ष प्रसन्न होकर शुभकार्यों में सहायता तथा अप्रसन्न होकर विनाशक कार्य करते हैं। यक्षों के आवास के लिए यक्षायतन बनाने की व्यापक परम्परा थी।[271] यक्ष वृक्षों पर भी रहते थे तथा अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण शरीरगोपन भी कर सकते थे।[272] सूत्रकृतांगसूत्र में पूतना नामक राक्षसी की चर्चा मिलती है, जिसे शाकिनी, गड्डारिका कहा जाता था।[273] यह हमेशा युवकों की कामना करती थी।

पुनर्जन्म का लौकिक विश्वास

लौकिक विश्वास था कि काम भोगों से निवृत्त व्यक्ति शरीर छोड़ने पर देव होता है। देवलोक में वह श्रेष्ठ, ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण और आयु भोगता है।[274] पाषण्ड शब्द प्रायः धार्मिक सम्प्रदाय के लिए प्रयुक्त होता था। जैन धर्म के अतिरिक्त जितने भी सम्प्रदायों की चर्चा जैनसूत्रों में हुई है उक्त मतान्तरों को लौकिक कहा गया है। मूलतः ये सम्प्रदाय अपने धर्म को ही लोकोत्तर धर्म मानते थे। इन धर्म सम्प्रदायों की आलोचना की गयी है और उनका उपहास किया गया है।[275]

नर्क की यातनाएं

आगमों में नर्क की यातना का वर्णन मिलता है। क्रूरपापी जो सांसारिक जीवन की आसक्ति के वश पाप करते हैं, भयानक नर्क में जाएंगे जो अन्धकार

और कष्टों से भरा है। दूसरों को कष्ट देने वाले क्रूर पापी मृत्यु के पश्चात् अन्धेरे नर्क में जाते हैं और उसके पश्चात् वह सिर झुका कर यातना स्थल पर जाते हैं।[276] वह दण्ड देने वालों की आवाज सुनते हैं 'मारो, काटो, थूको, इसे जला दो।' नर्क के कैदी भय से अवसन्न हो जाते हैं। उन्हें यह भी मालूम नहीं होता कि किस दिशा में भागें।[277]

ऐसे ऊष्ण स्थान पर मानो कोयले की भट्टी जल रही हो, उस पर जलते हुए वह जोर-जोर से आहत क्रन्दन करते हैं।[278] पकाने के पात्र में जलती हुई अग्नि में पैरों को ऊंचा और सिर को नीचा कर उन्हें पकाया जाता है।[279] महादावाग्नि, मद्र देश और वज्रबालुका तथा कदम्ब नदी के बालू में उनको जलाया जाता है तथा जलते हुए भूसे पर घुमाया जाता है।[280] दण्डदाता चारों तरफ अग्नि जलाकर उन्हें इस प्रकार भूनते हैं मानों जिन्दा मछलियां आग पर हों और पापी छटपटाते हैं।[281] इसके पश्चात् उनको गर्म-गर्म कीचड़ खिलाई जाती है तथा उनको भयानक कीड़े खाते हैं।[282] फिर इन पापियों को लाल लोहे के समान दहकती भूमि पर चलाते हैं। वह भय से आर्तनाद करते हैं किन्तु उन्हें तीरों से भेद कर लाल गर्म जुए में फिर जोत दिया जाता है।[283] फिर उन पापियों को जलती और फिसलती हुई भूमि पर नर्क के मन्त्री दासों के समान पीटते हुए लाते हैं।[284] पापियों को संजीवनी नर्क में लाया जाता है जहां जीवन बड़ा होता है। जिस प्रकार अग्नि में पड़ा घी पिघलता है वही हालत पापी की होती है।[285] भयंकर आक्रन्द करते हुए पापियों को गर्म और कलकल शब्द करता हुआ ताम्बा, लोहा, रांगा और सीसा पिलाया जाता है।[286]

वैतरणी नदी जिसकी लहरें उस्तरे के समान तीक्ष्ण होती हैं, पापियों को तैर कर पार करनी पड़ती है। इसके किनारे तीरों से बने होते हैं, रुकने पर उन्हें भालों से छेदा जाता है।[287]

दण्डदाता, पापियों के पेट उस्तरे व चाकुओं से काट देते हैं। फिर उनके खण्डित शरीरों से वह बलपूर्वक पीठ की चमडी उघाड़ देते हैं।[288] उनकी कोहनियों से उनकी बांहें निकाल लेते हैं, उनका मुंह खूब चौड़ा कर फाड़ देते हैं। उन्हें गाड़ी से बांधकर घसीटते हैं, फिर उसकी पीठ पर मुगदर की मार लगाते हैं।[289] उन्हें वैतालिक नामक पर्वत पर लाया जाता है जहां उन्हें सहस्र घण्टों से भी अधिक तक सताया जाता है।[290]

नरक के कैदियों को संतक्षण (काटने) के स्थल पर लाया जाता है जहां क्रूर दण्डदाता उनके हाथ-पैर बांधकर लट्ठे के समान कुल्हाड़ी से काटते हैं।[291] उन्हें छेदते हैं तथा उनकी चमड़ी उतारी जाती है।[292]

उन्हें ऊख की भांति महायन्त्रों में पेरा जाता है।[293] युग-कीलक जुए के छेदों में डाली जाने वाली लकड़ी की कीलों से युक्त जलते हुए लौह रथ में परवश बनाकर चाबुक और रस्सी के द्वारा हांका जाता है।[294] कठोर चोंच वाले ढंक और

गीध पक्षियों से उन्हें कटवाया जाता है।[295] उन्हें शिलाओं से कुचल कल सन्तापनी स्थल पर लाया जाता है।[296] वह असूर्य लोक[297] में लाये जाते हैं जो गहन अन्धकारयुक्त होता है जहां अग्नि में भूनने के पश्चात् उन्हें असियन्त्र महावन में लाया जाता है। जहां तलवार के समान तीक्ष्ण पत्तों से उन्हें छेदा जाता है।[298] इस प्रकार मनुष्य लोक में जैसी वेदना है उससे अनन्त गुना अधिक वेदना नरक में है।[299]

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार संसार रूपी कान्तार के चार अन्त होते हैं—नरक, तिर्यन्च, मनुष्य और देव।[300] इसलिए इसे चारन्त चातुरन्त कहा जाता है।[301] उस चातुरन्त में सात नरक हैं। पहले तीन नरकों में परमधार्मिक[302] देवताओं द्वारा पीड़ा पहुंचाई जाती है और अन्तिम चार में नारकीय जीव स्वयं परस्पर वेदना की उदीरणा करते हैं। परमाधार्मिक देव 15 प्रकार के हैं। उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं—

नाम	*कार्य*
1. अंब	हनन करना, ऊपर से नीचे गिराना, बांधना आदि।
2. अंबर्षि	काटना आदि।
3. श्याम	फेंकना, पटकना, बींधना आदि 1
4. शबल	आंते, फेफड़े, कलेजा आदि निकालना
5. रुद्र	तलवार, भाला आदि से मारना, शूली में पिरोना आदि।
6. उपरुद्र	अंग उपांगों को काटना आदि।
7. काल	विविध पात्रों में पकाना।
8. महाकाल	शरीर के विविध स्थानों से मांस निकालना।
9. असिपत्र	हाथ, पैर आदि को काटना।
10. धनु	कर्ण, ओष्ट, दांत को काटना।
11. कुम्भ	विविध कुम्भियों में पकाना।
12. बालुक	भूंजना आदि।
13. वैतरणी	वसा, लोही आदि को नदी में डालना।
14. खरस्वर	करवत, परशु आदि से काटना।
15. महाघोष	भयभीत होकर दौडने वाले नैरयिकों का अवरोध करना।

निष्कर्षत: जैन आगमों में कुछ अलौकिक शक्तियों का परिचय जनसामान्य में नैतिकता के प्रसार हेतु दिया गया है ताकि वह सत्पथ पर चरित्र का आचरण करते रहें, पाप से भयभीत होकर वह दुष्कर्मों में प्रवृत्त न हों। इस भय से नरक की कल्पना को प्रश्रय मिला। पाप की यातना नियत नहीं है, अपितु कर्मों का फल है।

यदि कर्म के सिद्धान्त को समझ लिया जाये तो मनुष्य जन्मजन्मान्तर की यातना यात्रा को रोक सकता है।

उदाहरण के लिए मृगापुत्र को अपने पूर्व भव में शूल में खोंसकर पकाया हुए मांस प्रिय था यह स्मरण दिलाते हुए उसे नरक में उसी के शरीर के मांस को काटकर, अग्नि जैसा लाल करके खिलाया गया। उसे सुरा, सीधु, मैरेय और मधु मदिराएं प्रिय थीं, यह याद दिलाकर उसे जलती हुई चर्बी और रुधिर पिलाया गया।[303] यह इस बात की ओर इंगित करता है कि जैन आचार में जीव हिंसा को गर्हित माना जाता था और उसे हतोत्साहित करने के लिए धर्म का आवरण ओढ़ना पड़ा। इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र में प्रेतात्माओं की चर्चा है जो नरक की यातनाएं सहते हैं।

लोगों में अनेक प्रकार के धार्मिक अन्धविश्वास घर किये थे जैसे कि यह मान्यता कि चक्रवर्ती राजाओं और अरिहन्तों के जन्म से पूर्व उनकी माताएं प्रतीकात्मक स्वप्न देखती हैं।[304] विभिन्न प्रकार के लक्षणशास्त्र[305] स्वप्नशास्त्र, निमित्त शास्त्र और कौतुक[306] कार्य एवं कुहेटक विद्या[307] कार्य समाज में सम्पन्न होते थे।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. निग्गन्थे धम्मे, निग्गंठे पावयणे।
2. अरियधम्मं।
3. समण धम्मे।
4. आचारांग, 1/1/1।
5. वही, 1/1/3।
6. ज्ञातधम्म कथा, 1/5।
7. भगवतीसूत्र, 7/2।
8. आचारांग सूत्र, 1/5/5।
9. वही।
10. भगवतीसूत्र 7/8।
11. उत्तराध्ययन, 20/37।
12. वही, 20/36।
13. उत्तराध्ययन सूत्र, 14/18।
14. हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. 174।
15. कर्म की भौतिक प्रकृति के समर्थन में जैन दार्शनिकों ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वह अतिरोचक है। सिद्धान्त यह है कि यदि कार्य भौतिक स्वरूप का है तो कारण भी भौतिक स्वरूप का ही होना चाहिए। उदाहरणार्थ, जिन परमाणुओं से विश्व की वस्तुएं बनी हैं उन्हें वस्तुओं के कारण माना जा सकता है। परमाणुओं को भौतिक तत्व मान लेने पर वस्तुओं के कारण को भी भौतिक मानना होगा। जैनों की इस मान्यता के विरुद्ध उठायी

जाने वाली पहली आपत्ति यह है कि सुख-दु:ख, प्रमोद तथा पीड़ा जैसे अनुभव शुद्ध रूप से मानसिक हैं इसलिए इनके कारण भी मानसिक या अभौतिक होने चाहिए। जैनों का उत्तर है कि यह अनुभव शारीरिक कारणों से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि सुख-दु:ख इत्यादि अनुभव उदाहरणार्थ भोजन आदि से सम्बन्धित होते हैं। अभौतिक सत्ता के साथ सुख आदि का कोई अनुभव नहीं होता जैसे आकाश के साथ।

16. एस. गोपालन, जैन दर्शन की रूपरेखा, पृ. 151।
17. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/18।
18. द्र. एच. ग्लासेनैप, डाक्ट्रिन आफ कर्मन इन जैन फिलासफी, पृ. 9-12।
19. द्र. जैन दर्शन की रूपरेखा, पृ. 152-53।
20. सूत्रकृतांग सूत्र, 1/2/1/4
21. वही, 1/7/4।
22. वही, 1/2/3/18।
23. आचारांगसूत्र, जैनसूत्रज, भाग-1, पृ. 31-34।
24. सूत्रकृतांग, 1/5/1/26।
25. उत्तराध्ययन, 33/1।
26. वही, 33/2-3 — इन कर्मों का निम्न स्वरूप है—1 ज्ञानशक्ति का अवरोधक, 2 दर्शनशक्ति का अवरोधक, 3 शाश्वत सुख का अवरोधक, 4 मोह व राग का हेतु श्रद्धा एवं चारित्र का अवरोधक, 5 जन्म मरण का हेतु, 6 सुरूपता-कुरूपता, यश, कीर्ति, अपयश आदि का कारण 7 संस्कारी, असंस्कारी कुल व जाति का हेतु 8 आत्मशक्ति के विकास का अवरोधक, हानि लाभ का हेतु।
27. उत्तराध्ययन, 32/7।
28. आचारांग, 1/30/1।
29. दशाश्रुतस्कन्ध, 5/14।
30. वही, 5/15।
31. उत्तराध्ययन, 33/25।
32. सूत्रकृतांग, 1/15/7।
33. औपपातिकसूत्र।
34. जैकोबी, जैनसूत्रज, भाग-1, भूमिका।
35. वही।
36. एस.एन.दास गुप्त, हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, खण्ड-1, पृ. 120।
37. जैनसूत्रज, भाग-1, पृ. 23-32।
38. जैन दर्शन की रूपरेखा, पृ.9।
39. द्र. पाण्डुरंग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ. 264-65।
40. द्र. जी.सी. पाण्डे, श्रमण ट्रेडीशन, पृ0 38~
41. बी.एम. बरुआ, प्री बुद्धिस्टिक इण्डियन फिलासफी, पृ. 378।
42. हिस्ट्री ऑफ धर्म शास्त्र, जि0 2, भाग 2, पृ. 930 तथा आगे।
43. द्र. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. 123 तुल. आर्यदेवकृत चतु:शतक जहां बुद्धधर्म का निरूपण अहिंसा द्वारा हुआ है तथा आचार्य अकलंक, तत्वार्थवार्तिक में इसे प्रधान बताते हैं।
44. *जैन सूत्रज, भाग-1, भूमिका।*

45. बौधायन धर्मसूत्र, सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट।
46. एच. कर्न, मैनुअल आफ इण्डियन बुद्धिज्म।
47. द्र. जैन दर्शन की रूपरेखा, पृ. 9।
48. गौतम-ध. सू.; तुल. बौधायन-ध. सू., 6/11/16।
49. वहीं, III, 12
50. वही, III, 13 तुल. बौधायन-ध. सू., 6/11/20।
51. गौतम-III, 12।
52. वही, ।।, 20।
53. आचारांग-II, 1/7/6।
54. गौतम-III,23।
55. वही, III, 24।
56. आचारांग, 1/8/1/2।
57. बौधायन भाग-2, 6/11/14।
58. जैनसूत्रज, भाग-1, परिचयात्मक।
59. किन्नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रुणि किं तपः।
पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोको वदावदः।। — ऐतरेय ब्राह्मण, 33/1।
60. हिस्ट्री आफ दी धर्मशास्त्र, जि. 2, भाग-1, पृ. 418।
61. अर्ली बुद्धिस्ट मोनैकिज्म, पृ. 47-52।
62. स्टडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ. 322-326 तथा बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 25
63. दी एज आफ विनय, पृ. 107।
64. विस्तार के लिए द्र. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 25 तथा आगे।
65. ऐतरेय ब्राह्मण, 31/1।
66. एन्शेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मैगस्थनीज एण्ड एरियन, पृ. 97-105।
67. द्र. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 3।
68. ऋग्वेद, केशीसूक्त।
69. ताण्ड्य ब्राह्मणः मुनि रमण नाम स्थान का उल्लेख, जि. 1, पृ. 208।
70. शतपथ ब्राह्मण, जि0 2, पृ. 1041 तथा वृहदारण्यक सूत्र शंकराचार्य का शारीरिक भाष्य 3/4/9।
71. ऐतरेय ब्राह्मण, 8/1।
72. एन्शेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन पृ. 97-105।
73. येषां च विरोधः शाश्वतिकः—अष्टाध्यायी, 2/4/9। महाभाष्य—येषां च इस्यस्पावकाशः मार्जारमूषकं श्रमण ब्राह्ममित्यादौ ज्ञेयः।
74. आचारांग एस.बी.ई. जि. 22, पृ. 92 । उत्तराध्ययन एस.बी.ई. जि. 45 पृ. 39। तु. सामंज्जफलसूत्र, दीर्घनिकाय नालन्दा संस्क. पृ. 44-45 तथा अशोक के अभिलेख के गिरनार और शाहबाजगढ़ी संस्करण।
75. उत्तराध्ययन एस.बी.ई. जि. 45, पृ. 39-42।
76. ठाणं, 3/418 पृ. 235-36, तु. आचारांग आत्माराम जी-2, 1/9/49, पृ. 893।
77. दी एज आफ विनय, पृ. 145।
78. अर्ली बुद्धिस्ट मोनेकिज्म, पृ. 31-32।

79. ब्राह्मण मुन्जते नित्यं नाथवन्तुश्च मुन्जते।
तापसा मुन्जते चापि श्रमणाश्चैव मुन्जते।। 1/14/12।
80. अष्टाध्यायी, 2/1/70, 78।
81. उत्तराध्ययन, 2/3 तथा उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 435-453।
82. धम्मपद, 26/13, थेरगाथा, 246।
83. द्र. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर, पृ. 6।
84. मुनि नथमल, उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन: श्रमण संस्कृति के मतवाद, पृ. 26-27।
85. कल्पसूत्र (एस.बी.ई. जि. 22) पृ. 206, 281।
86. द्र. हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 11।
87. भागवतपुराण, पंचम स्कन्ध।
88. द्र. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 12।
89. बर्हिषी तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान परमर्षिभि: प्रसादितो नाम: प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान दर्शयितु कामो वातरशनानां श्रमणानां उर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तत्वाववतार। भागवतपुराण, 5/3/20।
90. ऋग्वेद 10/136/2-3।
91. द्र. पं. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य का इतिहास, प्राक्कथन, पृ. 12-13।
92. गोविन्दराजीय भूषण टीका में श्रमण का अर्थ दिगम्बर किया गया है —
श्रमणा: दिगम्बरा: श्रमणावातवसना: इतिनिघन्टु।
93. द्र. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 13-14।
94. भागवतपुराण, 5/6/12।
95. पूर्वोक्त—94, पृ. 13।
96. मज्झिमनिकाय, 40।
97- तैत्तिरीय आरण्यक जि. 1, यहीं पर उनके लिए वातरशना हवा ऋषभ: श्रमणा उर्ध्वमन्थिनो—कह कर एक साथ वातरशन और श्रमण को रखा है। 2/7/1-2।
98. श्रमणा वातरशना आत्म विद्या विशारदा:—श्रीमद्भागवत, 12/2/20 तथा श्रीमद्भागवत ब्रह्माख्यं धनं ते यान्ति शान्ता: संन्यासीनोअमला:, वही, 11/6/47।
99. केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोद सी।
केशी विश्वं स्वर्द शेकेशींद ज्योतिरुच्यते।।—ऋग्वेद, 10/136/1।
100. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार 2, सू. 30।
101. तिलोयपण्णति, 4/220 एवं तिलोयसार, 590।
102. उर्वरित-शरीर-मात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गमन परिधान: प्रकीर्णकेश: आत्म न्यारोपित ध्वनीयो-ब्रह्मावर्तात् प्रवब्राज। जडान्ध—मूक- बधिर पिशाचोभादकवद् अवधूत वेशो अभिभाष्यश्माणीअपि जनानां गृहितमोनवृत: तृष्णीं बभूव — परागवलम्बमान कुटिल-जटिल-कपिश, केशभूरी—भार: अवधूत—मलिन-निजशरीरेण गृहगृहीत इवादृश्यत। — भागवत पुराण, 5/6/28-31।
103. वातोद्धता जटास्तस्य रैजुरावुत्लमूर्तय: पद्मपुराण, 3/288 तथा स प्रलम्बजटाभारभ्राजिष्णु: हरिवंशपुराण, 9/204।
104. ऋग्वेद, 10/102/6।
105. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 16।

106. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. 138।
107. ऋग्वेद, 7/21/5: 10/99/3।
108. उत्तराध्ययन, अ. 23।
109. कश्चिद् विद्वतमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसम्मान्यं ब्राह्मण विशिष्ठं व्रात्ये मनुलक्षय वचनमिति मंतव्यं —अथर्ववेद, 15/1/1/1 पर सायणभाष्य।
110. आश्वलायन गृहसूत्र 1/19: 5-7: बौधायन गृहसूत्र 3/13/5-6: वसिष्ठ, 11/71।
111. मनुस्मृति, 2/39: याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/38।
112. शिव को अनार्य या व्रात्य होने के कारण दक्ष प्रजापति ने यज्ञ में नहीं बुलाया न ही उनसे उमा का विवाह करना चाहा था।
द्र. भण्डारकर आर.जी. शैविज्म वैष्णविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजियस सिस्टम्स।
113. आपस्तम्बधर्मसूत्र, 1/1/1/24-28: 1/1/2/1-4
114. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 52-53।
115. मनुस्मृति अध्याय 10।
116. व्रात्यस्त प्राणैक ऋषिस्ता विश्वस्य सत्पत्तिः। प्रश्नोपनिषद्, 2/11।
117. ऋग्वेद, 1/24/190/1।
118. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ. 229।
119. ताण्ड्य ब्राह्मण, जि. 1, पृ. 208।
120. तैत्तिरीय संहिता, 2/4/9/2: 6/2/7/5 तथा ताण्ड्य ब्राह्मण, 14/2/18: 18/1।
121. ऐतरेय ब्राह्मण, 7/28।
122. मुण्डकोपनिषद्, 12/3/6।
123. भगवद्गीता, 5/26/8/11।
124. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1465: आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति, 773।
125. आयोग व्यवच्छेदद्वाविंशिका, श्लो. 201।
126. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, 8 परिशिष्ट, पृ. 30।
127. डिस्कवरी आफ इण्डिया, प्लेट नं. 5।
128. त्रिषष्टीशलाकापुरुष चरित्र, पर्व 3, सर्ग 5, श्लोक 78 से 80।
129. सर जान मार्शल, मोहनजोदड़ो, भाग-1, अंक-8, पृ. 110-112।
130. अनुयोगद्वारसूत्र तथा इसकी वृत्ति मल्लधारी हेमचन्द्र द्र. आचारांगसूत्र (आत्मारामजी) भाग-2, 2/2/84 पृ. 1008-9।
131. निग्गम सक्क तावस, गेरुय, आजीव पचहासमणां।
तम्मि निग्गंथा ते जे, जिण सासगभवा मुणिणों।
सबका य सुगयसीसा, जे, जडिला ते उ ताक्सा गीया।
जे थाउरतवत्था, तिदंडिणो गेरुया ते उ।
जे गोसालगमय मणुखरंति, मन्नति ते उ आजीवा।
समणन्गेण भु वणे, पंचवि पता परिसिद्धिनिमे।। प्रवचन सारोद्धार गा. 731-32।
132. निशीथसूत्र सभाष्य, भाग-2, पृ. 118-200।
133. दीर्घनिकाय, सामंज्जफलसूत्र, पृ. 16-20।
134. पव्वइए अणगारे, पासंडे चरगतावसे भिक्खु।
परिवाइए य समणे, निग्गथे संजए भुत्ते।।
तिन्ने ताई दविए, मुणिय खेते यदन्त विरय।

लूहं तीरट्ठेअविय, हर्वति समणस्य नाभाई।।—दशवैकालिक निर्युक्ति, 158-159।
135. उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 27।
136. तत्वार्थसूत्र 9/46।
137. ठाणं, 5/184 पृ. 598।
138. ठाणं, 5/186 पृ. 599।
139. वही, 5/187।
140. विस्तृत सूचनाओं के लिए द्र. बौद्धग्रन्थ—महावग्ग, 31: मज्झिमनिकाय का उवालिसुत्त: अंगुत्तरनिकाय-3, 70 तथा दीर्घनिकाय का सामंज्जफलसुत्त।
141. ठाणं, 5/188, पृ. 600।
142. विन्टरनित्स, पूर्वो. पृ. 424।
143. आयारो, 1/5 पृ. 5।
144. ठाणं, 5/189, पृ. 600।
145. द्र. जैन इथिक्स, पृ. 134: 149-50।
146. द्र. आयारो, पृ. 237।
147. अर्ली बुद्धिस्ट मोनैक्जिम तथा स्टडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ. 327।
148. सूत्रकृतांग हेमचन्द्र जी महाराज श्रु.स्कन्ध-2, अ.1 पुण्डरीक।
149. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. 5-6।
150. सूत्रकृतांग (अमर मुनि) पृ. 25 तथा सूत्रकृतांग (एस.बी.ई.) जि. 45, 2, 2/79, पृ. 385।
151. सूत्रकृतांग एस.बी.ई. जि. 45 जैकोबी की टिप्पणी.पृ. 385।
152. वही, 1/22/15: वृहद्वृत्ति, पृ. 209/2।
153. सूत्रकृतांग, 1/22/15: वृहद्वृत्ति, पृ. 209।
154. वृहद्वृत्ति, पृ. 210-11।
155. सुत्तनिपात, 828।
156. वही, 54, 151 आदि।
157. सूत्रकृतांग, 1/1/11।
158. ठाणांग, 949।
159. सुत्तनिपात, 2/14/6।
160. द्र. जैन साहित्य का वृहद्इतिहास, भाग-1, पृ. 91।
161. द्र. सूत्रकृतांग अमरमुनि, पृ. 25।
162. तात्पर्य बौद्ध धर्म से है।
163. आयारो, 1/5 टिप्पण 5, पृ. 55।
164. वही, 1/91 टिप्पण 27, पृ. 63।
165. सूत्रकृतांग, (एस.बी.ई. जि.) 45 1, 1/1/3/24-29, पृ. 242-43।
166. उत्तराध्ययन (एस.बी.ई. जि.) 45 जैकोबी की टिप्पणी जैनसूत्रज भाग 2, पृ. 83।
167. सूत्रकृतांग, 1/6/27, पृ. 63।
168. जैनसूत्रज-2, पृ. 317, पाद टिप्पण 4।
169. महावग्ग नालंदा सं., पृ. 249-50।
170. उत्तराध्ययन एस.बी.ई. 18 23, पृ. 83।
171. महावग्ग, 6/31/3 जि. 17 पृ. 109 तु. सूत्रकृतांग 1/12: 2/2/66।
172. शीलांक सूत्रकृतांग 1/12/7 पृ. 317 में इसे बौद्धमत का शून्यवाद मानते हैं।

शून्यवादियों को क्रियावादी माना गया है। द्र. जैनसूत्रज भाग 2, पृ. 317।

173. वही, 1/12/8।
174. सूत्रकृतांग, 1/6/27, पृ. 291।
175. द्र. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. 33।
176. सूत्रकृतांग, 1/6/27, पृ. 291।
177. वही, एस.बी.ई. जि. 45 1/1/2/5-23 पृ. 240-42: 1/12/2, पृ. 316।
178. सूत्रकृतांग 1/4/1/9-10, पृ. 270।
179. वही, 1/1/16।
180. वही, एस.बी.ई. जि. 45 1/2/148, पृ. 241।
181. चार कोटियां इस प्रकार हैं—अस्ति है, नास्ति नहीं है, अस्तिनास्तित्व-न है न नहीं हैं एवं नास्ति च नास्ति न है न नहीं है।
182. द्र. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 33।
183. सूत्रकृतांग एस.बी.ई. जि. 45-2, 6/7, पृ. 4111
184. वही हेमचन्द्र जी महाराज 11, 6/1-25। आर्द्रकीय नामक छठे अध्ययन की प्रारम्भिक पच्चीस गाथाओं में आर्द्रक मुनि का गोशालक के साथ वाद विवाद है। इनमें गोशालक ने भगवान महावीर की निन्दा करते हुए कहा है कि पहले तो वह त्यागी थे, एकान्त में रहते थे और मौन रहते थे लेकिन अब आराम से रहते हैं, सभा में बैठते हैं, मौन नहीं रहते। इस प्रकार के और भी आक्षेप गोशालक ने भगवान महावीर पर लगाये। आर्द्रक मुनि ने उनका प्रत्याख्यान किया। इस विवाद के मूल में कहीं भी गोशालक का नाम नहीं दिया गया है। निर्युक्तिकार एवं वृत्तिकार ने इसका सम्बन्ध गोशालक के साथ जोड़ा है क्योंकि वाद-विवाद को पढ़ने से मालूम होता है कि पूर्वपक्षी पूर्णतया महावीर से पूर्णतया परिचित होना चाहिए। यह व्यक्ति गोशालक के सिवाय और कोई नहीं हो सकता। अतः गोशालक का इस विवाद से सम्बन्ध जोड़ना निर्विवाद है।
185. मूलकार, निर्युक्तिकार तथा टीकाकार सभी एकमत से इसे नियतिवाद कहते हैं। द्र. सूत्रकृतांग हेमचन्द्र जी जि. 2, पृ. 25।
186. सूत्रकृतांग-2, 6 आर्द्रकीय।
187. जैन साहित्य का वृहद इतिहास, पृ. 131।
188. द्र. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. 34।
189. आयारो, शस्त्रपरिज्ञासूत्र 59, पृ. 62 तुल. ओवाइय सूत्र 111-113 और 136-138।
190. ए.एल. बाशम, हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ आजीवकज, पृ. 4।
191. जैन ग्रन्थ, आचारांग, समवायांग, स्थानांग, सूत्रकृतांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति, औपपातिक व भगवतीसूत्र में इस मत की चर्चा मिलती है। द्र. स्टडीज इन दी भगवती सूत्र, पृ. 425।
192. यह छः अभिजातियां थीं—लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवन तथा मरण जिनसे सभी जीवों का जीवन नियन्त्रित होता है।—द्र. भगवती सूत्र, 15/1/539।
193. आजीवक मत के अनुयायी गोशाल और महावीर के साथ साथ रहने का उल्लेख भगवती सूत्र 15 में आता है। आजीवक मत का जन्म गोशाल से 117 वर्ष पूर्व हुआ था। गोशाल आठ महानिमित्तों का ज्ञाता था। आर्यकालक ने आजीवक श्रमणों से निमित्त विद्या का अध्ययन किया था। द्र. स्टडीज इन दी भगवती सूत्र अ. 7: मुनि नथमल, श्रमण भगवान महावीर, पृ. 207: हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ आजीवकज, पृ. 54-55।
194. आजीवकों पर द्रष्टव्य—स्टडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ. 342-46:

एनसाक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, जि. 1: हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ आजीवकज, पृ. 101-103।

195. द्र. स्टडीज इन दी भगवतीसूत्र, पृ. 435: जैनसूत्रज, भाग-2, परिचयात्मक।
196. बाराबरा पर्वतीय गुहालेख नं0 38, 39, 40: द्र. इण्डियन एन्टीक्वेरी जि. 20, पृ. 168 तथा आगे।
197. बृहद्जातक तथा लघुजातक, 20 तथा 9-11।
198. सूत्रकृतांग 2, अ. 6 गाथा 14 का अवतरण: शीलांकवृत्ति, पृ. 393।
199. होर्नले, एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, जि. 1, पृ. 265।
200. उवासगदसाओ, पृ. 265।
201. सूत्रकृतांग 1, 3/3/12।
202. जैनसूत्रज, भाग 2, पृ. 267, 441।
203. द्र हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ आजीवकाज, पृ. 3।
204. सूत्रकृतांग (एस.बी.ई. जि. 45) भाग. 1, 1/1/7-8 पृ. 236 भूतवादियों को ही यहां नास्तिक या चार्वाक कहा गया है।
205. द्र. मूल्यमीमांसा, पृ. 101।
206. द्र. स्टडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ. 351।
207. वही।
208. सूत्रकृतांग-1, 1/1/7-8, मूल में इस वाद का कोई नाम नहीं बताया है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे पंचमृतवाद कहा है किन्तु टीकाकार शीलांक ने इसे चार्वाक मत कहा है। दूसरे श्रुतस्कन्ध में इसी को पंचमहाभूतिकवाद कहा है।
209. वही, 1/10।
210. मूलकार ने इस मत का कोई लाभ नहीं बताया है। निर्युक्तिकार तथा टीकाकार ने इस मत को तज्जीव तच्छरीरवादी कहा है। द्र. सूत्रकृतांग विजयमुनि शास्त्री, पृ. 25।
211. जैकोबी के अनुसार टीकाकार का तात्पर्य सांख्य अथवा लोकायतिक मत से है। सांख्य के अनुसार जगत का विकास प्रकृति से हुआ है, आत्मा क्रियाहीन है। लोकायतिकों के अनुसार ही आत्मा नामक कोई पृथक सत्ता नहीं है। भूततत्व ही जब चैतन्य प्रकट करने लगते हैं तब आत्मा कहलाते हैं। द्र. जैनसूत्रज भाग-2, 7/20।
212. विशेष विस्तार के लिए द्र. सूत्रकृतांग अ.-1, (मुनि हेमचन्द्र जी), पृ. 44-50।
213. प्रकृति के लिए यहां नियतिभाव आज्ञा पद प्रयुक्त हुआ है। जैकोबी के अनुसार यहां नियति का तात्पर्य नित्यभाव से ही है। द्र. सूत्रकृतांग (एस.बी.ई. जि. 45-भाग 1), 1/2/5-6।
214. सूत्रकृतांग मुनि हेमचन्द्र जी जि. 2, 5/2।
215. वही, (एस.बी.ई. जि. 45, भाग 1), 2/3/6, पृ. 244।
216. वही, व्याख्या मुनि हेमचन्द्र जी, 1/10, पृ. 56-57।
217. वही, व्याख्या भाग-2, पृ. 56-57।
218. वही, जि. 2, 6/50 पृ. 383।
219. आयारो-1, 3/41, पृ. 35-37 तथा 1/5/90-92 पृ. 15-16 तथा 29: तथा देखें जैन साहित्य का वृहत इतिहास-भाग 1, पृ. 91।
220. आचारांग द्वितीय अध्ययन, द्वितीय उद्देशक।
221. जैन साहित्य का वृहत इतिहास, भाग-1, पृ. 93।

222. आचारांग, चतुर्थ अध्ययन, द्वितीय उद्देशक।
223. वही, अष्टम अध्ययन, विमोह।
224. सूत्रकृतांग में यही सूत्र है जहां उन्हें कुछ व्यक्ति कहा गया है। शीलांक कुछ व्यक्ति से तात्पर्य बौद्ध और बार्हस्पत्य साधुओं तथा ब्राह्मणों से लगाते हैं। द्र. सूत्रकृतांग एस.बी.ई., 1/1/16।
225. आयारो, शस्त्रपरिज्ञा, सूत्र 58-60, पृ. 62।
226. वही, लोकविजय, सूत्र 150, पृ. 118।
227. सूत्रकृतांग-1, 6/26-42, पृ. 364।
228. वही, भाग-2, 6/31-33।
229. वही, 2, 6/35-39।
230. वही, एस.बी.ई. जि. 45-1, 1/2/17, पृ. 238।
231. दीपिका में 'गानय' का अर्थ 'ज्ञानक' अर्थात् पण्डित मान्य किया गया है। जैकोबी के अनुसार यह शब्द यान'' से निष्पन्न है जिसका अर्थ हीनयान महायान जैसे सम्प्रदाय को इंगित करना है। द्र. जैनसूत्रज भाग-2, पृ. 238 पादटिप्पण 4।
232. सूत्रकृतांग-1, 3/4/6।
233. जैकोबी कहते हैं कि मोक्ष भी आनन्द की वस्तु है अत: यह आनन्ददायक सुखमय जीवन से ही प्राप्त हो सकता है।
234. उत्तराध्ययन (एस.बी.ई. जि. 45), 18/23, पृ. 83।
235. द्र. महावग्ग, 31/2 जि. पृ. 109 तु. सूत्रकृतांग 1/62 तथा 2/2/66।
236. सूत्रकृतांग, 1/12/7, पृ. 317।
237. वही, (एस.बी.ई.), 1/12/8।
238. शीलांक के अनुसार यह मत शैवमत है। सूत्रकृतांग-1, 1/3/14।
239. वही, 1/4/7-8।
240. वही, यहां पुराणकारों का तात्पर्य मूर्च्छा अथवा सुषुप्तावस्था से है।
241. सूत्रकृतांग एस.बी.ई. -1, 1/1/0, पृ. 237।
242. वही, भाग-1, 1/3/7-9।
243. वही, 2/3/6 सम्भवत: यहां योगदर्शन की चर्चा है।
244. वही, 12/3 जैकोबी की पादटिप्पणी, पृ. 316।
245. उत्तराध्ययन, 18/23।
246. जैकोबी की टिप्पणी-2, जैनसूत्रज भाग-2, पृ. 83।
247. शीलांक के अनुसार यहां गोशालकवादी तथा त्रैराशिक मतवादियों की चर्चा है। त्रैराशिक वैशेषिक दर्शन को मानने वाले जैन अनुयायी थे। त्रैराशिक के प्रवर्तक खालुक रोहगुप्त थे। यह मुक्त और शुद्ध के अतिरिक्त एक तीसरी अवस्था भी स्वीकार करने के कारण त्रैराशिक कहलाते हैं। द्र. सूत्रकृतांग हेमचन्द्र -1 :1/3/12-13, पृ. 245।
248. सूत्रकृतांग (अमरमुनि) 2, 1/11 पृ. 59-67।
249. अज्ञो जन्तुर नीशो यमात्मन: सुखदु:खयो।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्सवर्ग वा श्वभ्रमेव वा।।
250. एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूतेव्यवस्थित:।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जल चन्द्रवत।।
251. पुरुष एवेंद सर्व यद्भूतं यच्चभाव्यम्।—सूत्रकृतांग (आचार्य हेमचन्द्र), पृ. 63।

252. सूत्रकृतांग, मुनि श्री हेमचन्द्र जी की व्याख्या-2, 1/11, पृ. 65-67।
253. वही, 6/43-45।
254. वही, 6/45-45।
255. वही, पृ. 375-76।
256. पाणिनी के काल में लोग देवी देवताओं की मूर्तियां बनाकर अपनी आजीविका चलाते थे। द्र. गोपीनाथ, एलीमेन्टस आव हिन्दू इकोनोग्राफी, भूमिका।
257. ज्ञातृधर्म कथा, अ. 8, निशीथसूत्र 8/14 में इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, मुकुन्द, भूत, यक्ष, नाग, स्तूप, चैत्य, वृक्ष, गिरि, द्रोण, तड़ाग, ह्रद, सागर और आकरभट्ट का उल्लेख किया है।
258. उत्तराध्ययन, 19/3: विशेष टिप्पण के लिए द्र. उत्तरज्झयणं सटिप्पण पृ. 143 टिप्पण-5, भगवतीसूत्र, 10/4।
259. सूत्रकृतांग एस.बी.ई. 1/6/7 पृ. 288।
260. द्र. हापकिन्स, इपिक माइथोलॉजी, पृ. 135। तु. वृहत्कल्पभाष्य 1/1856-59। परम्परा के अनुसार एक बार इन्द्र उण्डक ऋषि की रूपवती पत्नी को देखकर मोहित हो गया। ऋषि ने उसे शाप दिया जिससे वह महाबध्या का पातकी कहलाया। इन्द्र डरकर कुरुक्षेत्र चला गया। इन्द्र के अभाव में स्वर्ग रसशून्य हो गया। यह देखकर देवता इन्द्र को स्वर्ग में लाने के लिए कुरुक्षेत्र पहुंचे। देवों ने इन्द्र से स्वर्गलोक चलने की प्रार्थना की लेकिन इन्द्र ने कहा, ऐसा करने से उसे महाबध्या लग जायेगी। इस पर देवताओं ने महाबध्या को चार हिस्सों में बांट दिया—स्त्रियों के ऋतुकाल में, जल में लघु शंका करने में, सुरापान में और गुरुपत्नी के साथ सहवास में। उसके बाद इन्द्र को स्वर्गलोक में जाने की आज्ञा मिल गई। द्र. महाभारत, वनपर्व।
261. कल्पसूत्र (एस.बी.ई.), 2/1/13।
262. जैन परम्परानुसार भरत चक्रवर्ती के समय से इन्द्रमह का आरम्भ माना जाता है। इन्द्र ने आभूषणों से अलंकृत अपनी उंगली भरत को दी और उसे लेकर भरत ने आठ दिन तक उत्सव मनाया। आवश्यक चूर्णि, पृ. 213। द्र. इपिक माइथोलॉजी, पृ. 125।
263. लाट देश में यह उत्सव श्रावण की पूर्णिमा के दिन मनाया जाता था। निशीथ, 19/6065 की चूर्णि। रामायण, 4/16/36 के अनुसार गौड़ देश में इसे आसोज की पूर्णिमा को मनाते थे। वर्षा के बाद जब रास्ते स्वच्छ हो जाते थे और पूर्णिमा के दिन युद्ध के योग्य समझे जाने लगते, तब इस उत्सव की धूम मचती थी। द्र. इपिक माइथोलॉजी, पृ. 125 आदि।
264. निशीथ सूत्र, 19/11-12।
265. वैदिक ग्रन्थों में नेगमेष हरिणेगमेष को हरिण शिरोधारक इन्द्र का सेनापति कहा गया है। महाभारत में उसे अजामृत बताया है। द्र. ए.के. कुमारस्वामी, यज्ञाज, पृ. 12।
266. कल्पसूत्र एस.बी.ई. 2/26। अन्त: कृद्दशा में भी हरिषेगमेषी का उल्लेख है। सन्तानोत्पत्ति के लिए उसकी मनौती की जाती थी। द्र. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 430।
267. बृहद्वृत्ति, पत्र 187: इज्यन्ते पूज्यन्त इति यक्षा:।
268. उत्तरज्झयणं (सटिप्पण) पृ. 29।
269. उत्तराध्ययनसूत्र, 3/14 आदि।
270. वही, 16/16।
271. वही, 12/8।
272. वही, जयदिस्स जातक 513 5 के अनुसार यक्षों की आंखें लाल रहती हैं। उनके पलक नहीं लगते, उनकी छाया नहीं पड़ती और वह किसी से डरते नहीं। यक्षों और गन्धर्वों

आदि के लिए द्र. दीर्घनिकाय, 3/9, पृ. 150।
273. सूत्रकृतांग (एस.बी.ई). 1/4/13।
274. उत्तराध्ययन, 7/26-27, पृ. 61।
275. सूत्रकृतांग (एस.बी.ई). जि. 45।
276. वही, 1/5/3, 5।
277. वही, 1/5/6।
278. वही, 1/5/7।
279. उत्तराध्ययन, 19/49।
280. वही, 19/50: तुल. सूत्रकृतांग 1/5/10।
281. सूत्रकृतांग, 1/5/13, तुल. उत्तराध्ययन, 19/57।
282. वही, 1/5/20।
283. वही, 1/5/2/4।
284. वही, 1/5/2/5।
285. वही, 1/5/2/0, 12।
286. उत्तराध्ययन, 19/68।
287. उत्तराध्ययन, 19/49 तुल. सूत्रकृतांग, 1/5/7, शीलांक के अनुसार इस नदी का पानी पीब तथा गर्म रक्त का होता है।
288. सूत्रकृतांग, 1/5/2/2 तुल. उत्तराध्ययन, 19/62।
289. वही, 1/5/2/3।
290. वही, 1/5/2/17।
291. वही, 1/5/14।
292. उत्तराध्ययन, 19/66।
293. वही, 19/53।
294. वही, 19/56।
295. वही, 19/58।
296. सूत्रकृतांग, 1/5/2/6।
297. वही, 1/5/11।
298. उत्तराध्ययन, 19/60।
299. वही, 19/73।
300. वही, 18/46: सटिप्पण, पृ. 147-48।
301. वृहद्वृति, पत्र 459।
302. परमधार्मिक देवताओं के कार्य उत्तराध्ययन में हैं किन्तु नाम नहीं है। विशेष वर्णन के लिए देखें—समवायांग, समवाय 15, वृत्ति पत्र 28, गच्छाचार, पत्र 64-65।
303. उत्तराध्ययन, 19/69-70।
304. कल्पसूत्र, महावीर का जीवन चरित।
305. उत्तराध्ययन, 20/45।
306. सन्तान प्राप्ति के लिए विशेष द्रव्यों से मिश्रित जल स्नान को ''कौतुक'' कहा जाता है। वृहद्वृति, पत्र 479।
307. मिथ्या आश्चर्य प्रस्तुत करने वाली मन्त्र तन्त्रात्मक विद्या को कुहेटक विद्या कहा जाता है। यह इन्द्रजाल है। द्र.—उत्तराध्ययन सटिप्पण, पृ. 154।

अध्याय 3

जैन संघ का स्वरूप

जैन धर्म की प्राचीनता

जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन धर्म है। जैन मतावलम्बी अपने सर्वोच्च आचार्यों को तीर्थंकर कहते हैं।[1] पार्श्वनाथ इस धर्म की चौबीस तीर्थंकर परम्परा के तेईसवें आचार्य थे। पार्श्वनाथ को प्रामाणिक आधार पर ऐतिहासिक पुरुष माना जाता है।[2] इनके चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर महात्मा गौतम बुद्ध के समकालीन थे।[3]

अनुमान किया जाता है कि पार्श्वनाथ अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के परम्परागत नैतिक सिद्धान्तों पर अधिक बल देते थे। तपस्या पर वह अवश्य बल देते थे किन्तु ब्रह्मचर्य को आध्यात्मिक जीवन के लिए अनिवार्य नहीं मानते थे और न ही नंगे रहते थे।[4]

ऋग्वेद के ग्रन्थों में जैनों के दो तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव तथा अरिष्ट नेमि के नामों का उल्लेख मिलता है। ऋषभदेव[5] जैनों के प्रथम तीर्थंकर थे जिनका केशी के नाम से भी समीकरण किया जाता है। अरिष्टनेमि[6] बाईसवें तीर्थंकर थे। भागवतपुराण[7] से इनकी ऐतिहासिकता की पुष्टि होती है। भागवतपुराण में कहा गया है कि ऋषभदेव के इस चरित्र को सुनकर कोंक, बैंक व कुटक का राजा अर्हन कलयुग में अपनी इच्छा से उसी धर्म का सम्प्रवर्तन करेगा इत्यादि। इस वर्णन से इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भागवतपुराण का तात्पर्य यज्ञ में परमऋषियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर परीक्षित स्वयं श्री भगवान विष्णु महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास में महारानी मरुदेवी के गर्भ में आये। उन्होने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से किया।[8] 'अयमवतारो रजसोपप्लुत कैवल्योपशिक्षणार्थः'[9] कहकर पुराणकार ने बताया है कि रजोगुण से भरे लोगों को कैवल्य की शिक्षा देने के लिए यह अवतार हुआ। डा० हीरालाल जैन के अनुसार इसका अर्थ है कि

उनका अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण (मलधारण) वृत्ति द्वारा कैवल्य प्राप्ति की शिक्षा के लिए हुआ था।

जैन मुनियों के आचार में अस्नान, अदन्तधावन, मल परीषह आदि द्वारा रजोधारण संयम का आवश्यक अंग माना गया है।

जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने अपने धर्म के प्रचार के लिए संघ बनाया था। चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने पार्श्व के धर्म को विशेष प्रतिष्ठा प्रदान की।[10] बुद्ध भगवान के समय में जैन साधु साध्वियों का संघ सबसे विशाल संघ था।[11]

महावीर स्वामी किशोरावस्था से ही श्रमण सिद्धान्तों द्वारा प्रभावित हो गये थे। वर्धमान महावीर के माता-पिता और उनके परिजन पार्श्वनाथ के अनुयायी थे।[12] महावीर से जैन धर्म और संघ का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। महावीर का जीवन काल 599 ई०पू० से 627 ई०पू०[13] तक माना जाता है। इन्हीं के समय में प्राचीन निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का नाम जैनमत पड़ा। इन्होंने जैन धर्म का विधिवत प्रचार और प्रसार किया।

पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म तथा महावीर के पांच महाव्रत

भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा से चला आने वाला धर्म चातुर्याम धर्म कहलाता था। जिसका वर्णन स्थानांगसूत्र में[14] मिलता है। यह चारों याम थे—

(1) सर्वप्राणतिपात विरमण।
(2) सर्वमृषावाद विरमण।
(3) सर्वअदत्तादान विरमण।
(4) सर्ववहिद्धादाण विरमण।

पार्श्वापत्यिक चातुर्याम परम्परा भगवान बुद्ध के समय विद्यमान थी। बौद्ध पिटकों में निर्ग्रन्थ साधु के लिए 'चातुर्याम संवर संवत्तो' विशेषण का प्रयोग मिलता है।[15] इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—(1) महात्मा बुद्ध तथा उनके अनुयायी इस परम्परा से पूर्णतया परिचित थे। तथा (2) पार्श्वनाथ की यह परम्परा उन दिनों जीवित एवं प्रचलित थी।

अनेक बौद्ध विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि बुद्ध भगवान ने भी पार्श्वनाथ की परम्परा को स्वीकार किया था। इन विद्वानों का कथन है कि गृहत्याग के बाद महात्मा बुद्ध ने कुछ दिनों तक निर्ग्रन्थ आचार का पालन किया था। निर्ग्रन्थ आचार पार्श्वनाथ की परम्परा के एकदम निकट दिखाई पड़ता है। महावीर ने ब्रह्मचर्य को

चातुर्याम से संलग्न कर पंच महाव्रत धर्म बना दिया जो चातुर्याम की अपेक्षा कहीं अधिक व्यावहारिक एवं सुबोध था।[16]

उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन में पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ केशी और महावीर के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम के श्रावस्ती में मिलने तथा आचार विचार के कुछ प्रश्नों पर संवाद होने की बात कही गयी है। इनके वार्तालाप के आधार पर चातुर्याम तथा पंच महाव्रत के मध्य अन्तर स्पष्ट हो जाता है।[17]

केशी गौतम इन्द्रभूति से पूछते हैं कि पार्श्व ने चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया और महावीर ने पांच व्रतों का, सो क्यों? इसी तरह पार्श्वनाथ ने सचेल सवस्त्र धर्म बतलाया जबकि महावीर ने अचेल वस्त्ररहित धर्म किसलिए बतलाया? इसके उत्तर में इन्द्रभूति ने कहा कि तत्व दृष्टि से चार याम और पांच व्रत में कोई अन्तर नहीं है। केवल युग की विपरीत और कम समझ देखकर ही महावीर ने विशेष शुद्धि की दृष्टि से चार के स्थान पर पांच महाव्रत का उपदेश दिया है।[18] मोक्ष का वास्तविक कारण तो अन्तर्ज्ञान, दर्शन और चरित्र हैं।[19] इन्द्रभूति के उत्तर की यथार्थता देखकर केशी ने पंच महाव्रत स्वीकार किया और इस प्रकार महावीर के संघ के अंग बन गये।[20]

भगवान महावीर के श्रमण काल में अनेक पार्श्वापत्यीय श्रमण तथा श्रावक रहते थे। भगवान महावीर के माता पिता पार्श्वनाथ की परम्परा को मानने वाले श्रमणोपासक थे। आचारांगसूत्र के अनुसार महावीर के माता पिता ने छहों प्रकार के जीवों की संरक्षा के लिए अपने पापों का अवलोकन किया, गर्हा की, पश्चाताप किया, पापों की स्वीकारोक्ति की आलोचना की, प्रायश्चित किये, अनशन किये तथा कुशाघ्रास पर आमरण अनशन से कायोत्सर्ग किया था।[21]

ऐसे अनेक पार्श्वापत्यीय श्रमण थे जिनका महावीर तथा उनके शिष्यों से मिलना तथा आलाप संलाप हुआ और वह महावीर के संघ में प्रव्रजित हो गये। इनमें प्रमुख पार्श्वनाथ परम्परा के वह स्थविर भी थे जो राजगृह में महावीर के पास आये तथा जिनकी मूल जिज्ञासा थी कि परिमित लोक में अनन्त रात दिन कैसे हुए।[22] भगवती सूत्र में कालास्यवैशिक पुत्र पार्श्वापत्यीय श्रमण का उल्लेख है। जो अनेक निर्ग्रन्थ स्थाविरों से तात्विक चर्चा कर समाधान पाते हैं और पूर्व परम्परा का विसर्जन कर महावीर की परम्परा को स्वीकार कर लेते हैं।[23]

भगवान महावीर वाणिज्य ग्राम में थे। पार्श्वापत्यीय श्रमण गांगेय भगवान के पास आया। उसने जीवों की उत्पत्ति और च्युति के विषय में प्रश्न किये। उसे पूरा समाधान मिला और वह उनका शिष्य बन गया।[24]

उदक पैढ़ाल पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षित था। एक बार जब गौतम गणधर नालन्दा में स्थित थे तो वह उनके पास गया। चर्चा की और समाधान पाकर उनका शिष्य हो गया।[25]

निर्ग्रन्थ धर्म महावीर के धर्म की आधारशिला

प्रामाणिक आधारों पर सिद्ध है कि महावीर ने अपने संघ को निर्ग्रन्थ धर्म पर आधारित किया था। महावीर ने अपने संघ में परिष्कार, परिवर्द्धन और सम्वर्द्धन किया था। चार महाव्रतों के स्थान पर पांच महाव्रतों की स्थापना की।[26] सचेल परम्परा के स्थान पर अचेल परम्परा को मान्यता दी।[27] समिति-गुप्ति का प्रथम निरूपण कर उसका महत्व बढ़ाया।[28]

भगवतीसूत्र में भगवान महावीर के मुख से कई बार यह कहलाया गया है कि यह सिद्धान्त पुरुषदानीय महावीर ने कहा है जिसको मैं भी कहता हूं। किसी भी स्थान पर महावीर अथवा उनके शिष्यों में से किसी ने भी ऐसा नहीं कहा कि महावीर का श्रुत अपूर्व अथवा नवीन है।[29] इस प्रकार जैन परम्परा अपने इतिहास को महावीर से बहुत प्राचीन मानती है।[30]

चतुर्विध संघ भी महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ ने स्थापित किया था। नायाधम्मकहाओ में वर्णन है कि श्रमणोपासिका काली को जब वैराग्य उत्पन्न हुआ तब उसने आर्या पुष्पचूलिका के निकट पार्श्वधर्म को स्वीकार किया था।[31] इससे स्पष्ट है कि पार्श्व ने श्रमणी तथा श्राविका के रूप में स्त्री अनुयायियों की संघ में उपेक्षा नहीं की। उनका संघ आठ के समूह में बंटकर आठ गणधरों के नेतृत्व में रहता था।[32]

तुंगीयग्राम[33] पार्श्वपत्यिक थेरों का केन्द्र माना गया था। वहां पर पार्श्व के अनुयायी साधु पांच सौ, पांच सौ के संघ बनाकर इतस्तत: भ्रमण करते थे। आस-पास के पार्श्वापत्यिक श्रावक उनके पास धर्म श्रवण के लिए जाते थे तथा उनसे तत्व निरूपण विषयक चर्चा किया करते थे। भगवतीसूत्र में विवरण है कि तुंगीय ग्राम के उत्तरपूर्वी दिशा में पुष्पावती चैत्य था। यहां के सम्पन्न निवासी श्रमण निर्ग्रन्थों में अगाध श्रद्धा रखते थे तथा अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, पड़वा अमावस्या की प्रतिपदा पर पौषध व्रत निराहार रह कर करते थे।[34]

महावीर की संघ व्यवस्था

भगवान महावीर व्यक्ति स्वातन्त्र्य के उद्‌गाता थे और साथ ही सामुदायिक मूल्यों के संस्थापक भी। उन्होंनें अपने संघ में आत्म-नियन्त्रण, अनुशासन और व्यवस्था इन तीनों को समान रूप दिया। जिससे न व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना कुण्ठित हो और न सामुदायिक मूल्यों का लोप।

यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से अध्यात्म साधना का संघीयकरण भगवान पार्श्व के समय ही हो चुका था, फिर भी महावीर ने युगीन अपेक्षाओं के परिवेश में

उसका जिस पद्धति से पल्लवन किया है वह धार्मिक संघों के इतिहास में अप्रतिम कहा जा सकता है।

उन्होंने अपने धर्मसंघ को आत्मानुशासन की भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कहा—'कुशले पुणे नो बद्धे नो मुक्के' अर्थात् प्राज्ञ व्यक्ति को बाहरी बन्धनों से जकड़ने की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि वह आत्मानुशासन से मुक्त नहीं होता।[35] किन्तु जहां समाज होता है वहां सबके संस्कार, रुचियां और अपेक्षाएं एकरूप नहीं होती। आत्मानुशासन भी सबका समान विकसित नहीं होता। अत: धार्मिक संघ में भी व्यवस्थाओं और संचालन की प्रविधियों का निर्धारण अपेक्षित समझा गया।

जैन धर्म संघ का प्रारूप

महावीर का संघ अपने शैशव से ही चतुर्विध संघ था।[36]

(1) श्रमण संघ
(2) श्रमणी संघ
(3) श्रावक संघ, तथा
(4) श्राविका संघ

इस प्रकार जैन संघ में श्रमण और श्रमणी के अतिरिक्त श्रावक (उपासक गृहस्थ पुरुष) तथा श्राविका (उपासिका गृहस्थ स्त्रियां) संघ के घटक थे। किन्तु समकालीन बौद्ध संघ में गृहस्थ स्त्री-पुरुष अनुपस्थित रहे। संघ को दान देने वाले श्रद्धालु उपासकों की चर्चा तो है किन्तु सैद्धान्तिक रूप से उनकी संघ में स्थिति अस्पष्ट ही है।[37]

महावीर की शिष्य सम्पदा का विवरण प्रस्तुत करते हुए कल्पसूत्रकार कहते हैं कि—भगवान महावीर की इन्द्रभूति गौतम आदि चौदह हजार परिमित उत्कृष्ट श्रमण[38] सम्पदा थी। आर्या चन्दना प्रमुख छत्तीस हजार उत्कृष्ट श्रमणी सम्पदा थी। उनके शिष्य परिवार में चौदह सौ मुनि चतुर्दशपूर्वी, तेरह सौ विशिष्ट अवधिज्ञानी तथा सात सौ केवलज्ञानी थे। पांच सौ विपुलमति मन: पर्यवज्ञानी थे, चार सौ मुनि वादलब्ध सम्पन्न थे। सात सौ शिष्यों और चौदह सौ शिष्याओं ने सिद्धि प्राप्त की थी।[39]

जैन संघ के विपरीत बौद्ध संघ सिद्धान्तत: दो विभागों में बंटा था:

(1) सम्मुखी भूतसंघ अर्थात् स्थानीय संघ तथा,

(2) अनागत चतुर्दिससंघ अर्थात् सार्वकालिक और सार्वदेशीय संघ जिसमें बुद्ध की शिक्षा के प्रति सभी आस्थावान अनुगामी भिक्षु और भिक्षुणी थे- यहां तक कि वे भी जो भविष्य में कभी इसकी सदस्या ग्रहण करेंगे।

इसके अतिरिक्त वह लोग भी सम्मिलित थे जिनकी संघ को अंगीकार करने की सम्भावना थी।[40] आदर्श रूप में सम्मुख संघ चतुर्दिश संघ का ही एक भाग थे। चुल्लवग्ग में आगन्तुक या स्थानीय या आवासीय भिक्षु के शिष्टाचार के नियम मिलते हैं।[41]

जैन धर्म संघ के सदस्यों का वर्गीकरण दो तत्वों के आधार पर होता है। यह है—साधना और व्यवस्था। साधना के दो अंग हैं—चरित्ताराधना एवं ज्ञानाराधना। चरित्र की विशिष्ट आराधना की दृष्टि से जैन वाङ्मय में तीर्थंकर अर्हत, केवली तथा अन्य मुनियों का उल्लेख है।

संघ का मुख्य आधार है व्यवस्था। इसके सम्यक् संचालन के लिए भगवान के समय में एक ही पद निश्चित था—गणधरपद। उस पर महावीर ने अपने ग्यारह शिष्यों को नियुक्त किया था। व्यवस्था की दृष्टि से मात्र इतनी ही जानकारी मिलती है कि भगवान के शासन में श्रमण समुदाय के नौ गण थे तथा ग्यारह गणधर थे। प्रथम सात गणों का नेतृत्व एक-एक गणधर करते थे शेष का दो-दो। इन्द्रभूति गौत्रम के अतिरिक्त नौ गणधरों ने भगवान की विद्यमानता में ही अपने गणों को सुधर्मा स्वामी को समर्पित कर दिया था।[42] इससे यह सिद्ध होता है कि महावीर के समय में उनके संघ में गणधर के अतिरिक्त किसी पद मर्यादा का सूत्रपात नहीं हुआ था।

साध्वी समाज का नेतृत्व महासती चन्दना को सौंपा गया था। पर प्रवर्तिनी जैसे किसी पद पर उनकी नियुक्ति हुई हो यह आगमिक आधार पर सिद्ध नहीं होता क्योंकि उनके नाम के साथ अज्जचन्दना अर्थात् आर्या के अतिरिक्त किसी उपाधि सूचक शब्द का प्रयोग नहीं मिलता।

विचारणीय प्रश्न यह है कि समूचे संघ में अपने अपने गणों की संचालन व्यवस्था अकेले गणधर ही करते थे अथवा अपनी सुविधानुसार कार्य का विभाजन भी करते थे? अंग साहित्य में आत्मानुशासन, संघीय विधि विधान और आचार सम्बन्धी नियमोपनियम की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है तथापि संघ के कार्य विभाजन और पद मर्यादा कहीं भी निर्दिष्ट नहीं किये गये।[43]

इसका एकमात्र कारण हो सकता है श्रमण साधक साधिकाओं की आत्मनिष्ठता, बाहरी प्रवृत्तियों के विस्तार का अभाव, आशुग्राही प्रज्ञा और ध्यान स्वाध्याय में लीनता। ऐसे प्रबुद्ध साधकों के लिए संकेत ही पर्याप्त होता है न कि विधि विधानों की व्यवस्थाएं। अत: व्यवस्था विस्तार की उस समय कोई विशेष

अपेक्षा अनुभूत हुई हो ऐसा प्रतीत नहीं होता।

नेतृत्व का विस्तार

कालान्तर में जब श्रमणसंघ विस्तार पाने लगा तो धर्माचार्यों का झुकाव लोकसंग्रह की तरफ हुआ। उनका कार्यक्षेत्र और संघीय प्रवृत्तियां बढ़ने लगीं साथ ही दायित्व भी बढ़ा। श्रुत केन्द्रित दृष्टि विकेन्द्रित हुई और अन्यान्य प्रवृत्तियों से संयुक्त हो गयी। श्रुत परम्परा के विच्छिन्न होने की आशंका ने अधिकारी वर्ग को सतर्क कर दिया। संघ की बहुमुखी प्रवृत्तियों और अपेक्षाओं की दृष्टि से दायित्व विभाजन किए गए किन्तु वह भी अपर्याप्त रहे।

फलतःसंघ की सुव्यवस्था के लिए नेतृत्व के क्षेत्र में परिवर्तन और परिवर्धन की अपेक्षा प्रतीत हुई। संघ की प्रवृत्तियों का वर्गीकरण हुआ। उनके सम्यक् संचालन के लिए विविध पदों और पदाधिकारियों का मनोनयन हुआ। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तिन, स्थविर, गणि, गणधर और गणवच्छेदक इन सात पदों का निर्धारण हुआ तथा इनकी प्रतिष्ठा को संघ में वरीयता प्राप्त हुई।[44]

संघ के पदाधिकारियों का संस्तरण

आचार्य

व्यवहारभाष्य में उल्लेख है कि जैसे नृत्य के बिना नट नहीं होता, नायक के बिना स्त्री नहीं होती, धुरे बिन गाड़ी का पहिया नहीं चलता, वैसे ही आचार्य के बिना गण नहीं चलता।[45] स्पष्ट है कि जैन परम्परा में आचार्य का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है।

पद व्यवस्था के क्रम में आचार्य की वरिष्ठता को अक्षुण्ण रखा गया है। उसकी योग्यता और दायित्व का परिचय देते हुए पूर्व मनीषियों ने लिखा है कि सूत्र और अर्थ का पारगामी व्यक्ति आचार्य पद पर समासीन हो सकता है। वह शिष्यों को अर्थ की वाचना देता है और गण की अन्यान्य चिन्ताओं से मुक्त करता है।[46] आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि आचार्य व्याख्याकार होता है।[47] इस प्रकार आचार्य ज्ञान के स्रोत थे और सूत्र के अर्थ की वाचना देते थे।[48]

आगम साहित्य में संघ के महत्वपूर्ण पदों की सूची में आचार्य सर्वोपरि है। श्रुत परम्परा को अविच्छिन्न रखने के लिए उसकी उपस्थिति अनिवार्य थी। किन्तु आरम्भ में कार्यक्षेत्र अध्ययन अध्यापन तक ही था।[49]

संघ विस्तार के साथ ही आचार्य का कार्य क्षेत्र विभक्त हुआ। स्थानांगसूत्र के

अनुसार आचार्य उद्देशनार्थ पढ़ने का आदेश देने वाले, वाचनार्थ पढ़ाने वाले प्रव्रज्या देने वाले तथा उपस्थापना महाव्रतों में आरोपित करने वाले होते हैं।[50] इस प्रकार कुछ आचार्य जनप्रतिबोध का कार्य करने लगे तथा कुछ श्रमणसंघ के विस्तार की दृष्टि से योग्य व्यक्तियों का चयन कर उन्हें दीक्षित करने लगे। कुछ दोनों ही कार्य करते थे और कुछ दोनों से ही उपेक्षित रहकर मात्र धर्मोपदेश का कार्य करते थे।

आचार्य संघ की आध्यात्मिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होता था। उसके कर्तव्य इस प्रकार थे[51]—

(1) सूत्रार्थ स्थिरीकरण—सूत्र के अर्थ का निश्चय करना।
(2) विनय—अनुशासन।
(3) गुरुपूजा—आध्यात्मिक दृष्टि से जो उनसे उच्च हो उसकी श्रद्धा करना।
(4) सैक्ष्य बहुमान—आध्यात्मार्थियों के प्रति आदर व्यक्त करना।
(5) दान प्रतिश्रद्धा भक्ति—दानदाता की दान में श्रद्धा बढ़ाना।
(6) बुद्धि बलवर्द्धन—विद्यार्थी की क्षमता और बुद्धि को बढ़ाना।

आचार्य को इसके अतिरिक्त भी इन बातों पर ध्यान देना चाहिए।[52]

(1) कोई आज्ञा देते समय वह सावधान रहे।
(2) नव दीक्षित श्रमण पुराने श्रमणों का सम्मान करें।
(3) श्रमण सूत्रों को सही क्रम में पढ़ें उसमें उलट-फेर न करें।
(4) अध्ययन के लिए उपवास में संलग्न श्रमण को पर्याप्त सुविधा दें।
(5) कोई भी कार्य श्रमणों की सहमति से करे।
(6) व्यवस्था देखे कि श्रमण की आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक श्रमण के पास उपधि हो।
(7) श्रमणों के उपकरणों का भी ध्यान रखे।

आचार्य के आवश्यक गुण थे कि उसका व्यक्तित्व श्रेष्ठ हो, आत्मप्रशंसा एवं विकृतियों से मुक्त हो। वह शास्त्रों का पण्डित हो तथा उसकी अभिव्यक्ति अच्छी हो।[53] संक्षेप में आचार्य पांच आचारों का निधान होता था। यह थे—ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप और वीर्याचार।[54]

उपाध्याय

समस्त श्रुत ज्ञान के अधिकारी, संयमयोग युक्त सूत्रार्थ के ज्ञाता मुनि उपाध्याय के पद पर नियुक्त हो सकते थे। ज्ञानदर्शन व चरित्र की आराधना में शिष्यों को श्रुत सम्पन्न बनाने वाले उपाध्याय होते थे।[55] ओघनिर्युक्ति व वृत्ति के अनुसार उपाध्याय सूत्र की वाचना किया करते थे।[56] क्योंकि श्रुत की परम्परा तो एक प्रवाह है। उसका उत्स सूत्र है। श्रुत परम्परा के अविच्छिन्न संरक्षण के लिए उपाध्याय की सक्रियता अनिवार्य थी।

उपाध्याय श्रमणों के प्रशिक्षक होते थे।[57] आरम्भिक आगम युग में उपाध्याय का कार्यक्षेत्र केवल अध्यापन तक ही सीमित था। वैदिक परम्परा में भी अध्ययन, अध्यापन की दृष्टि से उपाध्याय पद की प्रतिष्ठा थी।[58] आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि उपाध्याय पाठ दाता होता है।[59] मनुष्य जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए ज्ञान का स्थान सर्वोपरि है। इसलिए उपाध्याय को जैन और वैदिक दोनों परम्पराओं में अतिरिक्त प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

आचार्योपाध्याय

यह स्पष्ट नहीं है कि आचार्योपाध्याय शब्द समुदाय एक पदाधिकारी के लिए प्रयुक्त होता था अथवा दो के लिए। उदाहरण के लिए 'आचार्योपाध्यायस्य आचार्योपाध्याययोखा'[60] या 'आचार्येणसह उपाध्याय: आचार्योपाध्याय:'[61] वाक्यखण्ड जो कि आचार्योपाध्याय के विशेषाधिकारों तथा संघत्याग के नियम के विषय में है एक के लिए है या दो के लिए स्पष्ट नहीं होता।[62]

श्रुबिंग के अनुसार यह आचार्य तथा उपाध्याय के बीच का पद था।[63] जो भी हो स्थानांगसूत्र में आचार्योपाध्याय के पांच विशेषाधिकार बताये गये हैं[64]—

(1) वह उपाश्रय में पैरों को रगड़ कर धूलि साफ कर सकते हैं। यतनापूर्वक दूसरों पर न झड़े ऐसा करने पर उन्हें आज्ञा अतिक्रमण का दोष नहीं होता।
(2) उपाश्रय में उच्चार प्रावण का (प्राकृतिक विसर्जन) प्रश्रवण कर सकते हैं।
(3) उनकी इच्छा पर है कि किसी साधु की सेवा करे या नहीं करें।
(4) उपाश्रय में दो रात तक अकेले रह सकते हैं।
(5) उपाश्रय से बाहर एक या दो रात तक रहने पर आज्ञा अतिक्रमण का उन्हें दोष नहीं लगता।

इसी प्रकार पांच कारणों से आचार्योपाध्याय गण छोड़ सकते थे[65]—

(1) आचार्योपाध्याय गण में आज्ञा या धारणा का सम्यक् प्रयोग न कर सकें अर्थात् संघ का मनोबल तथा आवश्यक कर्तव्यों के प्रति अनुशासन बना कर न रख सकें।
(2) आचार्योपाध्याय गण में कृतिकर्म वन्दन और विनय का सम्यक् प्रयोग न कर सकें अर्थात् गण के सदस्यों को नियन्त्रित न कर सकें।
(3) जिन श्रुत पर्यायों को धारण करते हैं, समय-समय पर उनकी गण को सम्यक् वाचना न दें।
(4) आचार्योपाध्याय अपने गण की या दूसरे के गण की निर्ग्रन्थी में बर्हिलेश्य आसक्त हो जाएं।
(5) आचार्योपाध्याय के मित्र या स्वजन गण से अपक्रमित (निर्गत) हो जाएं, उन्हें पुन: गण में सम्मिलित करने तथा सहयोग करने के लिए वह गण से अपक्रमण कर सकते हैं।

प्रवर्तक या प्रवर्तिन

आचार्य और उपाध्याय के अतिरिक्त श्रमण संघ की व्यवस्था और दायित्व की दृष्टि से प्रवर्तक का स्थान था। संघ की प्रत्येक गतिविधि एवं स्थिति का ध्यान रखना, श्रमणों को उनकी रुचि और क्षमता के अनुसार साधना क्षेत्र में प्रवृत्त करना, प्रोत्साहित करना, प्रवर्तक का प्रधान दायित्व था।[66]

किसी कारणवश यदि साधक अति-उत्साह या भावुकतावश किसी कार्य में वैयावृत हो जाता किन्तु धैर्य, शारीरिक शक्ति तथा परिस्थिति की अनुकूलता के अभाव में यदि वह आगे नहीं बढ़ पाता तो प्रवर्तक उसका पथ प्रवर्तित करता था।[67]

प्रवर्तक की योग्यता का वर्णन करते हुए आचार्य ने लिखा है कि तप, नियम, विनय आदि गुणों के निधान श्रमणों को यथायोग्य ज्ञान, दर्शन और चरित्र की साधना में नियोजित करने वाले कुशल श्रमण प्रवर्तक पद को समलंकृत कर सकते हैं।[68]

स्थविर

स्थानांगसूत्र में तीन प्रकार के स्थविरों का उल्लेख है—

(1) वय : स्थविर
(2) पर्याय स्थविर, तथा
(3) श्रुत स्थविर।[69]

साठ वर्ष का होने पर श्रमण निर्ग्रन्थ जाति स्थविर होता है। स्थानांग और समवायांग का धारक श्रमण निर्ग्रन्थ श्रुत स्थविर होता है तथा बीस वर्ष से साधुत्व पालने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ पर्याय स्थविर होता है।

स्थविर का अर्थ है ज्येष्ठ। वह जन्म, श्रुत, अधिकार, गुण आदि अनेक सन्दर्भों में ज्येष्ठ होता है।[70] ग्राम, नगर और राष्ट्र की व्यवस्था करने वाले बुद्धिमान, लोकमान्य और सशक्त व्यक्तियों को क्रमशः स्थविर, नगर स्थविर और राष्ट्र स्थविर कहा जाता है। धर्म का उपदेश देने वाला प्रशास्ता स्थविर होता है। कुल स्थविर, गण स्थविर और संघ स्थविर क्रमशः कुल, गण और संघ की व्यवस्था देखते थे।[71]

जिस व्यक्ति पर शिष्यों में अनुत्पन्न श्रद्धा उत्पन्न करने और उनकी श्रद्धा विचलित होने पर उन्हें पुनः धर्म में स्थिर करने का दायित्व होता है वह स्थविर कहलाता है।[72]

व्यवहार भाष्य के अनुसार जाति स्थविरों के प्रति अनुकम्पा, श्रुत स्थविर की पूजा और पर्याय स्थविर की वन्दना करनी चाहिए।[73]

गणि

गणि का सामान्य अर्थ होता है, गण का अधिपति। जिसका गण हो वही गणि है 'गणोयस्य अस्तिति'[74] मुनि श्री नथमल के अनुसार छोटे-छोटे गणों का नेतृत्व गणि का कार्य था।[75] गणि से प्रमुखतः जिन गुणों की अपेक्षा की जाती थी वह नैतिक गुण थे। उसे आठ प्रकार की गणि सम्पदा में निष्णात होना पड़ता था[76] :—

(1) आचार सम्पदा - संयम की समृद्धि,
(2) श्रुत सम्पदा - श्रुत की समृद्धि,
(3) शरीर सम्पदा - शरीर का सौन्दर्य,
(4) वचन सम्पदा - वचन कौशल
(5) वाचना सम्पदा - अध्यापन पटुता,
(6) मति सम्पदा - बुद्धि कौशल,
(7) प्रयोग सम्पदा - वाद कौशल,
(8) संग्रह परीज्ञा - संघ व्यवस्था में निपूर्णता।

गणधर

आगम साहित्य में गणधर शब्द मुख्यतः दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—तीर्थंकरों के

प्रमुख शिष्यों के अर्थ में जो द्वादशांगी की रचना करते हैं और सामान्य आचार्य के अर्थ में[77] लेकिन आचार्य के अर्थ में वह उतना प्रचलित नहीं है। मूलत: गणधरों की परम्परा तीर्थंकरों की विद्यमानता में ही प्रचलित होती है। तीर्थंकरों के निर्वाण के पश्चात् गणधर फिर गणधर नहीं कहलाते।[78]

लेकिन पद व्यवस्था के क्रम में प्रयुक्त गणधर शब्द का अर्थ बिलकुल बदल जाता है। वहां गणधर का अर्थ है श्रमणों की दिनचर्या का ध्यान रखने वाला श्रमण जिसे 'संग्रहोपग्रहकुशल:' कहा गया है।[79]

स्वयं भगवान महावीर के नौ गण तथा ग्यारह गणधर थे जिनका प्रमुख कार्य भगवान के उपदेशों को स्मरण रख तत्काल अंगों में निबद्ध करना था। बौद्ध संघ में ऐसे गणधर नहीं थे।

भगवान बुद्ध समय समय पर उपदेश देते थे किन्तु उनके उपदेश को तत्काल गुम्फित करने का दायित्व किसी का नहीं था। उनके निरन्तर साथ रहने वाले शिष्य उपदेशों का श्रवण करते और स्मरण करने का प्रयत्न करते थे। यही कालान्तर में विनयधर कहलाने लगे।[80]

वैदिक वाङ्मय के लिए गणधर शब्द अचीन्हा और अनजाना रहा। यद्यपि गणपति शब्द बहुलता से मिलता है।

स्थानांगवृत्ति में गणधर का अर्थ किया गया है 'आर्याप्रतिजागरुक:'[81] अर्थात् साध्वियों को प्रतिबोध देने वाले। इससे प्रतीत होता है कि श्रमणी समूह की देखरेख, अध्ययन और मार्गदर्शन के लिए किसी विशिष्ट श्रमण की नियुक्ति होती थी जिसे 'गणधर' कहा जाता था।

गणवच्छेदक

गणवच्छेदक गण के एक विभाग का अध्यक्ष होता था।[82] गणवच्छेदक के लिए गच्छवच्छ शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है जो इंगित करता है कि गणवच्छेदक संघ के प्रति विशेष वत्सल भाव रखते थे।[83] आठ वर्ष का संघ पर्याय तथा स्थानांग एवं समवायांग का पूर्ण ज्ञान इस पद की अर्हता थी।[84] बहुश्रुत आदि गुणों से युक्त, श्रुति संहनन संपन्न, संघ हितैषी और महान सेवा भावी मुनि इस पद पर नियुक्त किये जाते थे।[85] संघ की आन्तरिक व्यवस्थाओं का दायित्व मुख्यत: इन्हीं पर था। संघ के किसी सेवा कार्य के लिए वे आचार्योपाध्याय के निर्देश की प्रतीक्षा नहीं करते थे। या तो वह स्वयं संघीय अपेक्षाओं को देखकर उसमें प्रवृत्त हो जाते या आचार्य से स्वयं अनुरोध करते थे कि यदि उनकी अनुज्ञा प्राप्त हो तो वे अमुक कार्य करें।[86]

कल्पसूत्र वृत्ति में लिखा है कि गणवच्छेदक साधुओं को लेकर बर्हि विहार

करते हैं।[87] वस्तुत: गण की व्यवस्था समबन्धी चिन्ता करना इनका कार्य था। यदि इस पद पर नियुक्त व्यक्ति ब्रह्मचर्य भंग करे अथवा संघ त्याग करे तो उसे जीवन पर्यन्त इस पद के लिए अयोग्य कर दिया जाता था।[88] यदि पदमुक्त होने पर वही अपराध कर बैठे तो उसे तीन वर्ष के लिए निलम्बित कर दिया जाता था।[89]

उक्त सात पदों की व्यवस्था जैन श्रमणसंघ की अपनी मौलिक उपलब्धि थी। संघ के विकास और विस्तार की दृष्टि से यह बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई। यह आश्चर्य का विषय है कि महावीर युगीन कोई भी धर्मसंघ जैन संघ के समान सुव्यवस्थित और सुसंगठित नहीं बन पाया। इन सात पदों जैसी व्यवस्था का संकेत तो वैदिक, बौद्ध आदि किसी भी संघ व्यवस्था में नहीं मिलती।[90] गणवच्छेदक, प्रवर्तिन, गणि, गणधर जैसे पदों का संस्तरण जैनसंघ में अनूठा था।

किन्तु इस प्रसंग में जी०एस०पी० मिश्र[91] का मत उल्लेखनीय है क्योंकि उनके अनुसार जैन संघ की तुलना में बौद्ध संघ अधिक सुसंगठित था तथा सामुदायिक विचारों पर आधारित था। संघ के अन्तर्गत कुशल प्रशासन के लिए बौद्ध संघ की संहिता में अनेक पदाधिकारियों की नियुक्ति के नियम थे जैसे संघभट्ट, भोजन वितरण की व्यवस्था करने वाला पदाधिकारी भाण्डागरिक, भण्डार देखने वाला चीवर भाजक, वस्त्र वितरक शाटिक गाहपक, वस्त्र स्वीकार करने वाला, समणेरपेसक, श्रमणों का निर्देशक आदि आदि तथा इनके निर्वाचन, अधिकार और कर्तव्यों के विषय में स्पष्ट नियम बने हुए थे।[92]

इसी प्रकार गणपूरक गण का कार्यवाहक आयुक्त, शलाकागाहपक मत एकत्र करने वाला आयुक्त, आसनापक आसन वितरक आदि संघ के ऐसे पदाधिकारी थे जो उसके सम्यक् संचालन के लिए उत्तरदायी थे। जैन संघ में इस प्रकार का सुसंगठित सामुदायिक जीवन दृष्टिगोचर नहीं होता। संघ में प्रशासनिक निपूर्णता का परिचय देने हेतु जैन संघ अपने सदस्यों की भौतिक आवश्यकताओं की सम्पूर्ति से अपनी कोई सम्बद्धता नहीं दर्शाता।[93]

डा० मिश्र अपने मत के समर्थन में एस०बी० देव के इस कथन को भी उद्धृत करते हैं कि जैन संघ श्रमणों के नैतिक पक्ष को देखते हुए संघ पदाधिकारियों का संस्तरण मात्र करके सन्तुष्ट था।[94]

विज्ञजनों की समालोचनात्मक गहन दृष्टि के उपरान्त भी विवेचन की दृष्टि से यह मत पूर्ण प्रतीत नहीं होता क्योंकि जीवन मूल्य ही किसी भी व्यक्ति अथवा संस्था के निर्माता नियन्ता होते हैं और उसके क्रियान्वयन के परिचायक भी। बौद्ध संघ आरम्भ से ही मध्यमा प्रतिपदा की दृष्टि लेकर चला तो उसने अपने संघ के संविधान और उसके क्रियान्वयन में भी आदर्श और व्यवहार अथवा आध्यात्मिक *और भौतिक के मध्य सन्तुलन रखा।*

जैन संघ का आधार ही प्रासुक भिक्षुओं की आध्यात्मिक और नैतिक

परिपूर्णता है, उनकी दृष्टि ही पूर्ण अहिंसा, पूर्णसत्य, पूर्ण अस्तेय, पूर्ण अपरिग्रह और पूर्ण ब्रह्मचर्य की है। कायः, क्लेश, वैराग्य, नग्नता, आमरण अनशन जिस दृष्टि के उत्प्रेरक हों वहां भौतिक आवश्यकताओं की सम्पूर्ति का गौण विषय बन जाना न तो संघ की निपूर्णता का अभाव दर्शाता है न ही सामितीय आधार पर तुलनात्मक हीनता।

जिनका आदर्श नग्नता है, चीवरभाजक पद उनके लिए महत्वहीन है। जो पाणिपात्री हैं, पूर्ण अपरिग्रही हैं उनके लिए भाण्डागारिक पद स्वतः नगण्य है। आध्यात्मिक उत्कर्ष के सतत् साधक के लिए भौतिक व्यवस्थाओं के नियम और उनकी क्रियान्विति देखना सुपथ में गतिरोध और प्रमाद का कारण हो सकता है। यह जैन संघ की दूरदृष्टि और आचार्यों की सूझबूझ का ही परिणाम रहा कि श्रमणसंघ सहस्राब्दियों के बाद भी बौद्ध संघ की तुलना में शक्ति संपन्न बना रहा और अनेकों अवरोधों के उपरान्त भी जैन धर्म की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही तथा अपने तत्वदर्शन और चिन्तन से जनजीवन को अनुप्राणित करती रही।

यह सत्य है कि जैन संघाधिकारी सेह शिष्य, श्रमण (भिक्षु), आचार्य, उवाज्झाय (उपाध्याय), आयारोवाज्झयाय (आचार्योपाध्याय), पवति (प्रवर्तिन), गणि (गणाधिपति), गणहर (गणधर) तथा गणवच्छेइय (गणवच्छेदक) जैसे पदों की स्थिति स्पष्ट नहीं है।[95]

किन्तु इस परिप्रेक्ष्य में ज्ञातव्य है कि श्रमणसंघ में नेतृत्व का विकास और पल्लवन एक ही साथ हो गया हो ऐसा नहीं था। इसका विकास क्रमिक हुआ तथा जैसे-जैसे संघ का विस्तार हुआ वैसे-वैसे सुगमता की दृष्टि से कार्य का विभाजन हुआ और नेतृत्व की दिशाएं विकसित हुईं।

कालक्रम से श्रमण संघ में इन व्यवस्थाओं की जड़ें इतनी गहरी और दृढ़ हो गयीं कि उनको श्रमण आचार संहिता के तुल्य प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी। किन्हीं परम्पराओं में यह धारणा पुष्ट हो गयी कि यह पद व्यवस्था स्वयं महावीर द्वारा प्रतिपादित है तथा उनके समय से ही प्रचलित है। कहीं-कहीं ऐसा भी माना जाने लगा कि इन सात पदों की निश्रा के बिना साधु-साध्वियों को विहार करना भी नहीं कल्पता[96] अर्थात् श्रमणसंघ में इन सातों पदों और पदाधिकारियों की नियुक्ति अनिवार्य है।[97]

संघ की इकाइयां

जैनसंघ के पूर्ववर्णित सात पदाधिकारियों के अधीन भिक्षु कई समूहों में विविध इकाइयों में बंटे थे। यद्यपि इन इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में

अंगों में अधिक व्याख्या नहीं हैं किन्तु इनसे ऐसा संकेत मिलता है कि यह विविध पदाधिकारियों के अधीन प्रशासनिक इकाइयां थीं। यह थीं : कुल, गण तथा सम्भोग।

कुल

कुल गण के निर्माण की इकाई थी। अंग और मूल सूत्रों में इसके विषय में विवरण प्राप्त नहीं होते। श्रमण जिस कुल से सम्बन्धित हो उसके प्रति उससे स्वामिभक्ति की आशा की जाती थी।[98] टीकाकार इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह 'एगायारियस्स सन्ताइ'[99] अर्थात् यह एक विशिष्ट आचार्य के शिष्यों का समूह होता था। वह इसे गच्छ से समीकृत कर देते हैं।[100]

गण

गण सबसे बड़ी इकाई थी। प्राचीनता की दृष्टि से यह इकाई प्राक् महावीर तीर्थंकरों तक पहुंचती है।[101] भाष्यकारों ने गण की व्याख्या समान वाचनाक्रिया : साधु समुदय: अर्थात् श्रमणों का समान वाचना वाले समूह[102] के रूप में की है। दूसरी व्याख्या कुल समुदय:[103] अर्थात् कुलों का समूह के रूप में की जाती है। किन्तु भाष्यकारों ने इसे गच्छ से एकीकृत कर दिया है जिसकी कि चर्चा आगम के परवर्ती साहित्य में मिलती है किन्तु मूल अंगों में कहीं-कहीं प्राप्त होती है। भगवतीसूत्र की टीका के अनुसार गण की रचना तीन कुलों से की जाती थी।[104] भिक्षु को छ: माह तक अपना गण बदलने की अनुमति नहीं थी।[105] महावीर की यह व्यवस्था थी कि जो निर्ग्रन्थ जिस गण में दीक्षित हो, वह जीवनपर्यन्त उसी में रहे। विशेष प्रयोजनवश अध्ययन आदि के लिए वह गुरु की आज्ञा से साधर्मिक गणों में जा सकता था।[106] परन्तु दूसरे गण में संक्रमण करने के पश्चात् छ: मास तक वह पुन: परिवर्तन नही कर सकता।[107] छ: मास पश्चात् वह परिवर्तन कर सकता था। जो मुनि विशेष कारण के बिना छ: मास के भीतर-ही-भीतर गण परिवर्तन कर लेता, उसे गाणंगणिक कहा जाता था।[108]

उल्लेखनीय है कि महावीर के ग्यारह गणधर तत्कालीन संघ के ग्यारह गणों के प्रमुख थे। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से प्रत्येक गण को ऐसे योग्य व्यक्ति के अधीन रखा गया जो अध्यापन में निपूर्ण तथा आदर्शचरित्र हो।

इस प्रसंग में श्रुबिंग की मान्यता है कि इन गणधरों के उत्तराधिकारियों ने सिद्धान्तों का प्रचार शास्त्र और कुलों में किया। इस प्रकार से गण संज्ञा सिद्धान्त के इतिहास की दृष्टि से प्रत्यय है तथा एक तकनीकि शब्द भी है।[109]

सम्भोग

उत्तराध्ययन तथा स्थानांगसूत्र के टीकाकार सम्भोग की परिभाषा एकामण्डलिकाभोक्तृत्वा:[110] से करते हैं जिसका अर्थ है श्रमणों का ऐसा समूह जो सामाचारी द्वारा बंधा हुआ है तथा जो भिक्षा एक साथ एकत्र होकर लेता है। जैकोबी के अनुसार यह श्रमणों का ऐसा समूह था जो एक ही जिले में भिक्षा मांगता था।[111]

समवायांगसूत्र के अनुसार सम्भोग की संरचना से उसके सदस्यों को कुछ रियायतें मिल जाती थीं।[112] उल्लेखनीय है कि आचार्य, उपाध्याय, थेर, कुलसंघ, ज्ञान, दर्शन और चारित्र इनमें से किसी से भी द्वेष करने पर श्रमण को सम्भोग से निष्कासित कर दिया जाता था।[113]

बौद्ध तथा जैन संघ की सक्रिय इकाइयों में वर्गीकरण का विभाग उनके प्रवर्तकों के आदर्शों तथा संघ प्रशासन से निष्पन्न है। बुद्ध शास्त्र की अपेक्षा धर्म के अमूर्त नेतृत्व को अधिक उचित मानते थे।[114] अपने चहुं ओर फैले गणतन्त्रात्मक राज्यों की पद्धति के प्रशंसक होने के नाते उन्होंने अप ो मृत्यु के पश्चात् संघ द्वारा अपनाने के लिए प्रजातन्त्रात्मक पद्धति को पसन्द किय।। इसके विपरीत महावीर ने उत्तराधिकारी चुनने की प्रतिष्ठित पद्धति को ही अनवरत रखा।[115] जैन संघ की चेष्टा व्यक्तिवाद की ओर अधिक थी।[116]

पद निर्वाचन

जैन संघ में पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिए कोई संघीय निर्वाचन प्रणाली नहीं थी। निर्वाचन का एकमात्र अधिकारी आचार्य ही था। आचार्य पदाधिकारियों का मनोनयन स्वयं करते थे। अपेक्षा होने पर संघ अथवा स्थविर मुनियों की सहमति ली जा सकती थी। आचार्य के लिए अपने उत्तराधिकारी आचार्य की नियुक्ति जितनी अनिवार्य समझी जाती थी उतनी शेष पदों की नहीं।

व्यवहारभाष्य में लिखा है कि आचार्य मोह चिकित्सा या रोगचिकित्सा के लिए किसी अन्य गण में जाये तो अस्थायी रूप से उत्तराधिकारी की नियुक्ति अवश्य करके जाये।[117]

व्यवहारभाष्य के चूर्णिकार ने लिखा है कि उत्तराधिकार की दृष्टि से आचार्य दो प्रकार के होते हैं—गच्छसापेक्ष और गच्छनिरपेक्ष। गच्छसापेक्ष आचार्य अपनी विद्यमानता में ही उत्तराधिकारी की नियुक्ति कर देते हैं, जिससे उनका देहान्त होने पर संघ को कठिनाई नहीं झेलनी पड़ती। आचार्य को चाहिए कि वह अपने जीवनकाल में ही संघ का भावी उपाध्याय या नेता नियुक्त कर दें।[118]

गच्छनिर्पेक्ष आचार्य अपना उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं करते पर इससे संघ के अहित की सम्भावना रहती है। संघ में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि आचार्य को भावी नियुक्ति के लिए योग्य आचार्य न मिलें या उनका देहान्त अचानक हो जाये तो संघ को चाहिए कि वह अस्थायी आचार्य या उपाध्याय चुन ले और निर्वाचकगण यह घोषणा करें कि स्थायी नियुक्ति तक यह हमारे नेता हैं।[119]

आचार्य यदि जिनकल्प साधना स्वीकार करना चाहें या आमरण अनशन करना चाहे तो अस्थायी रूप से किसी आचार्य या उपाध्याय को कार्यभार अवश्य सौंप कर जाएं।[120]

इन उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि श्रमणसंघ में आचार्य अथवा उपाध्याय के निर्वाचन के साथ अन्य अधिकारी वर्ग का निर्वाचन अनिवार्य नहीं था। आचार्य चाहते तो शेष सभी विभागों का कार्यभार स्वयं संभालते या कुछ पर अन्य समर्थ मुनियों की नियुक्ति करते थे।[121]

जैन श्रमण तथा श्रमणी को आदेश है कि किसी कार्यवश गृहस्थ के घर जाएं तो आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर, गणवच्छेदक जिनकी निश्रा में वह रह रहा है, उनसे बिना पूछे नहीं जाये।[122]

मुनि संघ जिसके नेतृत्व में विहार कर रहा हो उसके दिवंगत हो जाने पर संघ किसी उपसम्पदा योग्य श्रमण की निश्रा स्वीकार करे। यदि कोई योग्य न हो तो जो श्रुत और पर्याय की दृष्टि से ज्येष्ठ हो उसकी निश्रा स्वीकार करे।[123] यदि वह भी न हो तो जिधर अन्य साधर्मिक साधु हों उधर विहार करे।[124] किन्तु योग्य नेतृत्व के बिना नहीं रहे।

श्रमण संघ में सात पदों की व्यवस्था होते हुए भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से पदों और कार्यक्षेत्रों का संकोच और विस्तार होता रहा है पद संख्या की न्यूनाधिकता का एक कारण यह भी हो सकता है कि अनेक बार एक ही व्यक्ति अधिक पदों का दायित्व संभाल लेता था। जैन श्रमण संघ के विस्तार, स्थिरीकरण और अभ्युदय की दृष्टि से यह पद व्यवस्था बहुत मूल्यवान सिद्ध हुई और वीर निर्वाण की एक सहस्राब्दि तक चलती रही।

प्रव्रज्या लेने या वैराग्य के कारण

स्थानांगसूत्र में प्रव्रज्या लेने के दस कारण बताये गये हैं[125]

(1) छन्दा: अपनी या दूसरों की इच्छा से ली जाने वाली।
(2) रोषा: क्रोध से ली जाने वाली।

(3) परिधना: दरिद्रता से ली जाने वाली।
(4) स्वप्ना: स्वप्न के निमित्त से ली जाने वाली।
(5) प्रतिश्रुता: पहले की हुई प्रतिज्ञा के कारण ली जाने वाली।
(6) स्मरणिका: जन्म जन्मान्तरों की स्मृति होने पर ली जाने वाली।
(7) रोगिणिका: रोग का निमित्त मिलने पर ली जाने वाली।
(8) अनादृता: अनादर होने पर ली जाने वाली।
(9) देवसंज्ञप्ति: देव के द्वारा प्रतिबद्ध होकर ली जाने वाली।
(10) वत्सानुवन्धिका: दीक्षित होते हुए पुत्र के निमित्त से ली जाने वाली।

प्रव्रज्या अथवा संघ प्रदेश के लिए योग्यता

श्रमण उच्च नैतिकता तथा आत्म संयम के प्रतीक होते थे। इस प्रतिमान को अक्षुण्ण रखने के लिए संघ प्रवेश के पूर्व कुछ अर्हताओं का निर्धारण किया गया था। यद्यपि संघ जीवन जाति या प्रतिष्ठा की दृष्टि से सबके लिए मुक्त था[126] किन्तु कुछ अपवाद भी थे। संघ प्रवेश के नियमों का कालान्तर में विकास यह दर्शाता है कि कुछ निहित स्वार्थों का संघ प्रवेश हो चुका था जो जीवनयापन के लिए संघ में प्रविष्ट हो जाते थे ताकि अच्छा भोजन मिल सके, एकान्त जीवन से मुक्ति मिल सके अथवा ऋण से छुटकारा मिल सके।[127]

स्थानांगसूत्र[128] के अनुसार नपुंसक, रोगी एवं कायर को संघ में प्रवेश नहीं देना चाहिए। इसके अतिरिक्त आठ वर्ष से कम आयु के बालक[129] वृद्ध एवं दुर्बल व्यक्ति, अपंग[130], मूढ़, डाकू, राजापराधी, उन्मत्त, अंधे, दास, धूर्त, मूर्ख, ऋणी, सेवक तथा अपहृत व्यक्ति, गर्भवती स्त्री तथा बालक का संघ प्रवेश निषिद्ध था।[131]

जाति किसी प्रकार की अपात्रता नहीं थी किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों का जातिवाद जैन धर्म में व्यावहारिक रूप में प्रविष्ट हो गया था।[132]

धर्मसंग्रह[133] के अनुसार श्रमणतत्व स्वीकार करने के लिए आवश्यक था कि श्रमण—

(1) आर्यक्षेत्र में जन्मा हो,
(2) उच्चवर्ण या जाति का हो,
(3) बड़े पापों से मुक्त हो,
(4) पवित्र बुद्धि हो।

संघ प्रवेश की अर्हताओं में जिज्ञासु की शारीरिक समर्थता के साथ ही उसकी

नैतिक सामर्थ्य भी महत्वपूर्ण थी। किन्तु, आर्यभूमि का जन्मा होना या उच्च जाति का होना, ब्राह्मण धर्म के प्रभाव के कारण था।[134]

प्रवचन-सारोद्धार के अनुसार भी हेय व्यवसाय में लगे व्यक्ति दीक्षा के अयोग्य थे। जिनके सम्बन्धियों से अनुज्ञा नहीं मिलती हो वह भी संघ में नहीं जा सकते थे।[135]

उल्लेखनीय है कि बौद्ध और जैन संघों के नियमानुसार यह इष्टकर नहीं समझा जाता था कि बहुत बड़े श्रमिक वर्ग को संघ में लेकर सांसारिक कर्तव्यों से विरत कर दिया जाये। कोई दास या ऋषि व्यक्ति बौद्ध संघ में तब तक प्रवेश नहीं कर सकते थे जब तक कि दास का मालिक उसे दासत्व से मुक्त न कर दे और ऋणी अपना ऋणशोधन न कर दे।[136] संघ में प्रवेश करने के लाभ स्पष्ट थे।[137] इसका कारण बहुसंख्या में लोग संघ प्रवेश के लिए उत्साहित भी थे और उत्सुक भी।

अतएव संघ में अवांछनीय तत्वों के प्रवेश को रोकने के लिए जैन और बौद्ध संघ ने नियमों का विस्तार किया। यह नियम लगभग समान थे।[138]

शारीरिक स्वास्थ्य को प्राथमिकता देते हुए कुष्ठ, गंड, चर्मरोग, क्षय तथा अपस्मार पीड़ितों के लिए संघ प्रवेश निषिद्ध था।[139] इसी प्रकार वातिक भी प्रवेश नहीं पा सकते थे।[140] अतः कहा जा सकता है कि सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए संघ के लिए नियम बने। उदाहरण के लिए बुद्ध ने राज्य की क्रियाविधि में हस्तक्षेप से बचने के लिए सैनिकों तथा राज्यपदाधिकारियों, ध्वजबन्धचोरों, काराभेदकों, कषाघात से दण्डनीय लक्षणाहत लिखितक चोर तथा प्रामाणिक हत्यारों को संघ प्रवेश की अनुज्ञा नहीं दी।[141]

इसी प्रकार कालान्तर में बुद्ध ने परिस्थितियों के अनुरूप नियम बनाये तथा अपात्रों की सूची में मातृहन्ता, पितृहन्ता, अरिहन्तघातक, भिक्षुणीदूषक तथा संघभेदक को सम्मिलित किया।[142]

इन निषेधों से स्पष्ट तात्पर्य यह था कि संघ में कोई ऐसा व्यक्ति प्रविष्ट न हो जाये जो पहले से ही कानून के शिकंजे में कसा हो और जिसके कारण समस्त संघ राजकोप अथवा अपकीर्ति का भागी हो। रुधिरोत्पादक होना एवं चोरी से संघ प्रवेश भी अवांछनीय माने जाते थे।

निष्क्रमण संस्कार

जैन संघ में प्रवेश के लिए माता-पिता अथवा अभिभावक की अनुमति आवश्यक थी।[143] चतुर्थी तथा अष्टमी के अतिरिक्त प्रव्रज्या ग्रहण की जा सकती थी। आरम्भ में प्रव्रज्या महावीर के सम्मुख लेनी होती थी किन्तु कालान्तर में चैत्यगृह में

आचार्य या उपाध्याय के समक्ष ली जाने लगी।

आचारांगसूत्र में महावीर के निष्क्रमण के प्रसंग में उल्लेख है कि उन्होंने अपने वस्त्राभूषणों का त्याग कर दिया तथा अपने केशों को पंचमुट्ठि लोय द्वारा निकाल दिया, सभी मुक्तात्माओं को नमस्कार किया तथा कोई पापपूर्ण कार्य न करने का प्रण करते हुए पवित्र आचरण को स्वीकार किया।[144] तत्कालीन समाज में श्रमणों को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी तथा प्रव्रजित श्रमण के आश्रितों की देखभाल राज्य द्वारा की जाती थी।

ज्ञातृधर्म कथा[145] में मेघकुमार के निष्क्रमण संस्कार का विस्तार से वर्णन मिलता है जहां मेघकुमार ने गुणशील चैत्य में पहुंचकर अपने वस्त्र और आभूषण उतार डाले, पंचमुष्टि से अपने केशों का लोंच कर भगवान की प्रदक्षिणा की और हाथ जोड़कर पर्युपासना में लीन हो गये। महावीर ने मेघकुमार को शिष्यरूप में स्वीकार कर लिया।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो बौद्धसंघ में भी आरम्भ में स्वयं बुद्ध ने ही प्रव्रज्या दी थी। तथागत की शरण लेने से ही प्रव्रज्या सम्पन्न हो जाती थी जैसा कि पंचवर्गीय भिक्षु आदि के उदाहरण से स्पष्ट है। पंचवर्गीय भिक्षुओं ने संघ में प्रवेश यह कह कर मांगा था कि 'हम लोग भगवान के निकट प्रव्रज्या पायें, उपसम्पदा पायें' और शास्ता ने यह कह कर उनको दीक्षित किया कि 'आओ धर्म स्वाख्यात है, अच्छी तरह दुख के नाश के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करो।'[146]

बुद्ध ने जब से भिक्षुओं को धर्म प्रचार के लिए नाना दिशाओं में भेजा उन्हें प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा देने की अनुमति दी। कपिलवस्तु में इसी प्रकार राहुलकुमार की प्रव्रज्या शारीपुत्र द्वारा संभव हुई। प्रव्रज्या के प्रार्थी को सिर और दाढ़ी मुंडवा कर, काषाय वस्त्र पहन कर, उत्तरासंघ से एक कन्धा ढक कर, बैठकर और हाथ जोड़कर तीन बार यह कहना पड़ता था कि वह बुद्ध की शरण जाता है, धर्म की शरण जाता है, संघ की शरण जाता है।[147] कालान्तर में तथागत के किसी योग्य शिष्य को अपना आचार्य या उपाध्याय बनाकर उसके निकट त्रिशरणगमन के द्वारा संन्यास दीक्षा दी जाने लगी।[148]

पालि विनय से बौद्ध संघ में प्रवेश के नियमों का विकास ज्ञात होता है।[149] बुद्ध का संघ प्रवेश का सूत्र बड़ा सरल था। वह प्रथमावस्था में भिक्षु को सर्वदुःखों से मुक्ति तथा धर्म अंगीकार करने के लिए आह्वान करते थे। दूसरी अवस्था में प्रवेशार्थी मुण्डित शिर, गेरुए वस्त्र में संघ के समक्ष त्रिशरण की प्राप्ति घुटनों के बल बैठ कर करता था। तीसरी अवस्था में उसे आचार्य या उपाध्याय द्वारा भिक्षु परिषद के समक्ष उपस्थित किया जाता था। यदि किसी को आपत्ति नहीं होती तो वह प्रव्रजित मान लिया जाता था।[150]

जैन तथा बौद्ध दोनों ही संघों में भिक्षु की अवस्था प्राप्त करने से पूर्व

प्रवेशार्थी की योग्यता की पुष्टि के लिए तथा संघ की अपनी सन्तुष्टि के लिए परिवीक्षा काल निर्धारित किया गया था। आरम्भ में बौद्ध संघ में प्रवेश प्रव्रज्या तथा पुष्टीकरण उपसम्पदा साथ-साथ चलती थी किन्तु बाद में इन दोनों के बीच के अन्तराल को प्रार्थी का परिवीक्षा का काल समझा जाने लगा।[151] बौद्ध संघ में उपसम्पदा पुष्टीकरण को पृथकरूप से आयोजित किया जाता था तथा इस विषय में विस्तृत नियम बने हुए थे ताकि कहीं अवांछनीय व्यक्ति की पुष्टि भिक्षु के रूप में न हो जाये।

ठीक इसी प्रकार जैन संघ में भी सेह अर्थात् नवश्रमण को कम से कम एक सप्ताह तथा ज्यादा से ज्यादा छः माह तक परिवीक्षा पर रखा जाता था। औसतन यह काल चार माह का माना जाता था।[152] इस अवधि में सेह एक सच्चे भिक्षु की जीवन पद्धति अंगीकार करने का यत्न करता था तथा इस प्रकार निष्कर्ष रूप में उत्थावना सावधानी के व्रतों को करने के पश्चात् पुष्टीकरण की योग्यता अर्जित कर लेता था।[153] इस काल में सेह को आचार्य या उपाध्याय के निर्देशन में रहना होता था। कोई भी व्यक्ति अयोग्य व्यक्ति की संघ में अनुशंसा नहीं कर सकता था अन्यथा उसे दण्ड का भागी होना पड़ता था।[154]

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

सेह

जैन संघ में प्रविष्ट सार्धविहारी को सेह के नाम से जाना जाता था। वह छः माह, चार माह अथवा एक सप्ताह के लिए परिवीक्षा पर रहता था।[155] परिवीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही वह संघ का नियमित सदस्य बनता था।[156] इसके पश्चात् वह अन्तेवासी[157] हो सकता था। यहीं से शिष्य की मुनि जीवन की साधना आरम्भ हो जाती थी। मुनि जीवन की साधना के लिए दो अनुबन्ध हैं—

(1) सम्बन्धों का त्याग, तथा
(2) इन्द्रिय और मन की उपशान्ति। आरम्भिक अनुबन्धों की पूर्ति के पश्चात् अन्तेवासी को साधन की तीन भूमिकाओं से निकलना पड़ता था।[158]
   (अ) प्रथम भूमिका प्रव्रजित होने से लेकर अध्ययन काल तक की है। इसमें उसे ध्यान का अल्पअभ्यास तथा श्रुत अध्ययन के लिए आवश्यक तप करना होता था।
   (ब) दूसरी भूमिका शिष्यों के अध्यापन और धर्म के प्रचार प्रसार की है। इसमें वह ध्यान की प्रकृष्ट साधना और कुछ लम्बे उपवास करता था।[159]

(स) तीसरी भूमिका शरीर त्याग की है। जब वह आत्महित के साथ-साथ संघ हित कर चुकता है, तब शिष्य समाधिकरण के लिए शरीर त्याग की तैयारी में लग जाता है। इस समय उसे दीर्घकालीन ध्यान और तप की साधना करनी होती है।

बौद्ध संघ में भी प्रव्रजित भिक्षु जिसकी उपसम्पदा[160] नहीं हुई है श्रमणेर कहलाता था। उसे एक उपाध्याय और एक आचार्य चुनकर उनके निश्रय में रहना पड़ता था। पहले प्रव्रज्या और उपसम्पदा साथ साथ हो जाती थी, किन्तु कालान्तर में कुछ अन्तराल आवश्यक हो गया। सम्भवत: इसका कारण ऐसे भिक्षुओं की संख्या थी जो बुद्ध के व्यक्तिगत जानकारी क्षेत्र के नहीं होते थे तथा तथागत के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों द्वारा भी दीक्षित होते थे।[161]

आचार्योपाध्याय तथा सेह का सम्बन्ध लगभग वैसा ही होता था जैसा कि वैदिक परम्परा में गुरु शिष्य का तथा बौद्ध परम्परा में उपाध्याय और श्रमणेर का।[162] यह सम्बन्ध भावात्मक रूप में पिता-पुत्र सम्बन्धों के तुल्य थे। वैदिक परम्परा के समान । जैन चिन्तन में भी विद्या को मुक्तिकारक माना गया है।

उत्तराध्ययन में अध्ययन के दो कारण बताये गये हैं[163]—

(1) स्व की मुक्ति के लिए, तथा
(2) पर की मुक्ति के लिए।

अध्ययन के चार अभिप्रेरक बताये गये हैं[164]—

(1) श्रुत की प्राप्ति,
(2) चित्त की एकाग्रता,
(3) आत्मा को धर्म में स्थापित करना, तथा
(4) धर्म में स्थित द्वारा अन्य को धर्म में स्थापित करना।

आठ लक्षणयुक्त व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त होती है[165]—

(1) जो हास्य नहीं करता,
(2) जो इन्द्रिय और मन का दमन करता है,
(3) जो मर्म प्रकाशित नहीं करता,
(4) जो चरित्रवान होता है,
(5) जो रसों में अतिगृद्ध नहीं होता,

(6) जो दु:खशील नहीं होता,
(7) जो क्रोध नहीं करता, तथा
(8) जो सत्य में रत रहता है।

बहुश्रुतता का प्रमुख कारण है विनय। जो व्यक्ति विनीत होता है उसका श्रुत फलवान होता है। स्तब्धता, क्रोध, प्रमाद और रोग एवं आलस्य यह पांच शिक्षा के विघ्न हैं।[166] इनकी तुलना योग मार्ग के नौ विघ्नों से होती है।[167]

ब्रह्मचर्य को वैदिक, बौद्ध और जैन तीनों ही परम्पराओं में शिष्य के लिए आदर्श समझा जाता था। शिष्य से अपेक्षा की जाती थी कि वह विभूषा का वर्जन करे और शरीर की शोभा बढ़ाने वाले केश, दाढी आदि को शृंगार के लिए धारण न करे।[168] यही कारण है कि जब जैन संघ में प्रवेशार्थी को यह ज्ञात हो जाता कि उसका प्रवेश निरस्त नहीं हुआ है, तब वह सभी भौतिक वस्तुओं को त्याग कर पूर्ण अपरिग्रह का पालन करते हुए मुण्डित शिर हो जाता था। भिक्षु बनने की प्रक्रिया में उसे सर्वप्रथम पंचमुट्ठिलोय करना होता था।

इस दिन के बाद से वह कभी भी अपने बाल गाय के बालों से अधिक नहीं बढ़ा सकता था। माह में दो बार उसे कैंची या उस्तरे से बाल मुंडवाने होते थे।[169] शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांच प्रकार के कामगुणों का उसे सदा वर्णन करना होता था।[170]

आत्मगवेषी शिष्य के लिए यह दश व्यवहार तालपुट विष के समान समझे जाते थे।[171] यह थे—

(1) स्त्रियों से आकीर्ण आलय,
(2) मनोरम स्त्रीकथा,
(3) स्त्रियों का परिचय,
(4) उनकी इन्द्रियों को देखना,
(5) उनके कूजन, रोदन, गीत और हास्य युक्त शब्दों को सुनना,
(6) मुक्त भोग और सहावस्थान को याद करना।
(7) प्रणीत पान भोजन,
(8) मात्रा से अधिक पान भोजन,
(9) शरीर को विभूषित करने की इच्छा, तथा
(10) दुर्जय कामभोग।

उत्तराध्ययनसूत्र में शिष्य के लिए विनय[172] अर्थात् आत्मानुशासन का प्रतिपादन किया गया है कि जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, गुरु की सुश्रुषा करता है, उनके इंगित और आकार को जानता है, वह विनीत शिष्य कहलाता है।[173] शिष्य

से अपेक्षा की जाती थी कि वह आचार्य के समक्ष सदा प्रशान्त रहे, वाचाल न हो। उनके पास अर्थयुक्त पदों को सीखे और निरर्थक कथाओं का वर्जन करे। गुरु द्वारा अनुशासित किये जाने पर क्रोध न करे, अपराध की क्षमायाचना करे। क्षुद्र व्यक्ति के साथ संसर्ग, हास्य और क्रीड़ा न करे। चाण्डालोचित कर्म क्रूर व्यवहार न करे। उचित काल में स्वाध्याय और ध्यान करे।

गुरु की प्रसन्नता शिष्य के लिए अर्थकारी थी।[174] तत्ववित आचार्य अध्यापन से पूर्व ही शिष्य के विनय से परिचित हो जाने के कारण प्रसन्न होने पर ही उसे मोक्ष के हेतुभूत श्रुतज्ञान का लाभ करवाते थे।[175] अपेक्षित था कि शिष्य एकान्त में अथवा अन्य के समक्ष वचन अथवा कर्म से कभी भी आचार्य के प्रतिकूल व्यवहार न करे। बुलाये जाने पर किसी भी अवस्था में मौन न रहे तथा सदा उनके समीप बना रहे।[176]

शिष्य गुरु या आचार्य के बराबर न बैठे, आसन या बिछौने पर बैठ कर न तो गुरु से आदेश ग्रहण करे न प्रश्न पूछे। गुरु से नीचे, अकम्पमान और स्थिर आसन पर बैठे। प्रयोजन होने पर भी बार-बार न उठे। स्थिर और शान्त करबद्ध होकर बैठे तथा हाथ-पैर से चपलता न करे।[177]

समयं पर भिक्षा के लिए निकले, समय पर लौट आये। आचार्य को कुपित न करे, स्वयं कुपित न हो। आचार्य का उद्घात करने वाला नहीं हो, छिद्रान्वेषी न हो।[178] जो शान्त हुए विवाद को फिर न उभाड़े, कुतर्क से प्रज्ञाहनन नहीं करे, कदाग्रह और कलह में रत न हो।[179] जो आचार्य को छोड़ कर दूसरे धर्मसम्प्रदायों में चला जाये, छः माह की अवधि में एक गण से दूसरे में चला जाये वह शिष्य निन्दा पाता था।[180] दुःशील, गुरु के प्रतिकूल वर्तन करने वाला शिष्य-गण से निकाल दिया जाता था।[181]

स्वाध्याय

श्रमण तथा श्रमणी के स्वाध्याय के लिए चार काल निर्धारित थे[182]—

(1) पूर्वार्द्ध में : दिन के प्रथम प्रहर में,
(2) अपराह्न में : दिन के अन्तिम प्रहर में,
(3) प्रदोष में : रात्रि के प्रथम प्रहर में,
(4) प्रत्यूष में : रात्रि के अन्तिम प्रहर में।

इसी प्रकार चार संध्याओं में स्वाध्याय निषिद्ध था[183]:

(1) सूर्योदय से पूर्व,

(2) सूर्यास्त के पश्चात,
(3) मध्यान्ह संध्या तथा
(4) अर्द्धरात्रि संध्या।

चार प्रतिपदाओं में भी स्वाध्याय निषिद्ध था[184]

(1) आषाढ प्रतिपदा	:	सावन का पहला दिन,
(2) इन्द्रमह प्रतिपदा	:	कार्तिक का प्रथम दिन,
(3) कार्तिक प्रतिपदा	:	मंगसर का प्रथम दिन,
(4) सुग्रीष्म प्रतिपदा	:	वैशाख का प्रथम दिन।

अस्वाध्यायी का मूल वैदिक साहित्य में ढूंढ़ा जा सकता है। जैन साहित्य में उसे लोकविरुद्ध होने के कारण मान्यता मिली। आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी अस्वाध्यायी की परम्परा का उल्लेख मिलता है।[185] कृष्णपक्ष की चतुर्दशी और अमावस्या, शुक्लपक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा, सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय, अकाल, वर्षा, बिजली चमकना, मेघगर्जन, आत्मीय, स्वजन, राष्ट्र और राजा के आपत्काल, श्मशान, सवारी यात्राकाल में वधस्थान, युद्ध के समय, महोत्सव तथा उत्पात उल्कापात, भूकम्प, बाढ़, आंधी के दिन, जिन दिनों ब्राह्मण अनध्याय रखते हैं उन दिनों तथा उन देशों में एवं अपवित्र अवस्था में अध्ययन नहीं करना चाहिए।[186] जैनागम भी इसी परम्परा को मानते हैं।

आचार्योपाध्याय के लिए भी आवश्यक था कि जो शिष्य विनययुक्त हो उसके पूछने पर अर्थ और तदुभय सूत्र और अर्थ दोनों जैसे सुने हों जाने हों वैसा बताये।[187] कुछ गुरु भी अध्यापन के अयोग्य समझे जाते थे।[188] इस प्रकार जैन मत में गुरु शिष्य सम्बन्ध भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही घनिष्ट व अनुशासनपूर्ण थे।

सामाचारी

सामाचारी[189] संघीय जीवन जीने की कला है। इससे पारस्परिक एकता की भावना पनपती है। संघ दृढ़ बनता है। आचार जीवनमुक्ति का साधन है। जो मुनि संघीय जीवनयापन करते हें उनके लिए व्यवहारात्मक आचार भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना व्रतात्मक आचार। जिस संघ या समूह में व्यवहारात्मक आचार की उन्नत विधि है, उसकी सम्यक् परिपालना होती है, वह संघ दीर्घायु होता है। उसकी एकता अखण्ड होती है। समाचारी दो प्रकार की होती है—(1) ओघ सामाचारी एवं (2) पद विभाग सामाचारी।

ओघ सामाचारी के इस प्रकार हैं[190]—

(1) आवश्यकी	(2) नैषेधिकी
(3) आपृच्छा	(4) प्रतिपृच्छा
(5) छन्दना	(6) इच्छाकार
(7) मिथ्याकार	(8) तथाकार
(9) अभ्युत्थान	(10) उपसम्पदा।

दसविध सामाचारी की सम्यक् परिपालना से अनेक गुण उत्पन्न होते हैं।[191]

आवश्यकी-नैषेधिकी

सामान्य विधि यह है कि मुनि जहां ठहरा हो, उस उपाश्रय से बाहर न जाये। विशेष विधि के अनुसार आवश्यक कार्य होने पर वह बाहर जा सकता है। किन्तु बाहर जाते समय आवश्यकी करे, आवश्यकी का उच्चारण करे। ''आवश्यक कार्य से बाहर जा रहा हूं'' इसे निरन्तर ध्यान में रखे। अनावश्यक कार्य में प्रवृत्ति नहीं करे। कार्य से निवृत्त होकर जब वह स्थान में प्रवेश करे तो नैषेधिकी का उच्चारण करे। ''मैं आवश्यक कार्य से निवृत्त हो चुका हूं, प्रवृत्ति के समय कोई अकरणीय कार्य हुआ हो तो उसका निषेध करता हूं, उससे अपने आपको दूर करता हूं।'' इस भावना के साथ वह स्थान में प्रवेश करता है। यह साधुओं के गमनागमन की सामाचारी है। गमन और आगमन काल में उसका लक्ष्य अबाधित रहे इसका इन दो सामाचारियों में सम्यक् चिन्तन है।

आपृच्छा-प्रतिपृच्छा

सामान्य विधि यह है कि उच्छवास और नि:श्वास के अतिरिक्त शेष सभी कार्यों के लिए गुरु की आज्ञा लेनी चाहिए। आज्ञा के दो स्थान बताये गये हैं—(1) स्वयंकरण (2) परकरण। स्वयंकरण के लिए आपृच्छा प्रथम बार पूछने तथा परकरण के लिए प्रतिपृच्छा पुन: पूछने का विधान है। प्रयोजनावश किसी भी कार्य की प्रवृत्ति के लिए गुरु से आज्ञा प्राप्त करने को आपृच्छा कहा जाता है। गुरु के द्वारा किसी भी कार्य की प्रवृत्ति के लिए पूर्वनिषिद्ध कार्य की आवश्यकता होने पर गुरु से उसकी आज्ञा प्राप्त करने को प्रतिपृच्छा कहा जाता है। गुरु के द्वारा किसी कार्य पर नियुक्त होने पर उसे आरम्भ करते समय पुन: गुरु की आज्ञा लेनी चाहिए। यह प्रतिपृच्छा का आशय है।[192]

छन्दना-अभ्युत्थान

मुनि को भिक्षा में जो प्राप्त हो उसके लिए अन्य साधुओं को निमन्त्रित करना चाहिए तथा जो प्राप्त न हो उसे लेने जाये तब अन्य साधुओं से पूछना चाहिए कि ''क्या मैं आपके लिए भोजन लाऊं'' इन दोनों समाचारियों को छन्दना तथा अभ्युत्थान कहा जाता है। आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार इसे निमन्त्रण के अर्थ में भी प्रयुक्त करते हैं।[193]

इच्छाकार-मिथ्याकार

संघीय व्यवस्था में परस्पर सहयोग लिया जाता है, किन्तु वह बल प्रेरित न होकर इच्छा प्रेरित होना चाहिये। बड़ा साधु छोटे साधु से या छोटा साधु बड़े साधु से कोई काम कराना चाहे तो उसे इच्छाकार का प्रयोग करना चाहिए। ''यदि आपकी इच्छा हो तो मेरा काम आप करें'' ऐसा कहना चाहिए।[194]

साधक के द्वारा भूल होना सम्भव है किन्तु अपनी भूल का भान होते ही उसे मिथ्याकार का प्रयोग करना चाहिए।[195] जो दुष्कृत को मिथ्या मानकर उससे निवृत्त होता है, उसी का दुष्कृत मिथ्या होता है।

तथाकार-उपसम्पदा

जो मुनि कल्प और अकल्प को जानता है, महाव्रत में स्थित होता है, उसे तथाकार का प्रयोग करना चाहिए। गुरु जब सूत्र पढ़ायें, सामाचारी आदि का उपदेश दें तब तथाकार का प्रयोग करना चाहिए। आप जो कहते हैं वह सच है। इस प्रकार कहना चाहिए।[196]

प्राचीन काल में अनेक गण थे। व्यवस्था की दृष्टि से एक साधु दूसरे गण में नहीं जा सकता था। आपवादिक विधि के अनुसार तीन कारणों से दूसरे गण में जाना विहित था। दूसरे गण में जाने को उपसम्पदा कहा जाता था।[197] ज्ञान की वर्तना पुनरावृत्ति या गुणन, संधान, त्रुटित ज्ञान को पूर्ण करने और नया ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो उपसम्पदा स्वीकार की जाती थी उसे ज्ञानार्थ उपसम्पदा कहा जाता था। इसी प्रकार दर्शन विषयक शास्त्रों के ग्रहण के लिए दर्शनार्थ उपसम्पदा स्वीकार की जाती थी।[198] वैयावृत्य और तपस्या की विशिष्ट आराधना के लिए चारित्रार्थ उपसम्पदा की जाती थी।

साधु के उपकरण

निर्ग्रन्थ श्रमण दो प्रकार के बताये गये हैं—(1) जिनकल्पी और 2 स्थविर कल्पी। जिनकल्प श्रमणों को संघ के नियमों से ऊपर माना जाता था। यह नग्न रहते थे और पाणि—पात्रभोजी होते थे।[199] बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार जिनकल्प साधु भोजन प्राप्त कर के एक प्रहर में ही उसे खा लेता है।[200] तथा प्रमुख उद्यान से आगे भिक्षा के लिए नहीं जाता।[201] स्थविरकल्पी साधु संघ में रहते थे तथा नियमों से चलते थे। वह वस्त्र पहनते थे तथा अपने साथ कई वस्तुएं भी रखते थे।

जिनकल्पी श्रमणों के दो अन्य प्रकार थे—(1) पाणिपात्र भोजी तथा (2) प्रतिग्रहधारी। पाणिपात्रभोजी रजोहरण और मुखवस्त्र के साथ एक, दो अथवा तीन वस्त्र कल्प धारण करते हैं। प्रतिग्रहधारी वस्त्र धारण नहीं करते लेकिन बारह उपकरण रखते हैं। यह हैं पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापनन, पात्र केसरिका (पात्रमुखवस्त्रिका) पटल (ऊनीवस्त्र) स्जस्त्राण, 2-गोच्छक, दो प्रच्छादक वस्त्र, रजोहरण और मुखवस्त्रिका उसमें मात्रक और चोलपट्ट मिला देने से स्थविर कल्पियों[202] के चौदह उपकरण हो जाते हैं।[203] इसके अतिरिक्त वह एक डण्डा भी रखते थे।[204]

अन्यपात्रों में नन्दीभाजन, पतद्गृह, विपद्गृह, कमढ़क विमात्रक और श्रमणभाजक के नाम उल्लेखनीय हैं।[205] वर्षाऋतु के योग्य उपकरणों में डगल, क्षार, कुटमूलर, घड़े जैसा पात्र, तीन प्रकार के मात्रक, लेप, पादलेखनिका, संस्तारक, पीठ और फलक के नाम उल्लेखनीय हैं।[206]

वस्त्रैषणा

श्रमण अथवा श्रमणी को यदि वस्त्र की आवश्यकता हो तो वह ऊनी, रेशमी, सन, खजूर की पत्तियों, कपास अथवा अर्कतूल या इसी प्रकार के वस्त्रों की याचना करे। यदि वह यौवन से पूर्ण स्वस्थ्य भिक्षु है तो वह एक वस्त्र धारण कर सकता है, दो नहीं। यदि वह भिक्षुणी श्रमणी है तो उसे चार ऐसे वस्त्र रखने की अनुज्ञा है जिसमें एक दो हाथ चौड़ा, दो तीन हाथ चौड़े तथा एक चार हाथ चौड़ा हो।[207] यदि उसे ऐसा वस्त्र न मिले तो वह एक से दूसरे को जोड़ कर सीले। श्रमण अथवा श्रमणी वस्त्रैषणा के लिए आधे योजन से दूर जाने का निश्चय नहीं करे। वह ऐसे वस्त्र स्वीकार न करे जिन्हें कि गृहस्थ श्रावक श्रमण के लिए लाया हो, वस्त्र धुला हुआ हो, रंगा गया हो, झड़ा हुआ हो, स्वच्छ हो, सुगन्धित हो तथा दाता ने स्वयं उसे श्रमण के योग्य बनाया हो।[208] अलंकृत व मूल्यवान वस्त्र स्वीकार नहीं करे। वस्त्रैषणा के चार नियम हैं—

(1) पहला श्रमण अथवा श्रमणी ऐसे वस्त्रों की एषणा कर सकते हैं। जैसे ऊन, रेशम, सन, खजूर की पत्ती तथा अर्कतूल आदि।[209]
(2) दूसरा वह ऐसे वस्त्रों की एषणा कर सकते हैं जिनका कि उन्होंने स्वयं भली भांति निरीक्षण कर लिया हो।[210]
(3) वह उत्तरवासक या उत्तरीय की एषणा कर सकते हैं।
(4) वह ऐसे वस्त्र की भी एषणा कर सकते हैं जिनकी कि किसी अन्य श्रमण ब्राह्मण, अभ्यागत, खैराती या भिखारी को जरुरत हो।

वह ऐसे वस्त्र स्वीकार करे जो शरीर के अनुरूप न हों, मजबूत न हों, टिकाऊ न हों तथा विशेषरूप से उनके पहनने के लिए बने हों।[211]

जो श्रमण तीन वस्त्र और एक पात्र रखने की मर्यादा में स्थित है उसका मन ऐसा नहीं होता कि वह चौथे वस्त्र की याचना करेगा। वह यथा एषणीय अपनी कल्पमर्यादा के अनुसार गृहणीय वस्त्रों की याचना करे। वह यथाग्रहीत वस्त्रों को धारण करे, न छोटा बड़ा करे, न संवारे। ग्रामान्तर जाता हुआ वस्त्रों को छुपाकर न चले। वह अल्प, अतिसाधारण वस्त्र धारण करे तथा अवमचेलिक हो जाये।[212]

श्रमण जब यह जाने कि हेमन्त बीत गया है, ग्रीष्म ऋतु आ गयी है तब वह यथापरिजीर्ण वस्त्रों का परित्याग करे।[213] उनका विसर्जन कर वह एक अन्तरवासक, सूतीवस्त्र और एक उत्तरवासक ऊनीवस्त्र रखे। एक शाटक रहे या अचेल वस्त्र रहित हो जाये। लाघव का चिन्तन करते हुए वह वस्त्रों का क्रमिक विसर्जन करे।[214]

भोजन

जीवन की मूल आवश्यकताओं में से भोजन एक है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा के अनुसार केवली को भोजन की कोई आवश्यकता नहीं होती किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार श्रमण इसका अपवाद नहीं है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति में उसे अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम करने की आवश्यकता है।

भोजन मात्र जठराग्नि की शान्ति के लिए है, उसके साथ कोई राग या एषणा नहीं होनी चाहिए। श्रमण को इस प्रकार भिक्षा मांगनी चाहिए कि श्रावक को उसके कारण किंचित मात्र भी असुविधा नहीं हो।[215] हिन्दू शास्त्रों के अनुसार भी भिक्षा भेषज के रूप में स्वीकार करनी चाहिए आनन्द पाने के लिए नहीं, क्योंकि भिक्षु के लिए सभी सांसारिक आनन्द वर्जित थे और उसका क्षेत्र बहुत सीमित था अतएव इस बात की अत्यधिक सम्भावना थी कि वह भोजन पर अपनी पसन्द को केन्द्रित नहीं कर दे।[216]

जैन शास्त्रों ने भोजन विषय में अनेक नियम बनाये हैं जिनसे कि भिक्षा पाने

वाले या देने वाले को दोष लगता है।[217] श्रमण को दोषयुक्त भोजन स्वीकार नहीं करना चाहिए।[218]

एषणा या उद्गम दोष

भोजन समबन्धी ऐसे सोलह उद्गम दोष हैं जिनके कारण भोजन श्रमण के लिए अनुपयुक्त हो जाता है।

(1) औद्देशिक —गृहस्थ ने किसी विशिष्ट श्रमण के लिए बनाया हो।[219]
(2) आधाकर्मिक —यदि यह भोजन गृहस्थ ने किसी भी सम्प्रदाय के साधु के लिए बनाया हो।
(3) पूतिक —भोजन का अधिकांश शुद्ध हो किन्तु कुछ भाग दोषयुक्त हो।[220]
(4) उन्मिश्र —जिसका एक भाग विशेष रूप से विवादास्पद श्रमण के लिए बनाया गया हो।[221]
(5) स्थापनाकर्मिक—भिक्षु या श्रमण के लिए आरक्षित।
(6) प्राभृतिक —किसी उत्सव के लिए विशेष रूप से बनाया गया।
(7) प्रादुहकरण —यदि गृहस्थ को भिक्षा देने के लिए दीपक प्रज्वलित करने की आवश्यकता पड़े।
(8) क्रीत —जबकि निर्ग्रन्थ के लिए गृहस्थ को भोजन खरीदना पड़े।[222]
(9) प्रामित्य —उसे भोजन निकालने के लिए नसैनी की आवश्यकता पड़े।[223]
(10) परावृत्ति —जबकि गृहस्थ भोजन के कुछ भाग को अच्छे या बुरे भोजन से बदल दे।
(11) अध्याहृत —यदि गृहस्थ को कुछ दूर जाकर भोजन लाना पड़े।
(12) उद्भिन्न —यदि गृहस्थ को ताला खोलकर भोजन निकालना पड़े।
(13) मालाकृत —यदि उसे ऊंचे या नीचे से भोजन उठाना पड़े।[224]
(14) अक्खिड्य —यदि किसी अन्य से बलपूर्वक छीनकर लाया गया हो।
(15) अनिसृष्ट —गृहस्थ यदि ऐसे भण्डार से भोजन दे जो साझे में हो तथा साझेदारों ने अनुमति नहीं दी हो।
(16) अध्यवपूर —जिस समय श्रमण भिक्षा के लिए पहुंचे, भोजन बन रहा हो तथा श्रमण के लिए पकने के लिए आग पर और अधिक मात्रा में रख दिया जाये।

गवेषणा या उत्पादन दोष

भोजन सम्बन्धी सोलह उत्पादन[225] दोष ऐसे हैं जिन्हें माध्यम बना कर श्रमण गृहस्थ से भिक्षा पा लेते हैं। यह हैं—

(1) धातृकर्म — यदि श्रमण गृहस्थ के बच्चों को खिलाये।
(2) दूतकर्म — यदि वह गृहस्थ को अन्य व्यक्तियों के समाचार दे।
(3) निमित्त — यदि वह दानवृत्ति की प्रशंसा करके भिक्षा पाये।
(4) आजीविक — यदि वह अपने जन्म और परिवार के विषय में जानकारी दे।[226]
(5) वपनीक — यदि दुखों का विस्तार से वर्णन करके भिक्षा पायी हो।
(6) चिकित्सा — यदि रोगी की चिकित्सा करके पाया हो।
(7) क्रोधपिण्ड — क्रोध प्रदर्शित करके या धमकी देकर पाया हो।
(8) मानपिण्ड — यदि वह दाता से यह कह कर भिक्षा पाये कि वह अन्य भिक्षुओं को भोजन लाने का वचन दे चुका है।
(9) मायापिण्ड — यदि तमाशे दिखाकर ठिठोली से अथवा विदूषक बन कर पायी हो।
(10) लोभपिण्ड — यदि वह अच्छी शिक्षा पाने के लालच से गया हो।
(11) समस्त पिण्ड — दाता की चाटुकारिता करे।
(12) विद्यापिण्ड — यदि अपना ज्ञान बधारे या देवता को आव्हान करे।
(13) मन्त्रदोष — मन्त्र द्वारा किसी गृहस्थ का उपकार करके पायी हो।
(14) कूर्णयोग — यदि अदृश्य होकर भोजन ले भागे।
(15) योगपिण्ड — यदि लोगों को जादू या करिश्मा दिखाकर पाये।
(16) मूलकर्म — सम्मोहन या जादू से भूत-प्रेत भगाकर पायी हो।

ग्रहणैषणा

ग्रहणैषणा के दस दोष हैं[227]

(1) संकित — यदि भयभीत गृहस्थ से भिक्षा स्वीकार कर ले।
(2) प्रक्षित — यदि भोजन सचित्त या अचित्त द्रव्य से बना हो।
(3) निक्षिप्त — यदि भोजन गृहस्थ द्वारा संचित द्रव्य पर रखकर दिया जाये जैसे पत्ते पर अण्डे, जीव या घुन हों।
(4) पिहित — यदि संचित भोजन अचित्त द्रव्य से ढका हो या अचित

भोजन सचित्त द्रव्य से ढका हो।

(5) संहृत — यदि दाता एक पात्र में से भोजन देने के लिए निकाले और दूसरे में रखे।

(6) दायक — यदि देने वाले की अवस्था या व्यवसाय निषिद्ध भिक्षा के अन्तर्गत हो।

(7) उन्मिश्रित — यदि शुद्ध व अशुद्ध भोजन को दाता मिश्रित कर दे।

(8) अपकृत — यदि साझे भण्डार में से दूसरे की इच्छा के विपरीत पहला व्यक्ति भिक्षु को भोजन दे।

(9) लिप्त — यदि घी या दूध दही से सनी कड़छी या हाथ से भिक्षा दी जाये।[228]

(10) खरदित — यदि भिक्षा देते समय वह दूध फैला दे।

परिभोगैषणा

परिभोगैषणा के चार दोष हैं—

(1) संयोजन — यादि भिक्षु भोजन के अच्छे-अच्छे भाग एक जगह एकत्र कर ले।

(2) अपरमाण — यदि वह बताई गई मात्रा से अधिक भोजन स्वीकार कर ले।

(3) इंगाल — यदि अच्छी भिक्षा के लिए वह दाता की प्रशंसा करे।

(4) अकारण — यदि वह शास्त्रों द्वारा बताये गये अवसरों के अतिरिक्त अवसर पर इच्छित भोजन खाये।

ब्रह्मचारी के लिए आचारांग में निर्बल भोजन का आदेश है। शक्तियुक्त भोजन करने से शरीर शक्तिशाली होता है। सशक्त शरीर में मोह को प्रबल होने का अवसर मिलता है। शक्तिहीन भोजन करने से शक्ति घट जाती है। निर्बल शरीर में मोह भी निर्बल हो जाता है। इसलिए वासना को शान्त करने का पहला उपाय निर्बल आहार बताया गया है। अति आहार करने वाले को वासना अधिक सताती है। कम खाना वासना को शान्त करता है।[229]

वासना शमन के लिए एक उपवास से लेकर दीर्घकालीन तप अथवा आहार का जीवन पर्यन्त परित्याग भी विहित है।[230] इसके अतिरिक्त जैन भिक्षु को भोजन बनाते समय चक्की चलाने, पीसने, कूटने, आग दहकाने, पानी को खींचने या बुहारने में मदद नहीं करनी चाहिए। यह आधा कर्म दोष कहलाता है। इस आचार

के मूल में वैराग्य एवं अहिंसा के उदात्त आदर्श थे।

श्रमण ऐसा भोजन स्वीकार नहीं कर सकते थे जो विशेष रूप से उनके लिए बनाया गया हो।[231]

बृहत्कल्पभाष्य में इन छियालीस नियमों के उल्लंघन के लिए प्रायश्चित्त बताये गये हैं।[232] दश वैकालिक के अनुसार भिक्षु को अपना भोजन वैसे ही पाना चाहिए जैसे कि एक मधुमक्खी फूल से शहद ले लेती है किन्तु फूल को कोई कष्ट नहीं देती और फिर फूल से आसक्त नहीं रहती।[233]

इस प्रसंग में जैकोबी का यह मत उल्लेखनीय है कि जैन श्रमणों ने कुछ नियम ब्राह्मण संन्यासियों के अनुकरण पर स्वीकार किये थे जैसे कि उसे भोजन खाने दो, जो बिना याचना किये मिला हो, जिसके विषय में पहले कुछ भी निश्चय नहीं किया गया है, वह भोजन उसे आकस्मिक रूप में मिला है, वह भी केवल उतना कि प्राणों की रक्षा हो सके।[234] ठीक यही नियम जैन श्रमण के लिए है। परिशुद्ध तथा ब्रह्मणीय भोजन के विषय में नियम अद्भुत साम्य रखते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि जैन निर्ग्रन्थों की ब्राह्मण संन्यासियों की यह अनुकृति प्रत्यक्ष है या परोक्ष बौद्धों के द्वारा अनुकृत होने पर की गयी। जैकोबी के मत में जैनों ने संन्यासियों से यह नियम स्वीकार किये न कि बौद्धों से क्योंकि बौद्ध उनके प्रतिद्वन्द्वी थे।[235]

पर्युषण अथवा वर्षावास

वर्षाकाल में भिक्षु को एक रात्रि गांव में तथा शेष नगर में रहकर व्यतीत करनी होती थी। इस समय गमनागमन नहीं करने का कारण यह था कि इस काल में उत्पन्न जीवों को कष्ट पहुंचाने से भिक्षु बच सकता था। वर्षा काल में अनेक जीवों का उद्भव होता है तथा अनेक बीज अंकुरित होते हैं, पगडण्डियों का प्रयोग नहीं हो पाता। अत: भिक्षुओं को ग्रामानुग्राम विहार नहीं करते हुए वर्षावास एक ही स्थान पर करना चाहिए।[236] पांच कारणों से भिक्षु वर्षा में भ्रमण कर सकता था—

(1) किसी विशेष ग्रन्थ के अध्ययन के लिए जो सिर्फ आचार्य को ज्ञात हो और आचार्य आमरण अनशन कर रहे हों।
(2) यदि वह ऐसे स्थान पर हो जहां पथभ्रष्ट होने का भय हो।
(3) धर्म प्रचार के लिए।
(4) यदि आचार्य या उपाध्याय की मृत्यु हो गयी हो अथवा
(5) वह वर्षावास कर रहे हों तो उनकी सुश्रुषा के लिए।[237]

मार्ग में जीवहिंसा का भय होने पर श्रमण वर्षावास का समय पांच से दस दिन तक बढ़ा भी सकते थे।[238] सम्भवत: इसका कारण वर्षाकाल में मगध तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों का जलावरुद्ध हो जाना था। नदियों की बाढ़ से भूमि वीभत्स हो जाती थी। ब्राह्मण भिक्षुओं के लिए वर्षाकाल में चारिका स्थगित करने का प्रावधान था। महावीर तथा बुद्ध के समय साधनों के अभाव में यातायात निश्चय ही दुष्कर हो जाता होगा। बौद्ध विनय में उल्लेख है कि शाक्यपुत्रीय भिक्षुओं को देखकर लोग हैरान होते थे कि जब अन्य तीर्थिक एक जगह रहते हैं और चिड़ियाँ वृक्षों पर घोंसला लाकर रहती हैं, तब शाक्य पुत्रीय श्रमण हरे तृणों को रोंदते हुए विचरण करते हैं। यह देखकर तथागत ने अपने अनुयायियों के लिए भी वर्षाकाल का विधान किया।[239]

आचारांगसूत्र में श्रमण के लिए आदेश है कि उसे वर्षाकाल में अपने आवास का परिवर्तन नहीं करना चाहिए।[240] जैकोबी बौधायन धर्मसूत्र[241] से इस नियम की समानता पर्यवसित करते हुए कहते हैं कि बौद्ध तथा जैन दोनों ही मतों ने वर्षावास की संस्था ब्राह्मण संन्यासियों के अनुकरण तथा लोकमान्यता देखते हुए स्वीकार की थी।

श्रमण अथवा श्रमणी ग्राम अथवा हानि रहित स्थान पर जहां धार्मिक क्रियाओं व अध्ययन के लिए पर्याप्त स्थान हो, आवश्यक उपकरण सरलता से सुलभ हों तथा जहां श्रमण—ब्राह्मण अभ्यागत तथा याचक न हों, न ही जिनके आने की संभावना हो वर्षावास कर सकते थे।[242]

वर्षाकाल में श्रमण को ऐसे वनों से निकलना निषिद्ध था जिसे पार करने में पांच दिन अथवा अधिक समय लगने की संभावना हो। यदि श्रमण वर्षाकाल में ऐसे अपरिचित मार्गों से जायें तो जीवहिंसा की आशंका थी। अपरिचित मार्गों में जीवों, गेरुई लगे पौधों, बीजों, घास, जल या पंक स्थित जीवों को आघात पहुंच सकता था।[243]

जीव हिंसा से बचने के कारण ही गमनागमन वर्षभर रात्रि में निषिद्ध था।[244]

यदि वर्षाकाल के चातुर्मास व्यतीत हो गये हैं और शरदऋतु के पांच या दस दिन व्यतीत हो गये यदि मार्ग पर जीवजन्तु हों तथा बहुत से श्रमण और ब्राह्मण भ्रमण नहीं कर रहे हों तो जैन श्रमणों को भी भ्रमण नहीं करने का आदेश है।[245]

किन्तु यदि उसी समय मार्ग में कुछ ही जीव जन्तु हों तथा बहुत से श्रमण ब्राह्मण भ्रमण कर रहे हों तब जैन श्रमण भी सतर्कतापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार कर सकते हैं।

ब्राह्मण, जैन तथा बौद्धसाक्ष्य तीनों ही इस परम्परा का समर्थन करते हैं कि वर्षाकाल साधुओं को एक ही स्थान पर व्यतीत करना चाहिए।[246] किन्तु उल्लेखनीय है कि जैन तथा बौद्ध साधु वर्षाकाल में संघबद्ध होकर किसी उपाश्रय,

विहार अथवा आवास में व्यतीत करते थे वहीं ब्राह्मण संन्यासी वर्षाकाल में एकाकी रहते थे अथवा समूह में निश्चित रूप से कहना कठिन है क्योंकि ब्राह्मण परिव्राजकों अथवा संन्यासियों की आचार संहिता में इस प्रकार के उल्लेख विस्तृत रूप से स्पष्ट नहीं हैं।

वर्षावास का काल सामान्यत: चार माह का था।[247] जैन श्रमण को आदेश है कि यदि वर्षा के चार माह व्यतीत हो गये हों और मार्ग पर अन्य जैनेतर श्रमण और ब्राह्मण भ्रमण नहीं कर रहे हों तब वह शरदऋतु के पांच या दस दिन तक उसी स्थान पर रुक कर आवास करे जहां वर्षाकाल व्यतीत किया हो।[248] पालि विनय से ज्ञात होता है कि बौद्धेतर साधुओं में भी वर्षाकाल में एक ही स्थान पर आवास करने की प्रथा थी।[249]

उल्लेखनीय है कि आरम्भ में जैन संघ में वर्षावास का काल दो माह दस दिन ही था जो कि पहली बरसात की अपेक्षा बाद की बरसात 'पच्छिमिका वस्सा' से आरम्भिक माना जाता था। बौद्ध संघ में भी यह समय सत्तर से नब्बे दिन का था जबकि वर्षाकाल सामान्यत: एक सौ बीस दिन का माना जाता है। जैन अथवा बौद्ध भिक्षु पूरे वर्षाकाल में वर्षावास के लिए बाध्य नहीं थे। जैन और बौद्ध संघ दोनों में आरम्भ में वर्षावास की अवधि कम होने का नियचय ही महत्वपूर्ण कारण रहा होगा।

इतना तो निश्चित ही है कि भारतीय वैरागियों का जीवन उपासकों और गृहस्थों पर समर्थन तथा सहयोग के लिए निर्भर था। यदि वैरागी किसी ग्राम अथवा कस्बे में कुछ समय के लिए आवास करें तो ग्रामवासियों अथवा गृहस्थों के लिए उनका पोषण समस्या नहीं था किन्तु यदि वह वर्षा के चार माह निरन्तर उन्हीं के आश्रय में व्यतीत करें तो वह समस्या का रूप ले सकता था।

ऐसी अवस्था में यह भी सम्भावना थी कि गृहस्थ स्वेच्छा से साधुओं का भार उठाना पसन्द नहीं करते। विशेष रूप से जैन श्रमणों के ऐसे कठोर नियम कि वह अपने झोंपड़ी अथवा घर नहीं बनाएंगे, गृहस्थों के लिए उनके आवास की लम्बी अवधि तक व्यवस्था करना पीड़ा अथवा क्लेश का कारण बन सकता था। इस बात को ध्यान में रखते हुए ही सम्भवत: जैन श्रमणों के लिए यह व्यवस्था थी कि वह वर्षावास के पचास दिन साधु के वर्षावास के लिए उचित स्थान की खोज में लगा सकें। क्योंकि इस समय तक लोगों से यह आशा की जाती थी कि वह अपने घरों की छत को ठीक से छा लेंगे, फूस आदि से पक्की कर लेंगे। नाली तथा फर्श आदि को ठीक करके वर्षा के लिए तैयार हो जाएंगे।[250]

गमनागमन

श्रमणों का गमनागमन धर्म प्रचार का महत्वपूर्ण अंग माना जाता था।[251] श्रमण वर्ष

में आठ माह तक एक स्थान से दूसरे स्थान तक विहार करते रहते थे। इस विहार का उद्देश्य था आत्मानुशासन ताकि किसी विशिष्ट स्थान अथवा परिवार से साधु को राग उत्पन्न न हो जाये। इसके अतिरिक्त जैन मनीषियों का यह भी विश्वास था कि सुखशीलता की स्थिति में वासना उभरती है। ग्रामानुग्राम विहार से गमनयोग सहज ही सध जाता है। ग्रामानुग्राम विहार करने वाला परिचय के बन्धन से भी सहज ही मुक्ति पा लेता है।[252] गमनागमन के समय जीव हिंसा का पूर्ण निरास होना आवश्यक था।[253]

बृहत्कल्पभाष्य के जनपद परीक्षा प्रकरण में कहा गया है कि जैन श्रमणों को नानादेश की भाषाओं में कुशल होना चाहिए जिससे वे देश देश के वासियों को उनकी भाषा में धर्मोपदेश दे सकें तथा उन्हें इस बात की भी जानकारी होना चाहिए कि किसी देश में किस प्रकार के धान्य आदि की उत्पत्ति होती है और कहां खनिज व्यापार से आजीविका चलती है।[254] जनपद विहार के समय श्रमण विद्वान आचार्यों के पादमूल में बैठकर सूत्रों के अर्थ का भी निश्चय कर सकते थे।[255]

श्रमण अथवा श्रमणी यदि तीर्थाटन पद हों और उनका मार्ग सीमान्तों, दस्युओं, म्लेच्छों, अनार्यों[256] तथा अर्धसभ्य व्यक्तियों, ऐसे व्यक्ति जो असमय जागते और भोजन करते हों के बीच से निकले तो वे उस दशा में यदि अन्य परिचित मार्ग जानते हों तो उससे जाये इससे नहीं।[257] क्योंकि ऐसे मार्ग पर श्रमण को अज्ञानीजन यह कह कर क्षुब्ध कर सकते हैं कि वह चोर है, गुप्तचर या अन्यग्राम का भेदिया है तथा उसके वस्त्र-पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन आदि छीन झपट कर उसे उत्पीड़ित कर सकते हैं। अत: यदि विरुद्ध मार्ग हो तो साधु सावधानी पूर्वक जाये।[258]

वैराज्य विरुद्ध राज्य प्रकरण

विरुद्ध राज्य में गमनागमन से जैन श्रमणों को दारुण कष्टों का सामना करना पड़ता था। यदि श्रमण के मार्ग में राजविहीन राज्य अथवा ऐसा राज्य जहां राजा अभिषिक्त न हुआ हो, एकाधिक राजा संघर्षरत हों, द्वैधशासन हो, अराजकता हो, निर्बलतन्त्र हो तो भिक्षु उस मार्ग से नहीं जाये अन्य परिचित मार्ग से जाये क्योंकि ऐसे राज्यों की अज्ञानी प्रजा साधु को धमका सकती है, पीट सकती है।[259]

यदि मार्ग जलरुद्ध हो और उसे नाव से पार करने की आवश्यकता हो तो श्रमण ऐसी नाव में नहीं बैठे जो जलवेग से उठ गिर रही हो या मझधार में हो। यदि नाव किनारे से दूर हो या बड़ी किसी भी यात्रा के लिए उसमें नहीं बैठे।[260]

यदि कभी नाव में बैठे यात्री नाविक से कहें कि अमुक साधु पात्र के समान निश्चेष्ट बैठा है जिससे नाव भारी हो गयी है अत: उसे हाथ पकड़कर फेंक दिया

जाये यह सुनकर साधु को चीवर ठीक से बांध लेना चाहिए और नाव से स्वयं उतरने का आग्रह करना चाहिए। यदि फिर भी विद्वेषवश वह पानी में फेंक दिया जाये तो उसे बिना रोष किये जल को तैर कर पार करना चाहिए। यदि तैर कर पार करना सम्भव नहीं हो तो श्रमण उपधि को त्यागकर किनारे पर पहुंच कर गीला बैठ जाये। यदि जल को जांघ से पार किया जा सके तो करे और यदि जल के प्रवाह में बह जाये तो सल्लेखना करे।[261]

श्रमण को कभी भी मार्ग में आने वाली खाई, खन्दक, तलहटी, वृक्ष, जंगल, पर्वत, शिखर, स्तम्भ, पण्यगृह, गुहा, झरने, नदी आदि को इंगित नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से त्रस स्थावर और वायुकाय जीव भयभीत हो जाते हैं तथा अन्यत्र शरण ले लेते हैं।[262]

श्रमण अथवा श्रमणी ग्रामानुग्राम भ्रमण करते समय गुरु के स्पर्श से बचें तथा मार्ग में मिलने वाले यात्रियों के वार्तालाप में सम्मिलित न हों। अनेक प्रकार के प्रश्नों तथा जिज्ञासाओं जैसे श्रमण कहां से आ रहे हैं, कहां जाएंगे, मार्ग में अमुक को देखा है क्या, अमुक ग्राम कितना बड़ा था आदि प्रश्नों के उपस्थित होने पर साधु मौन रहे अथवा जानते हुए भी अनभिज्ञता प्रकट करें।[263]

यद्यपि जैन संघ ने अपने श्रमणों के लिए पूर्वावधान के रूप में अपवाद मार्ग को सम्मत किया ताकि साधुओं के उत्पीड़न से संघशक्ति का ह्रास नहीं हो फिर भी संघ अपने अनुयायियों से यही अपेक्षा करता था कि वे उच्च नैतिकता के प्रतीक बने रहें। भय जैसी धारण उनकी मानसिकता का अंश न बन जाये अतएव जैन श्रमण तथा श्रमणी को यह भी आदेश दिया गया कि यदि उन्हें यह ज्ञात हो कि मार्ग में आने वाले जंगल में चोर अथवा डाकू उनकी सम्पत्ति की कामना कर सकते हैं तब इस भय से वह मार्ग न बदले तथा अपने अपकृत सामान को अपना जताते हुए चोर से वापिस नहीं मांगे। वह मौन रहे। हताहत होने या वस्त्रों के फाड़ दिये जाने पर भी वह न तो आवास के स्वामी से शिकायत करे, न इसकी ग्राम में चर्चा करें, न ही राजा के प्रसाद में अथवा गृहस्थ से इस विषय की चर्चा करें। श्रमण इस वृत्तांत पर न कहे, न विचारे और न ही चित्त को उद्विग्न होने दे। वह किसी भी प्रकार के व्यवधान से उपराम होते हुए तीर्थाटन या गमनागमन करे।

भिक्षुणी संघ अथवा श्रमणी संघ

जैन संघ में भिक्षु तथा भिक्षुणी दोनों के लिए स्थान है, किन्तु जिनकल्प में जो साधना का उत्कट मार्ग है उसमें भिक्षुणियों को स्थान नहीं दिया गया है। इसका यह कारण नहीं कि भिक्षुणी व्यक्तिगत रूप से उत्कट मार्ग का पालन करने में असमर्थ है अपितु सामाजिक परिस्थितियों से बाध्य होकर ही आचार्यों ने यह निर्णय किया

कि साध्वी स्त्री एकान्त में रहकर साधना नहीं कर सकती। जैनों के जिस सम्प्रदाय ने मात्र जिनकल्प के आचार को ही साध्वाचार माना और स्थविरकल्प के गच्छावास तथा सचेल आचार को नहीं माना, उसके लिए एक ही मार्ग रह गया था कि वे स्त्रियों के मौन का भी निषेध करें। यही कारण है कि ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद से दिगम्बर ग्रन्थों में स्त्रियों के मोक्ष का भी निषेध किया गया है तथा प्राचीन ग्रन्थों की व्याख्याओं में प्रस्तुत निषेध को मूल में से खोजने का असफल प्रयत्न किया गया है।[264]

भिक्षुणी को निग्गंथी, साहुणी अथवा अज्ज कह कर पुकारा जाता था। भिक्षुणी संघ की अध्यक्षा 'प्रवर्तिनी' कहलाती थी।[265] आचार्य भिक्षुणी संघ की देखभाल किया करते थे। भिक्षु अथवा श्रमण की तुलना में भिक्षुणी या श्रमणी की स्थिति हीन समझी जाती थी। यहां तक कि तीन साल की पर्याय वाला श्रमण तीस साल के पर्याय वाली श्रमणी का गुरु बन सकता था तथा पांच साल के पर्याय वाला श्रमण साठ साल के पर्याय वाली श्रमणी का उपाध्याय।[266] आचार्य, उपाध्याय और गणी श्रमणी संघ के रक्षक थे। इसके अतिरिक्त गणवच्छेदिनी, अभिसंगा, थेरी, भिक्षुणा तथा क्षुल्लिका आदि श्रमणी संघ की अन्य पदाधिकारिणी थीं।

संघ का अनुशासन

श्रमणी की संघ में प्रव्रज्या आचार्य तथा श्रमणी पर निर्भर थी। कोई भी श्रमण व्यक्तिगत मन्तव्य से श्रमणी को प्रवृज्या नहीं दे सकता था।[267] किसी भी स्थिति में श्रमणी बिना शास्ता के नहीं रह सकती। यदि वह भ्रमण पर हो और शास्ता का देहान्त हो जाये उस स्थिति में शास्ता के बाद का वरिष्ठतम व्यक्ति इस पद पर नियुक्त कर दिया जाता था अथवा वह श्रमणी समूह किसी विशाल समूह में विलीन हो जाता था। यदि वह कुछ काल शास्ता के बिना रहती तो उन्हें 'छेद' नामक दण्ड जिसमें उनकी वरिष्ठता को कम कर दिया जाता अथवा 'परिहार' नामक एकान्तिक उपवास का दण्ड मिलता था।[268]

श्रमणी से अकलुषित जीवन और संयम की अपेक्षा की जाती थी। उपाध्याय के समान पद पर पहुंचने के लिए स्त्री को तीस वर्ष तक संघ में रहना अनिवार्य था। इसी प्रकार आचार्योपाध्याय के समकक्ष बनने के लिए साठ वर्ष का संघ जीवन अनिवार्य था।[269]

भ्रमण

भ्रमण के विषय में केवल कुछ नियम श्रमण की अपेक्षा श्रमणी के लिए भिन्न थे कि

वह पूर्व में अंग, मगध, दक्षिण में कौशाम्बी, पश्चिम में स्थूण तथा उत्तर में कुणाल से आगे नहीं जायेगी।[270]

आवास

श्रमणी को दुकान में, मुख्य मार्ग पर, तिराहे और चौराहे पर, प्रासाद तथा बाजार में आवास का निषेध था। वह उस घर में भी नहीं रह सकती थी जिसमें आवरण न हो अथवा दीवारों पर कलाकृतियां हों, जहां पुरुष रहते हों या जो मार्ग के समीप हों, जो पेड़ों की जड़ से बना हो अथवा जो वर्षा की दृष्टि से खुला हो।[271] इसका कारण यही था कि श्रमणी पवित्र और सुरक्षित जीवन व्यतीत कर सके। श्रमणी को आवास श्रमणों अथवा गृहस्थों के साथ नहीं मिलता था।[272] वह दो, तीन या अधिक के समूह में ही रहें ऐसा आदेश था। जैन श्रमणी कभी भी नि:संग नहीं रह सकती थी तथा रात्रि में भ्रमण उसके लिए निषिद्ध था।[273]

भिक्षा एवं भोजन

श्रमणियों के लिए पुलाक भत्ता नामक भोजन का निषेध था। यह भोजन राजसिक वृत्ति का होता था। अत: इस भोजन से श्रमणी की चित्तवृत्तियां चंचल बन सकती थीं।[274] श्रमणी को बिना टूटा साबत नारियल भिक्षा में स्वीकार करने का निषेध था। यह भोजन श्रमणों के लिए निषिद्ध नहीं था। श्रुबिंग को शंका है कि सम्भवत: जैन श्रमणियों की पवित्रता में शंका करते थे।[275]

उपवास और काय: क्लेश

बृहत्कल्पसूत्र के अनुसार स्त्रियों को निम्न प्रकार के काय: क्लेश निषिद्ध थे—

(1) वह संघ के लिए कायोत्सर्ग नहीं कर सकती थी।
(2) वह किसी भी खुले स्थान पर एक पांव उठा कर सूर्याभिमुख होकर कायोत्सर्ग नहीं कर सकती थी।
(3) वह वीरासन मुद्रा में नहीं बैठ सकती थी।
(4) वह विभिन्न कठिन आसनों को करने के लिए योग्य नहीं मानी गयी है।[276]

किन्तु श्रमणी प्रव्रज्या के समय से ही 'पंचमुट्ठिलोय मुण्डभविता' प्रारम्भ कर देती थी।[277]

विनय

श्रमणी कभी भी व्यर्थ या भ्रामक भाषण नहीं कर सकती थी। असत्य भाषण, परनिन्दा, भर्त्सना, गृहस्थों की भाषा में वार्तालाप, भोजन के विषय में संवाद तथा देश के विषय में गपशप करना राजा के विषय में चर्चा करना उसके लिए निषिद्ध था। झगड़ा होने पर आचार्य या प्रवर्तिनी ही उसे शान्त करती थी।[278] श्रमणी को क्षमादान का अधिकार प्राप्त नहीं था।[279] इसके अतिरिक्त श्रमणी को स्नान करने, अंग प्रक्षालन करने, सुगन्धित द्रव्यों का उपभोग करने तथा अलंकार धारण करने का निषेध था।[280]

दूसरों के बच्चों को गुदगुदाने या स्नान में अधिक समय लगाने पर उन्हें संघ से निष्कासित किया जा सकता था।[281] श्रमणी को समाज के अवांछनीय व्यक्तियों के संपर्क से बचने के लिए हमेशा सावधान रहना पड़ता था। श्रमणी को रागमण्डल का अध्ययन, विभिन्न मुद्राओं का ज्ञान तथा भिक्षुओं के साथ क्रीड़ा निषिद्ध थी। यहां तक की रात्रि में शयन करते समय, दो युवा श्रमणियों के बीच एक वृद्धा श्रमणी को सोना होता था। ताकि श्रमणियां समलैंगिकता से बची रहें।[282]

प्ररोगावस्था में भी माता-बहन या पुत्री के आलिंगन कर लेने पर श्रमणी को प्रायश्चित करना पड़ता था।[283] पुरुष का आकस्मिक स्पर्शमात्र हो जाने पर उसे दण्ड भोगना पड़ता था।[284] उन्माद की अवस्था में श्रमणी को जल विहीन कुएं या एकांत कक्ष में बांध कर रखा जाता था।[285] यौनाकर्षित श्रमणी को मानव के दूषित अंग दिखाकर उसकी चिकित्सा की जाती थी।[286]

श्रमण तथा श्रमणी के पारस्परिक सम्बन्ध

संघ के नियमानुसार यदि नगर में एक प्रवेश द्वार हो तो उसमें से एक श्रमण तथा एक श्रमणी एक साथ प्रवेश नहीं कर सकते थे। यदि प्राकृति उत्सर्ग के स्थानों पर वह एक-दूसरे को नग्न देख लेते तो उन्हें कठिन दण्ड दिये जाते थे। यदि वह एक दूसरे का अभिवादन करते तो इसे उच्च दण्डनीय अपराध समझा जाता था।[287]

यदि वह परस्पर व्यक्तिगत मन्तव्य से मुलाकात करते या अभिज्ञता प्रकट करते या अभिवादन करते तो यह उच्च दण्डनीय अपराध समझा जाता था।[288] यदि यह बात नगर में फैल जाये तो श्रमणी को 'छेद' अर्थात् संघ से निलम्बन नामक दण्ड मिलता था।[289]

इसका प्रमुख कारण संघ की नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के प्रति असीम सजगता थी। लोक गर्हा तथा लोकनिन्दा का भय संघ को निरन्तर बना रहता था। एकान्त स्थान पर श्रमण अथवा श्रमणी का आगे पीछे पाया जाना संघ द्वारा

दण्डनीय था। यह दण्ड जनप्रवाद या साक्ष्यों की मात्रा के अनुपात में दिया जाता था।[290] श्रमण तथा श्रमणी का एक साथ एक स्थान पर आवास निषिद्ध था। एक श्रमणी श्रमण के साथ निर्जन स्थान पर न रुक सकती थी, न चल सकती थी और न ही अपनी कठिनाइयों के विषय में परिसम्वाद कर सकती थी।[291] इसी प्रकार एक श्रमण श्रमणी के साथ न सो सकता था, न अध्ययन कर सकता था, न भोजन कर सकता था।[292] मात्र धर्मचर्चा के लिए ही वह श्रमणी संघ में पूर्वानुमति से जा सकता था।[293]

श्रमण और श्रमणी को परस्पर प्रत्यक्षरूप से वार्ता करने का निषेध था। इसके लिए उन्हें गणी की आज्ञा प्राप्त करनी होती थी। एक पदाधिकारी की उपस्थिति में ही वह धार्मिक विषयों पर परिसंवाद कर सकते थे।

वर्षाकाल में श्रमण तथा श्रमणी एक साथ विहार नहीं कर सकते थे। किन्तु यदि स्थान जन सामान्य के लिए गोचर हो अथवा खुले द्वारों का हों, तभी वह वर्षा से बचने के लिए एक साथ खड़े हो सकते थे।[294]

दिगम्बर संघ का स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण

श्वेताम्बरों की स्त्री सम्बन्धी अवधारणा को तो दिगम्बरों ने मान्यता दी किन्तु उन्होंने कहा कि स्त्रियां श्रमणी बनने के उपरान्त भी निर्वाण की अधिकारिणी नहीं हो सकतीं जब तक कि उनका पुरुष के रूप में पुनर्जन्म नहीं हो।[295] दिगम्बरों की मान्यता के अनुसार वैराग्य नग्नता के बिना असम्भव है। शारीरिक असमर्थताओं के कारण स्त्रियों के लिए नग्नता का निषेध था।[296]

इसके अतिरिक्त दिगम्बर स्त्रियों को धूर्त समझते थे।[297] श्रमणियों को लेखन का अधिकार नहीं था। श्वेताम्बरों के समान ही दिग्म्बरों ने भी कुछ निश्चित ग्रन्थों के अध्ययन पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये थे। गणधरों, प्रत्येक बुद्धों, श्रुत केवलिन तथा अभिन्न दश पूर्वो के लिए निर्धारित पुस्तकों का अध्ययन केवल भिक्षु कर सकते थे।[298] श्रमणियों को निर्दिष्ट करने के लिए भी वही श्रमण पात्र समझे जाते थे जो परमनैतिक तथा शास्त्रों के पारगामी थे।[299] श्रमणियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह श्रमण अथवा अध्यापक के समक्ष भूमि पर घुटने टेक कर बैठे। [300] नमस्कार भी वह पांच, छः या सात हाथ की दूरी से करे।

प्रायश्चित

स्थानांगसूत्र तथा भगवतीसूत्र के अनुसार श्रमण प्रायः दर्प 'दप्प' असावधानी अणायोग, लापरवाही, प्रमाद अथवा शारीरिक वेदना के कारण संकटकाल में

आवती अथवा ऐसे स्थान पर जहां विरुद्ध धर्मानुयायी रहते हों संकिण्ण अथवा अनापेक्षित परिस्थितियों, सहसकार अथवा भय से या घृणा के कारण नियम भंग करते हैं।[301] ऐसी परिस्थितियों में नियमभंग करने वालों की संघीय विधि से चिकित्सा की जाती थी जिसे नामान्तर से प्रायश्चित कहा गया है। चिकित्सा रोगी को कष्ट देने के लिए नहीं दी जाती अपितु रोग निवारण के लिए की जाती है। इसी प्रकार प्रायश्चित भी राग आदि अपराधों के उपशमन के लिए दिया जाता है।[302]

प्राश्यचित के निम्न निर्दिष्ट प्रयोजन है[303]—

(1) प्रमाद जनित दोषों का निराकरण,
(2) भावों की प्रसन्नता,
(3) शल्य रहित होना,
(4) अव्यवस्था का निवारण,
(5) मर्यादा का पालन,
(6) संयम की दृढ़ता,
(7) आराधना।

परिस्थितिवश नियम भंग करने वाले श्रमण व श्रमणी तथा वह श्रमण और श्रमणी जो जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चारित्रसम्पन्न, क्षांत, दान्त, अमायावी तथा अपश्चातापी थे वह गुरु के समक्ष अपने अपराधों को स्वीकार कर लेते थे जिसे 'आलोचना' कहा जाता था।[304]
दस स्थानों से सम्पन्न अनगार आलोचना देने के योग्य होता था[305]—

(1) आचारवान —ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारों से युक्त।
(2) आधारवान —आलोचना लेने वाले के द्वारा आलोच्यमान समस्त अतिचारों को जानने वाला।
(3) व्यवहारवान —आगम, श्रुत, आज्ञा, धारण और जीत—इन पांच व्यवहारों को जानने वाला।
(4) अपव्रीडक —आलोचना करने वाले व्यक्ति में वह लाज या संकोच से मुक्त होकर सम्यक् आलोचना कर सके, वैसा साहस उत्पन्न करने वाला।
(5) प्रकारी —आलोचना करने पर विशुद्धि कराने वाला।
(6) अपरिश्रावी —आलोचना करने वाले के आलोचित दोषों को दूसरों के सामने प्रकट न करने वाला।

(7) निर्यापक —बड़े प्रायश्चित को भी निभा सके ऐसा सहयोग देने वाला।
(8) अपायदर्शी —प्रायश्चित भंग से तथा सम्यक् आलोचना न करने से उत्पन्न दोषों को बताने वाला।
(9) प्रियधर्मा —जिसे धर्म प्रिय हो।
(10) अविचलित —जो आपत्काल में भी धर्म से विचलित न हो।

यदि किसी कारणवश अपराधी व्यक्ति पूरा प्रायश्चित एक बार में पूरा नहीं कर पाता तो गुरु उसे उपयुक्त कालखण्डों में बांट देता था। वह अपराधी की इस पाप स्वीकृति को गोपनीय रखता था।[306]

आलोचना के दस दोष हैं[307]—

(1) आकम्प्य —सेवा आदि के द्वारा आलोचना देने वाले की आराधना कर आलोचना करना।
(2) अनुमान्य —मैं दुर्बल हूं, मुझे थोड़ा प्रायश्चित देना—इस प्रकार अनुनय कर आलोचना करना।
(3) यद्दृष्ट —आचार्य आदि के द्वारा जो दोष देखा गया है उसकी आलोचना करना।
(4) बादर —केवल बड़े दोषों की आलोचना करना।
(5) सूक्ष्म —केवल छोटे दोषों की आलोचना करना।
(6) छन्न —आचार्य न सुन पाये ऐसे आलोचना करना।
(7) शब्दाकुल —जोर-जोर से बोलकर दूसरे अगीतार्थ साधु सुनें वैसे आलोचना करना।
(8) बहुजन —एक के पास आलोचना कर फिर उसी दोष की दूसरे के पास आलोचना करना।
(9) अव्यक्त —अगीतार्थ के पास दोषों की आलोचना।
(10) तत्सेवी —आलोचना देने वाले जिन दोषों का स्वयं सेवन करते हैं, उनके पास उन दोषों की आलोचना करना।

स्थानांगसूत्र में आलोचना अर्थात् गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन के अतिरिक्त नौ अन्य प्रायश्चित भी बताये गये हैं[308]—

(1) प्रतिक्रमणयोग्य —मिथ्या में दुष्कृत—मेरा दुष्कृत निष्फल हो इसका भावनापूर्वक उच्चारण।
(2) तदुभव योग्य —आलोचना और प्रतिक्रमण।

(3) विवंक योग्य —अशुद्ध आहार आदि का उत्सर्ग।
(4) व्युत्सर्ग योग्य —कायोत्सर्ग।
(5) तपयोग्य —अनशन, ऊनोदरी आदि।
(6) छेद योग्य —दीक्षा पर्याय का छेदन।
(7) मूलयोग्य —पुनर्दीक्षा।
(8) अनवस्थाप्य योग्य —तपस्यापूर्वक पुनर्दीक्षा।
(9) पारांचिक योग्य— भर्त्सना एवं अवहेलनापूर्वक पुनर्दीक्षा।

यदि बौद्ध प्रातिमोक्ष की जैन प्रायश्चित से तुलना की जाये तो दोनों में काफी अंश तक समानता देखी जा सकती है।[309] उदाहरण के लिए—

बौद्ध प्रातिमोक्ष	*जैन प्रायश्चित*
(1) पाराजिक	—पारांचिक--योग्य (पारांसिय) संघ निष्कासन या भर्त्सना एवं अवहेलना पूर्वक पुनर्दीक्षा पद केवल नामान्तर प्रतीत होते हैं।
(2) संघदिशेष	—अनवस्थाप्य-योग्य (अणवट्ठप्प) संघ से अस्थायी निष्कासन तथा तपस्या पूर्वक पुनर्दीक्षा।
(3) पाचित्तिय तथा पाटिदेसनीय	प्रतिक्रमण योग्य, आलोचना-योग्य तथा विवेक योग्य —'पडिक्रमण आलोयणा' तथा विवेग लगभग एक ही हैं।

इन प्रायश्चितों का विधान होने पर भी मूल जैन ग्रन्थों में कहीं भी इन नियमों के क्रियान्वयन का कोई उदाहरण नहीं मिलता जबकि बौद्ध संघ में न्याय विधिवत् होता था। उदाहरण के लिए तथागत के शिष्य आनन्द पर संघ के समक्ष प्रथम संगीति में अभियोग लगाया गया था।[310] जैन संघ में अस्थायी अथवा स्थायी संघ निष्कासन की चर्चा मात्र मिलती है।[311]

अनवस्थाप्य प्रायश्चित के भागी वह श्रमण होते थे जो[312]—

(1) साधर्मिकों की चोरी करते थे।
(2) अन्य धार्मिकों की चोरी करने वाला।
(3) हस्ताल देने वाला—मारक प्रहार करने वाला।

इसी प्रकार पारांचित नामक प्रायश्चित तीन कारणों से किया जाता था।[313]

(1) दुष्टपारांचित—संघ विरोधी गतिविधि करने पर।

(2) प्रमत्त पारांचित—निद्रा वाला होने पर।
(3) अन्यान्य मैथुन सेवन करने पर।

दुष्टपारांचित

यह प्रायश्चित पांच कारणों से किया जाता था[314]—

(1) व्यक्ति यदि जिस कुल में रहता उसी में भेद डालने का यत्न करता।
(2) जो जिसे गण में रहता यदि उसी में भेद डालने का यत्न करता
(3) यदि श्रमण हिंसाप्रेक्षी होता—कुल अथवा गण के सदस्यों का वध चाहता।
(4) यदि श्रमण छिद्रान्वेषी होता।
(5) यदि वह बार-बार प्रश्नावली[315] का प्रयोग करता।

इसके अतिरिक्त दुष्ट पारांचित 'दुट्ठ' तब होता जब मुनि, आचार्य, गणधर अथवा शास्त्र की निन्दा करता, उन्हें परेशान करता, उसकी किसी श्रमणी से घनिष्ठता हो जाती या वह राजा की हत्या कर देता अथवा रानी से अवैध सम्बन्ध स्थापित हो जाते।

प्रमत्तपारांचित

प्रमत्त पारांचित लेने वाले गुरु प्रायश्चित के भागी होते हैं[316]—

(1) हस्त कर्म करने वाला।
(2) मैथुन का सेवन करने वाला।
(3) रात्रि भोजन करने वाला।

अन्यान्य मैथुन

यह प्रायश्चित तब किया जाता था जब मुनि समलैंगिकता में रत हो जाता था।[317]

इसके अतिरिक्त भी प्रायश्चित चार प्रकार के होते हैं[318]—

(1) प्रतिषेवणा प्रायश्चित —अकृत्य का सेवन करने पर प्राप्त होने वाला प्रायश्चित।
(2) संयोजना प्रायश्चित —एक जातीय अतिचारों के लिए प्राप्त होने वाला

प्रायश्चित।

(3) आरोवणा प्रायश्चित — एक दोष का प्रायश्चित चल रहा हो, उस बीच में ही उस दोष का पुन: सेवन करने पर जो प्रायश्चित की अवधि बढ़ती है।

(4) परिकुंचना प्रायश्चित — आपराध को छिपाने का प्रायश्चित। दोषी के शुद्धिकरण की प्रक्रिया को परिहार विशुद्धि[319] कहा जाता था।

आचार्य अकलंक ने बताया है कि जीव को परिणाम असंख्येय लोक जितने होते हैं तथा जितने परिणाम होते हैं उतने ही उनके प्रायश्चित होने चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है।

परिहार की विधि

नौ श्रमणों के समूह में चार का परिहार किया जाता था, चार प्रतीक्षारत रहते हुए पहले चार का निरीक्षण करते थे अणुपारिहारिक तथा नवां गुरु के समान व्यवहार करता था।[320]

परिहारकम्म के अन्तर्गत छ: माह की अवधि में भिन्न-भिन्न ऋतुओं में विविध व्रत, उपवास एवं अनशन किये जाते थे। उदाहरण के लिए—

उपवास

ऋतु	न्यूनतम	अनुपात	अधिकतम
शीत	सिर्फ छ: बार भोजन		दस बार भोजन
ग्रीष्म	सिर्फ चार बार भोजन	छ:	आठ बार भोजन
वर्षा	सिर्फ आठ बार भोजन		बारह बार भोजन

पारिहारिक अनशन के उपरान्त आचाम्ल किया जाता था। जबकि गुरु बना नवां श्रमण प्रतिदित आचाम्ल करता था। इस प्रकार जब पहले चार भिक्षु आचाम्ल कर लेते तब शेष चार छ: माह के परिहार कम्म का आरम्भ कर देते थे। तत्पश्चात् नवां श्रमण गुरु छ: माह तक परिहार कम्म करता था। इस प्रकार पूरा समूह अठारह माह में शुद्ध हो जाता था।

संघभेद

विचार का इतिहास जितना पुराना है लगभग उतना ही पुराना विचार भेद का इतिहास है। तीर्थंकर वाणी जैन संघ के लिए सर्वोपरि प्रमाण है। वह प्रत्यक्षदर्शन है इसलिए उसमें तर्क की कर्कशता नहीं है। वह तर्क से बाधित भी नहीं है। वह सूत्र रूप में है। उसकी व्याख्या में तर्क का लचीलापन आया है। भाष्यकार और टीकाकार प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे। उन्होंने सूत्र के आशय की परम्परा को समझा। यदि हृदयंगम नहीं हुआ तो युक्ति और जोड़ दी। लम्बे समय में अनेक सम्प्रदाय बन गये। दिगम्बर और श्वेताम्बर जैसे शासन भेद हुए। महावीर के समय श्रमण वस्त्र धारण करते थे, कुछ नहीं भी करते थे। भगवान स्वयं वस्त्र नहीं पहनते थे। वस्त्र पहनने से मुक्ति होती है या वस्त्र नहीं पहनने से मुक्ति होती है, यह दोनों तर्क गौण हैं। मुख्य है रागद्वेष से मुक्ति। जैन परम्परा का भेद मूलतत्वों की अपेक्षा गौण प्रश्नों पर अधिक टिका है।

गोशालक जैन परम्परा से सर्वथा अलग हो गया था इसलिए उसे निन्हव नहीं माना गया।[321] स्थानांगसूत्रानुसार दिगम्बर और श्वेताम्बर संघ भेद होने तक जैन संघ में सात निन्हव भेद हो चुके थे।[322]

आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार इनमें से दो भगवान महावीर के जीवन काल में कैवल्य प्राप्ति के बाद तथा पांच उनके निर्वाण के बाद हुए।[323]

सात निन्हव इस प्रकार हैं—

निन्हव	धर्माचार्य	नगर	समय
(1) बहुरत	जमाली	श्रावस्ति	महावीर केवल्य प्राप्ति के 14 वर्ष बाद।
(2) जीवप्रादेशिक	तिष्यगुप्त	ऋषभपुर	केवल्य प्राप्ति के सोलह वर्ष बाद।
(3) अव्यक्तिक	आषाढ़	श्वेतिका	निर्वाण के 214 वर्ष बाद।
(4) सामुच्छेदक	अश्वमित्र	मिथिला	निर्वाण के 220 वर्ष बाद।
(5) द्वैक्रिय	गंग	उल्लुकातीर	निर्वाण के 228 वर्ष बाद।
(6) त्रैराशिक	षड्लूक (रोहगुप्त)	अन्तरंजिका	निर्वाण के 544 वर्ष बाद।
(7) अबद्धिक	गोष्ठामाहिल	दशपुर	निर्वाण के 584 वर्ष बाद।

इन सात निन्हवों में जमाली, रोहगुप्त तथा गोष्ठामाहिल तीनों अन्त तक अलग रहे। भगवान के शासन में पुनः सम्मिलित नहीं हुए। शेष चार पुनः शासन में आ गये।[324]

बहुरत

दुर्भाग्य से प्रथम संघभेद स्वयं भगवान के जामाता जमाली द्वारा श्रावस्ती में हुआ। इसके अनुसार कोई वस्तु एक समय की क्रिया से उत्पन्न नहीं होती। अनेक समयों में उत्पन्न होती है।[325] यह सिद्धान्त क्रियमाण अकृत, संस्तीर्यमाण असंस्तृत है अर्थात् किया जा रहा है किया नहीं गया है। कार्य की पूर्णता होने पर पूर्ण कहना ही यथार्थ है।[326]

जीव प्रादेशिक

महावीर के केवल्य प्राप्ति के सोलह वर्ष बाद तिष्यगुप्त द्वारा यह संघभेद ऋषभपुर में आरम्भ हुआ। तिष्यगुप्त के अनुसार आत्मा समस्त शरीराणुओं से व्याप्त नहीं है। यह जीव के अन्तिम प्रदेश को ही जीव की संज्ञा प्रदान करते थे। किन्तु इन संघ भेदकों को अपनी भूल ज्ञात हो गयी और क्षमादान भी मिल गया। तिष्यगुप्त चौदह पूर्वो के वेत्ता आचार्य वसु के शिष्य थे।[327]

अव्यक्तिक

आचार्य स्थूलभद्र के महाप्रयाण के तुरन्त बाद ही जैन संघ में तीन और संघभेद उत्पन्न हुए जिन्होंने संघ शक्ति को दुर्बल बनाया। अव्यक्तिक इन्हीं में से था। यह निन्हव महावीर के मोक्षगमन के दो सौ चौदह वर्ष पश्चात् आषाढ़ सेन[328] द्वारा किया गया। उनके अनुसार समस्त जगत अव्यक्त, अस्पष्ट और अज्ञेय है। मुनि तथा देवता में कोई अन्तर नहीं है। मौर्यवंश के बलभद्र ने उनको उपदेश दिया था।

सामुच्छेदक

यह महावीर के परिनिर्वाण के दो सौ बीस वर्ष पश्चात् अश्वमित्र द्वारा मिथिलानगरी में आरम्भ हुआ था। इस सिद्धान्त के अनुसार अच्छी बुरी क्रिया निष्प्रयोजन है क्योंकि जीवन का अन्त हो जाता है। प्रत्येक कार्य अपने उत्पन्न होने के अनन्तर समय में समस्त रूप से व्युत्छिन्न हो जाता है। अर्थात् प्रत्येक उत्पादित वस्तु क्षणस्थायी है। यह मत बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद के अनुकूल है। अन्त में खण्डरक्ख द्वारा उन्हें भी अपनी भूल ज्ञात हो गयी और उन्होंने क्षमा प्राप्त कर ली। यह मत नरक आदि भावों को क्षणस्थायी बताता था।

द्वैक्रिय

महावीर के मोक्षगमन के दो सौ अट्ठाईस वर्ष पश्चात् यह निन्हव हुआ। इसके प्रवर्तक आचार्य गंग थे तथा इनका स्थान उल्लुकातीर नामक नगर था। द्वैक्रियावादी एक ही क्षण में एक साथ दो क्रियाओं का अनुवेदन मानते हैं। मणिनाथ द्वारा उन्हें पुन: उद्‌बोधन मिला और वह भी प्रायश्चित लेकर पुन: संघ में सम्मिलित हो गये।

त्रैराशिक

यह लोग जीव, अजीव और नोजीव रूप त्रिराशि को मानते हैं। रोहगुप्त[329] इस मत के प्रवर्तक हैं। यह निन्हव क्षुल्लकमुनि द्वारा पुरमंतरंजिका नगरी में उत्पन्न हुआ। इस मत के अनुयायी वस्तुविभाग तीन भागों में करते थे, जैसे जीव, अजीव और जीवाजीव।

अबाद्धिक

इस मत के अनुसार जीव अपने कर्मों से बद्ध नहीं है। गोष्ठामाहिल इस मत के प्रवर्तक हैं। जिनके द्वारा इस मत की स्थापना वीर निर्वाण से पांच सौ चौरासी वर्ष पश्चात् दशपुर में हुई थी। इस मत का मर्म यह है कि कर्म का जीव से स्पर्शमात्र होता है, बन्धन नहीं।[330]

इन प्रमुख सात निन्हवों के अतिरिक्त भी कुछ ही समय में जैन संघ के अन्य भेद हुए जो इस प्रकार हैं—

बोटिक निन्हव

वीर निर्वाण के छ: सौ नौ वर्ष पश्चात् बोटिक निन्हव अर्थात् दिगम्बर संघ की उत्पत्ति मानी जाती है। दिगम्बर परम्परा में उपर्युक्त सात निन्हवों का तो कोई उल्लेख नहीं पाया जाता किन्तु श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख है।[331]

देवसेन ने अपने ग्रन्थ दर्शनसार[332] में लिखा है कि विक्रमराज की मृत्यु के एक सौ छत्तीस वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र देश के वलभी नगर में श्वेतपट श्वेताम्बर संघ उत्पन्न हुआ ऐसे कुल अठारह विषय हैं जिन्हें श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है दिगम्बर नहीं मानता।[333] यह हैं—

(1) केवली का कवलाहार—अर्थात् केवलज्ञानी भोजन करते हैं और उन्हें रोग

होता है।
(2) प्रासुक भोजन सर्वत्र किया जा सकता है।
(3) स्त्री मुक्ति।
(4) शूद्रमुक्ति।
(5) वस्त्र सहित मुक्ति।
(6) गृहस्थवेश में मुक्ति।
(7) अलंकार और कछोटे वाली प्रतिमा का पूजन।
(8) मुनियों के चौदह उपकरण।
(9) तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्री होना।
(10) ग्यारह अंगों की विद्यमानता।
(11) भरतचक्रवर्ती को अपने घर में केवल्य ज्ञान की प्राप्ति।
(12) शूद्र के घर से मुनि आहार ले सके।
(13) महावीर का गर्भ धारण।
(14) महावीर का विवाह व कन्या जन्म।
(15) महावीर स्वामी को तेजोलेश्या से उपसर्ग।
(16) तीर्थंकर के कन्धे पर देवदूष्यवस्त्र।
(17) मरुदेवी का हाथी पर चढ़े हुए मुक्ति गमन।
(18) साधु का अनेक घरों से भिक्षा ग्रहण करना।

श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति

उज्जैनी नामक नगरी में भद्रबाहु नामक आचार्य थे। वह निमित्तज्ञानी थे। उन्होंने संघ को बुलाकर कहा कि एक बड़ा भारी दुर्भिक्ष होगा जो बारह वर्षों में समाप्त होगा। इसलिए साधुओं को संघ बनाकर अन्य देशों को चले जाना चाहिए। यह सुनकर सब गणधर अपने अपने संघों को लेकर उन देशों को विहार कर गये जहां सुभिक्ष था। उन्हीं में से एक शान्ति आचार्य अपने शिष्यों के साथ सौराष्ट्र देश की वलभी नगरी में पहुंचे, किन्तु वहां भी दुर्भिक्ष था। भूखे लोग दूसरों का पेट फाड़कर खाने लगे थे। इस निमित्त को पाकर सबने कम्बल, दण्ड, तुम्बा, पात्र, आवरण और सफेद वस्त्र धारण कर लिए। ऋषियों का आचरण छोड़कर बस्ति में जाकर दीनतापूर्वक अथवा स्वेच्छापूर्वक भोजन आरम्भ कर दिया। उन्हें इस प्रकार का आचरण करते हुए बहुत काल बीत गया।

जब सुभिक्ष हो गया तो शान्ति आचार्य ने उन से कहा कि इस कुत्सित आचरण को छोड़ दो और प्रायश्चित करके मुनियों का श्रेष्ठ आचरण ग्रहण कर लो। इन वचनों को सुनकर उनके एक प्रधान शिष्य ने कहा कि इस दुर्धर आचरण

को धारण नहीं किया जा सकता है। उपवास, भोजन का नहीं मिलना, तरह-तरह के दुस्सह अन्तराय, एक स्थान, अचेलता, मौन, ब्रह्मचर्य, भूमि पर शयन बड़े कठिन आचरण हैं।

शान्त्याचार्य ने कहा कि चरित्र से भ्रष्ट जीवन अच्छा नहीं है। यह जैन मार्ग को दूषित करता है। भगवान ने निर्ग्रन्थ प्रवचन को ही श्रेष्ठ कहा है। उसको छोड़कर अन्य मार्ग का अवलम्बन लेना मिथ्यात्व है। इस पर रुष्ट होकर उस शिष्य ने दीर्घदण्ड से गुरु के सिर पर प्रहार किया। तब वह शिष्य संघ का स्वामी बन गया तथा प्रकट रूप से श्वेताम्बर बन गया। वह उपदेश देने लगा कि सग्रन्थलिंग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अपने अपने ग्रहण किये पाखण्डों के सदृश उन लोगों ने शास्त्रों की रचना की और उनकी व्याख्या करके उन लोगों में उसी प्रकार के आचरण की प्रवृत्ति चला दी।[334]

अर्धफालक सम्प्रदाय

हरिषेणकृत बृहत्कथाकोष में उल्लेख है कि दुर्भिक्ष के कारण श्रुतकेवली भद्रबाहु दक्षिणापथ को चले गये। सुभिक्ष होने पर भद्रबाहु का शिष्य विशाखाचार्य समस्त संघ के साथ दक्षिणापथ से मध्यदेश लौट आया। इन्होंने वहां से लौट कर कहा कि सिन्धुदेश में लोग दुर्भिक्ष पीड़ितों के शोर के कारण दिन में नहीं खा पाते, इससे रात को खाते थे। उन्होंने विशाखाचार्य आदि से कहा कि वह भी रात में उनके घर से पात्र लेकर आहर ले जाया करें। तब साधु रात्रि में आहार लाने लगे। एक दिन एक कृशकाय निर्ग्रन्थ हाथ में भिक्षापात्र लेकर साधु के घर गया। अन्धेरे में उस नग्नमुनि को देखकर एक गर्भिणी श्राविका का गर्भपात हो गया। तब श्रावकों ने आकर साधुओं से आग्रह किया कि जब तक स्थिति ठीक नहीं होती तब तक बाएं हाथ से अर्धफालक अर्थात् आधेवस्त्रखण्ड को आगे करके और दाहिने हाथ में भिक्षापात्र लेकर रात्रि में आहार लेने के लिए आया करें। सुभिक्ष होने पर पुन: तप में संलग्न हो जाएं। श्रावकों का वचन सुनकर यतिगण वैसा ही करने लगे।

सुभिक्ष होने पर रामिल्ल, स्थविर स्थूलभद्राचार्य ने सकलसंघ से अर्धफालक छोड़ निर्ग्रन्थ धर्म के अनुपालन का आग्रह किया। जिन्हें गुरु का वचन रुचिकर नहीं हुआ उन शक्तिहीनों ने अर्धफालक सम्प्रदाय को प्रचलित किया।[335]

काम्बल तीर्थिक

सौराष्ट्र की वलभी नामक नगरी में वप्रवाद नामक मिथ्यादृष्टि राजा था। उसकी पटरानी स्वामिनी अर्धफालक साधुओं की भक्त थी। अर्धफालक संघ को देखकर

राजा को बहुत कौतुहल हुआ कि यह न तो नग्न है न वस्त्रवेष्टित। तब राजा ने संघ से प्रार्थना की कि या तो साधु निर्ग्रन्थता अंगीकार कर लें अथवा ऋजुवस्त्र में विहार करें। उस दिन से काम्बल तीर्थ का प्रवर्तन हुआ।

यापनीय संघ

दक्षिणापथ स्थित सावलिपत्तन में काम्बल सम्प्रदाय से यापनीय संघ उत्पन्न हुआ। कलिंगराज खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख से ऐसा ज्ञात होता है। जायसवाल के अनुसार यही इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सूचना है। वह कहते हैं कि यापज्ञापक याज्ञापका: यापों के शिक्षक क्षेत्र के बिना जैन धर्म का इतिहास समीकृत नहीं किया जा सकता।[336]

भद्रबाहुचरित में भद्रबाहु नामक आचार्य के तुरन्त बाद से जैन धर्म का इतिहास दिया गया है जो कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन हैं। भद्रबाहु चरित के अनुसार उनके अनेकों शिष्यों में से जो अपने शास्ता की अस्थियों की पूजा करते थे यापनीय संघ का उदय हुआ जिसने अन्तत: वस्त्रविहीन रहने का निश्चय किया। यापनसंघ प्रमुख रूप से दक्षिण में पल्लवित हुआ क्योंकि कर्नाटक अभिलेख में ज्ञापकों की प्रमुख रूप से चर्चा है।[337]

उपसंहार

जैनों के इस विचार में सत्यता है कि उनका धर्म अति पुरातन है। जिसकी प्राचीनता प्रागार्य होने के कारण विवाद का विषय है तथा जैन धर्म सभी धर्म और दर्शनों में सर्वप्राचीन है।[338] पाश्चात्य विद्वान नोइलरेटिंग लिखते हैं कि सभी जीवित धर्मों में हम मौलिकता तथा गहनता का मिश्रण पाते हैं।[339] जैन संघ की कुछ अपनी ही विशेषताएं थीं—

(1) *स्त्री संन्यास की अधिकारिणी*

यद्यपि न्यूनाधिक रूप में जैन संघ में भी स्त्रियों के प्रति वही विचारधारा थी जो बौद्ध संघ में या ब्राह्मण संन्यास आश्रम में थी किन्तु फिर भी आध्यात्मिक क्षेत्र में सम्बोधि प्राप्ति का अधिकार उन्हें आरम्भ से ही मिल गया था।[340] अतएव कहा जा सकता है कि जो ब्राह्मणधर्म में कभी नहीं हुआ, बुद्ध ने जिसे अन्य के आग्रह से अनिच्छापूर्वक स्वीकारा; वहीं जैन धर्म ने स्त्री को आरम्भ से ही प्रव्रज्या का अधिकार दिया।[341]

(2) *कायाक्लेश तथा केशलोंच*

दशवैकालिक तथा मूलाराधना के अनुसार काय: क्लेश संसार विरक्ति का हेतु है। वीरासन, उकडू आसन, तथा केशलोंच कठिन-अनशन, कायोत्सर्ग, तप व संलेखना इसके भाग हैं। काय: क्लेश से निर्लेपता, पश्चात कर्मवर्जन, पुर: कर्मवर्जन, तथा कष्ट सहिष्णुता जैसे सद्गुण प्राप्त होते हैं।[342] कल्पसूत्र में कहा गया है कि संवत्सरी के पूर्व लोंच अवश्य करना चाहिए। उसकी व्याख्या में लोंच करने के नौ हेतु बताये हैं।[343] राग आदि के निराकरण से इसका सम्बन्ध है। यह अन्वेषण का विषय है। शासन की अवहेलना का प्रश्न सामयिक है। जीवों की उत्पत्ति न हो तथा उसकी विराधना न हो, इसकी सावधानी बरती जा सकती है। इन हेतुओं से लोंच की साधना अनिवार्य होना कठिन है। यह कष्ट सहिष्णुता की बहुत बड़ी कसौटी है, क्योंकि केशलोंच से दारुण कष्ट होता है। केशों को संसाधित करने से उसमें जूं, लीख आदि उत्पन्न हो जाती हैं। वहां से उनको हटाना दुष्कर होता है। सोते समय अन्यान्य वस्तुओं से संघटन होने के कारण उन जूं, लीखों को पीड़ा हो सकती है। अन्य स्थलों से कीटादिक जन्तु भी उनको वहां खाने आ जाते हैं। यह दुष्अतिहार्य है। लोच से मुण्डत्व, मुण्डत्व से निर्विकारता और निर्विकारता से रत्नत्रयी में प्रबल पराक्रम हो सकता है। लोंच से आत्मदमन होता है। सुख में आसक्ति नहीं होती, स्वाधीनता रहती है। लोंच न करने वाला मस्तक को धोने, सुखाने, तेल लगाने में काल व्यतीत करता है। स्वाध्याय आदि में स्वतन्त्र नहीं रहता। निर्दोषता की वृद्धि होती है और शरीर से मन हट जाता है। लोच से धर्म के प्रति श्रद्धा होती है। यह उग्र तप है, कष्ट सहिष्णुता का उत्कृष्ट उदाहरण है।[344]

इस प्रकार काय: क्लेश तथा लोंच को जैनों के कठोर आत्मनियन्त्रण का प्रतीक माना जा सकता है। जबकि बौद्ध धर्म इन कठिन काय: कलेशों में विश्वास न कर मध्यम प्रतिपदा को स्वीकार करता है।[345]

(3) *नग्नता*

नग्नता भी जैन संघ की विचित्र विशेषता है। यह इस बात की सूचक है कि गम्भीर अपरिग्रह के पालन से भिक्षु समाज पर नाममात्र को ही आश्रित रहता है। आचारांगसूत्र के अनुसार धर्मक्षेत्र में उन्हें नग्न कहा गया है जो दीक्षित होकर पुन: गृहवास में नहीं आते।[346] श्रमण से अपेक्षा की जाती थी कि वह लज्जा को जीतने में समर्थ हो। सर्वथा अचेल रहे। कटिबन्ध तक धारण नहीं करे। चाहे घास की चुभन हो, सर्दी लगती हो, गर्मी लगती हो, डांस और मच्छर काटते हों। सब परीषहों को निर्वस्त्र होकर सहन करे।[347] अचेलमुनि का आदर्श एक जातीय और

अनेक जातीय परीषहों को सहन करना है। अचेलमुनि लाघव को प्राप्त होता है। उपकरण अवमौदर्य तथा काय: क्लेश तप को प्राप्त होता है।[348]

(4) *अहिंसा*

अहिंसा परमोधर्म: जैनों का सिद्धान्त था। किन्तु उनके संघ में इसका चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है। जैन भिक्षु परजीवों पर इतने आर्द रहते हैं कि स्वयं कष्ट ओढ़ लेते हैं।[349] हिंसा से बचने के लिए ही जैनों ने भोजन की शुद्धता की अवधारणा बनाई तथा भिक्षा व गमनागमन के लिए अनेक नियमों व उपनियमों का निर्माण किया। समभवत: कोई भी सम्प्रदाय मर्यादा पालन में जैनों से स्पर्धा नहीं कर सकता।

(5) *अपरिग्रह*

जैन संघ की तुलनात्मक दृष्टि से यह अपूर्व विशेषता है कि जैन श्रमणों ने या जैन संघ ने समवेत में कभी भी स्वर्ण, मणि, मुक्तक अथवा रजत या द्रव्य को किसी भी निमित्त से स्वीकार नहीं किया जबकि बौद्ध संघ ने अनेकानेक आराम जैतवन, वेलुवन आदि स्वर्ण मुद्राओं के साथ स्वीकार किये। बौद्धों की द्वितीय संगीति में तो वज्जि के भिक्षुओं द्वारा दस अकरणीय कल्पों में जातरूपरंजक अर्थात् द्रव्यसंग्रह महत्वपूर्ण था।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मनुष्य की धार्मिक जागरूकता की प्रथमावस्था में ही जैन धर्म ने अध्यात्मवाद का परिरक्षण किया है। यह आत्मा तथा पुद्गल के पार्थक्य को प्रमाणित करता है।[350]

यद्यपि सिद्धान्तत: जैन समाज की कम से कम निर्भरता पर बल देते थे किन्तु उन्होंने बड़ी चतुराई से श्रावक और श्राविका गृहस्थों से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखा। यही कारण है कि संघ की अनवरतता अक्षुण्ण बनी रही। रूढ़िवादी विचारों के उपासक श्रमणसंघ के अनुशासन के लिए नियन्त्रक सिद्ध हुए।[351] यही कारण है कि विदेशों में सुख्यात बौद्ध धर्म भारत से लुप्त हो गया जबकि उसी का समसामयिक गौण धर्म जैन धर्म के रूप में भारत भूमि में पुष्पित और पल्लवित है।[352]

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. तीर्थंकर का शाब्दिक अर्थ है धर्म का प्रवर्तक। जैनों के अनुसार जिसने संसार सागर तैरकर पार कर लिया पारगामी तीर्थंकर है। इसी अर्थ में अन्य भी इसे स्वीकारते हैं। प्रो० लासेन के अनुसार बौद्धानुयायियों ने इसे महावीर की उपाधि के रूप में लिया बुद्ध के लिए इसे प्रयुकत नहीं किया। ठीक उसी प्रकार जैसा तथागत बुद्ध, सम्बुद्ध आदि शब्दों का प्रयोग जैन नहीं करते। द्र० जैनसूत्रज जि० 2, पृ० 20।
2. यह वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र तथा इक्ष्वाकु कुल के क्षत्रिय थे। सौ वर्ष की आयु में सन् 776 ई०पू० में उनका देहान्त वाराणसी में हुआ। पार्श्व को यह नाम किंवदन्ती के अनुसार दिया गया कि इनके जन्म के पूर्व इनकी मां ने अपने पार्श्व में रेंगता हुए काला नाग देखा था। द्र० कल्पसूत्र (एस०बी०ई०), जि० 22, पृ० 272।
3. जैन सूत्रज भाग-2, एस०बी०ई० जि० 45, भूमिका, पृ० 14।
4. राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, जैन धर्म, पृ० 1।
5. केशी की स्तुति इस प्रकार की गयी है —
   केश्यग्निं केशी, विषं केशी बिर्भति रोदसी।
   केशी विश्वं स्वदृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते।। - ऋग्वेद, 1०/136/1।
   केशी की यह स्तुति वातरशना श्रमण ऋषि तथा उनके अधिनायक ऋषभ और उनकी साधनाओं से तुलनीय है। ऋग्वेद के वातरशना और भागवत पुराण के वातरशना श्रमण ऋषि नि:सन्देह एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं। केशी का अर्थ केशधारी होता है। यद्यपि सायण ने इसका अर्थ केशस्थानीय रश्मियों को धारण करने वाला सूर्य किया है। किन्तु यह संगति सार्थक प्रतीत नहीं होती क्योंकि ऋषभ भगवान के कुटिल केशों की परम्परा जैन मूर्तिकला में प्राचीनकाल से आज तक अक्षुण्ण है। ऋषभदेव को केसरियानाथ भी कहा जाता है। उल्लेखनीय है कि केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं। सिंह भी केशों के कारण ही केसरी कहलाता है। इसी प्रकार ऋग्वेद में अन्यत्र—कर्कदेवे वृषभोयुक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी दुधर्युक्तस्यद्रवत: सहानस ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुदगलानीम — ऋग्वेद, 10/102/6 केशीवृषभ को सारथी बनाना उनका एक ही पुरुष होना सिद्ध करता है। द्र० हीरालाल जैन : जैन धर्म का उद्गम और विकास, पृ० 14-16।
6. अरिष्टनेमि महाभारत कालीन बाईसवें तीर्थंकर थे। वह शौरीपुर के यादव राजा अंधकवृष्णि के पौत्र तथा वासुदेव कृष्ण के चचेरे भाई थे। जरासंध के आतंक से त्रस्त शौरीपुर के यादव द्वारिका जा बसे थे। इनका विवाह गिरनार—जूनागढ के राजा उग्रसेन की कन्या राजुलमती से निश्चित हुआ था। किन्तु विवाह के दिन लग्न होने से पूर्व ही यह हिंसामय गार्हस्थिक जीवन से विरक्त होकर श्रमण हो गये और गिरनार पर्वत पर तप करने चले गये। यही कारण है कि महाभारत के शान्तिपर्व में जो भगवान तीर्थवित् के उपदेशों का वृत्तान्त है, वह जैन तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट धर्म के समरूप है। - द्र० जैन धर्म का उद्गम और विकास, पृ० 30: उत्तराध्ययन एस०बी०ई० 45, पृ० 112 तथा आग जैकोबी की टिप्पणियां, पृ० 112-13।
7. भागवत पुराण के पांचवें स्कन्ध के प्रथम छ: अध्यायों में ऋषभ देव के वंश, जीवन व तपश्चरण का वृत्तान्त मिलता है जो सभी बातों में जैन पुराण से समता रखता है। उनके माता-पिता के नाम नाभि और मरुदेवी पाये जाते हैं तथा उन्हें स्वायंभू मनु की पीढ़ी का

पांचवां वंशज इस क्रम में कहा है : मनु, प्रियव्रत, अग्नीध्र, नाभि और ऋषभ। वह नग्न रहते थे और केवल शरीर मात्र ही उनके पास था। लोगों द्वारा तिरस्कार किये जाने, गाली गलौच करने और मारे जाने पर भी वह मौन रहते थे। अपने कठोर तपश्चरण द्वारा उसने कैवल्य प्राप्ति की तथा दक्षिण कर्नाटक प्रदेश में भ्रमण किया। वह कुटकांचल पर्वत के वन में उन्मत्त के समान नग्न रूप में विचरने लगे। बांसों की रगड़ से वन में आग लग गई और उसमें उन्होंने स्वयं को भस्म कर डाला। द्र० जैन धर्म का उद्‌गम और विकास, पृ० 11-12। तुलनीय : कल्पसूत्र एस०बी०ई० जि० 22ए पृ० 281-285।

8. भागवत पुराण, 5/3/20 — भागवत पुराण के कथन में उल्लेखनीय दो बातें हैं कि भारतीय संस्कृति में ऋषभ का स्थान तथा प्राचीनता का साहित्यिक परम्परा से घनिष्ठ व महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। हिन्दू और जैन दोनों ही उन्हें पूज्य मानते हैं। हिन्दू विष्णु के अवतार और जैन आदि तीर्थंकर के रूप में पूजते हैं। दूसरा, अवतारों में यह राम और कृष्ण से भी पुरातन माने गये हैं।—द्र० जैन धर्म का उद्‌गम और विकास, पृ० 12।
9. भागवत पुराण, 5/6/12।
10. उत्तराध्ययन (एस०बी०ई०), जि० 45, पृ० 119, 129।
11. जैकोबी, जैन सूत्रज, भाग-2 (एस०बी०ई०जि०), 45, भूमिका।
12. आचारांग (एस०बी०ई०), जि० 22, पृ० 194।
13. जैकोबी, कल्पसूत्र, भूमिका (एस०बी०ई०), पृ० 8 तथा इण्डियन एण्टीक्वेरी-12, पृ० 21।
14. ठाणं, 4/136-137, पृ० 317।
15. दीर्घ निकाय, सांमज्जफलसुत्त (पाली टैक्स्ट सोसायटी), पृ० 57।
16. जैकोबी के मत में महावीर और पार्श्व के बीच दो सौ पचास वर्ष के अन्तराय में श्रमण संघ के आचार में अवश्य ही शिथिलता आ गई होगी। इसलिए महावीर ने ब्रह्मचर्य का निर्धारण कर दिया होगा। द्र० जैन सूत्रज, भाग-2, पृ० 123 पाद टिप्पणी 3।
17. उत्तराध्ययन, एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 119 से 129।
    किन्तु के०सी० ललवाणी का मत है कि महावीर ने ब्रह्मचर्य नहीं, अपितु पूर्ण अपरिग्रह निर्धारित किया था। सांसारिक उपकरणों से पूर्ण विरक्ति तभी संभव है जब वस्त्र त्यागे जाएं। द्र० भगवती सूत्र, जि० 2, पृ० 352।
18. प्रथम तीर्थंकर के श्रमण ऋजु-जड़, अन्तिम के वक्र जड़ और मध्यवर्ती तीर्थंकर के श्रमण ऋजु प्रज्ञ होते हैं। प्रथम तीर्थंकर के श्रमणों के लिए मुनि आचार को यथावत ग्रहण करना कठिन है। चरम तीर्थंकर के श्रमणों के लिए आचार का पालन कठिन है। मध्यवर्ती तीर्थंकरों के मुनि उसे यथावत ग्रहण करते हैं तथा सरलता से पालन भी करते हैं। इन्हीं कारणों से धर्म के यह भेद उत्पन्न हुए। उत्तराध्ययन, 23/25, 26, 27 द्र० उत्तरज्झयणाणि (सानुवाद), पृ० 301।
19. पार्श्वापत्यीय सवस्त्र इसलिए थे कि बाह्य उपकरण से भी लोगों को ज्ञात हो कि वह साधु हैं। इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की गई। संयम जीवन यात्रा को निभाना और मैं साधु हूं ऐसा ध्यान आते रहना वेश धारण के प्रयोजन थे किन्तु महावीर के साधु निर्वस्त्र इसलिए थे कि मोक्ष का निश्चित साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही रहे। विभूषा आध्यात्म पथ की बाधा न बन जाये। उत्तराध्ययन (साध्वी चन्दना), 23/29-33: उत्तरज्झणाणि (सानु), पृ० 301, आमुख।
20. दशवैकालिक और उत्तराध्ययन वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी सम्पादक मुनि नथमल

पृ० 171।

21. आचारांगसूत्र एस०बी०ई०जि० 22, पृ० 194।
22. भगवती सूत्र (के०सी० ललवाणी), पुस्तक-5, अध्याय-9, पृ० 228-30।
23. वही, पुस्तक-1, अध्याय-9, पृ० 131-135: कालास्य वैशिकपुत्र चातुर्याम के साथ प्रतिक्रमण को भी स्वीकार कर पंचयाम अनुयायी बना। वह अनेकानेक वर्ष संघ में रहा। श्रमण के रूप में वह नग्न रहा, मुण्डित रहा, उसने केशलोंच किया, स्नान, दन्तधावन, जूता और छाता का परित्याग कर पूर्ण अपरिग्रही बना। सभी परिषहों में सम्यकत्व का पालन कर कैवल्य को प्राप्त हुआ।
24. भगवती, 9/32: द्र० उत्तरज्झयणाणि सानुवाद, पृ० 299।
25. सूत्रकृतांग, 2/7 (एस०बी०ई०), जि० 45, पृ० 420-35।
26. के०सी० ललवाणी के अनुसार महावीर ने पांचवां याम पृथक रूप से निर्धारित नहीं किया था अपितु पार्श्व के चौथे याम सर्ववहिद्धादाण विरमण के ही दो भाग कर उत्तरवर्ती को पांचवां बना दिया। यह थे उपकरण परित्याग तथा ब्रह्मचर्य। महावीर को ब्रह्मचर्य को पांचवां व्रत इसलिए बनाना पड़ा क्योंकि उनके समय तक श्रमण बहुत धूर्त हो गये थे। द्र० भगवतीसूत्र, भाग-1, पृ० 268-69।
27. भगवान प्रारम्भ में सचेल थे। एक देवदूष्य धारण करते थे। तदनन्तर वह अचेल बने और जीवन भर अचेल रहे। किन्तु उन्होंने सचेल और अचेल किसी एक को एकांगी मान्यता नहीं दी। दोनों के अस्तित्व को स्वीकार कर उन्होंने संघ का विस्तार किया। आयारो, पृ० 319 तथा 343।
28. मूलाचार, 7/36-38, द्र० उत्तरज्झयणाणि सानु० कलकत्ता, पृ० 302।
29. महावीर द्वारा प्रवर्तित पंच महाव्रत धर्म भी मूलरूप में ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित था। श्रमणधर्म पांच व्रतों पर ऋषभ के समय से आधारित था। बाईस तीर्थंकरों के समय यह चातुर्याम बन कर रहा तथा महावीर ने पुन: पंचयाम बनाया क्योंकि उनके समय श्रमण बहुत पाखण्डी व धूर्त बन गए थे। अत: महावीर को हर नियम को कसना पड़ा तो नियम पुन: पांच हो गये। बीच के बाईस तीर्थंकरों के समय श्रमण ऋजुप्राज्ञ थे अत: चार नियम ही पर्याप्त थे। द्र० भगवतीसूत्र (के०सी० ललवाणी), पृ० 351।
30. इण्डियन एण्टीक्वेरी जि० 9, 1880, पृ० 162, जैकोबी का जैनसूत्रों का परिचय: एस०बी०ई०जि० 45, पृ० 14-15: जि० 22, पृ० 34-40।
31. द्र० एस०बी० देव, हिस्ट्री आफ जैन मोनेकिज्म, पृ० 62।
32. कल्पसूत्र : (एस०बी०ई०), जि० 22, पृ० 274।
33. जैन तीर्थयात्री तंगीय का बिहार से समीकरण करते हैं। द्र० जगदीश चन्द्र जैन, लाइफ इन एन्शेन्ट इण्डिया - एज डिपिक्टेड इन दी अर्ली जैन कैनन्स, पृ० 345।
34. द्र० भगवतीसूत्र के०सी० ललवाणी, जि० 1, पृ० 188-198।
35. साध्वी कनक श्री, महावीर की संघ व्यवस्था का प्रारूप और विकास तुलसी प्रज्ञा, अप्रैल जून 1974, पृ० 52।
36. चउविहे सधे पणते, ताम जाहा समणा, समणिओ, सावग, सवियाओ।
37. जी०एस०पी:मिश्र, सम रिफलैक्शन्स आन अर्ली जैन एण्ड बुद्धिस्ट मोनैकिज्म , जिज्ञासा, अंक-1, जुलाई-अक्टूबर 1974, पृ० 7।
38. एस०गोपालन : आउटलाइन्स आफ जैनिज्म, पृ० 33, पाद टिप्पणी 7: श्रमणसंघ में गृहत्यागी पंच महाव्रतों को स्वीकार करता था। श्रावक संघ गृहत्याग नहीं करता था। यह

पंचमहाव्रतों की अपेक्षा पंचअणुव्रतों का पालन करता था। यह उसके व्यक्तिगत जीवन तथा समाज दोनों में सन्तुलन रखते थे। प्रसंगवश बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे उपदेश अवश्य हैं जो गृहस्थ शिष्यों के लिए ही हैं। अनेक धार्मिक नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षाएं विशेषरूप से गृहस्थों को समर्पित हैं। महावग्ग नालन्दा संस्करण पृ० 309-10, जहां कि बुद्ध विशाखा की उदारता की प्रशंसा करते हैं।

39. कल्पसूत्र (एस०बी०ई०), जि० 22, पृ० 201।
40. महावग्ग नालन्दा संस्करण पृ० 319 : चुल्लवग्ग नालन्दा संस्करण पृ० 259। अपने एक लेख दी नोशन आफ बुद्धिस्ट संघ जिज्ञासा, जि० 1, नं० 1-2 जनवरी - अप्रैल 1974: में डा० एस०एन० दुबे का कथन है कि—संघ और चतुदिस संघ में अन्तर यथार्थ और आदर्श का नहीं है अपितु स्थानीय और सार्वभौमिक अर्थात् बौद्ध संघ का है। जो अपनी सम्पूर्णता में तीसरी शताब्दी ईस्वी में सुदूर अंचलों तक विस्तार पा चुका था। उन्होंने विविध आर्थिक परिवर्तनों की ओर इंगित किया है जो कि दूसरी बौद्ध संगीति के समय दृष्टिगोचर हो रहे थे उदाहरण के लिए वज्जि भिक्षुगण द्वारा रजत और स्वर्ण मुद्राओं को स्वीकार करना। इन परिवर्तनों का संघ जीवन और सामान्य चिन्तना पर लक्षित प्रभाव बताया गया है तथा उपरोक्त पृ० 34 पर थेरवाद कथावस्तु की गणना भी इसके अंतर्गत की है। जिसमें संघ को मात्र व्यक्तियों की परिषद् बताया है तथा जिसके अनुसार संघ का आदर्शात्मक रूप मान्य नहीं है। डा० जी०एस०पी० मिश्र अपने लेख सम रिफलेक्शन्स आन अर्ली जैन एण्ड बुद्धिस्ट मोनैकिज्म जिज्ञासा नं० 3-4, जि० 9, जुलाई-अक्टूबर 1974 पृ० 7-8 पाद टिप्पण 7 में डा० दुबे के विचारों की विसंगति इन बिन्दुओं से दर्शाते हैं —
    (1) विचारणीय विषय संघ और चातुद्दिससंघ में अन्तर का नहीं अपितु सम्मुखों संघ और चातुद्दिस संघ के बीच विभेद का है।
    (2) जो सार्वभौमिक है वह अमूर्त और आदर्शात्मक का विरोधी नहीं हो जाता।
    (3) लेखक की यह मान्यता कि चातुद्दिस संज्ञा तीसरी शताब्दी तथा द्वितीय बौद्ध परिषद के पश्चात् प्रयुक्त होने लगी उचित नहीं है।
    (4) कम से कम अपने आरम्भिक रूप में तो शब्द ''अनागत'' अपने संयुक्त रूप में संघ की आदर्शात्मक स्थिति की ओर इंगित करता है न कि व्यक्तियों की परिषद् मात्र की ओर।
41. महावग्ग, नालन्दा संस्करण, पृ० 109।
42. कल्पसूत्र (एस०बी०ई०), जि० 22, पृ० 267-68, सूत्र 134-140।
43. साध्वी कनकश्री, ''महावीर की संघ व्यवस्था का प्रारूप और विकास'', तुलसी प्रज्ञा, अप्रैल-जून 1974, पृ० 54।
44. डब्ल्यू. श्रुबिंग, डाक्ट्रिन आफ दी जैनज, 1962, पृ० 253। आचारांग एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 113।
45. जगदीश चन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० 218।
46. देखे—नन्दकिशोर प्रसाद, स्टडीज इन बुद्धिस्ट एण्ड जैन मोनैकिज्म, पृ० 207।
47. अभिधान चिन्तामणि नाममाला, 1/78।
48. अत्थवाइए आयरिओं—ओधनिर्युक्ति ख अर्थप्रदा आचार्या—ओघनिर्युक्ति वृत्ति
49. वैदिक परम्परा में भी अध्ययन अध्यापन की दृष्टि से आचार्य पद की प्रतिष्ठा थी व कार्य विभाजन भी जैन परम्परा से साम्य रखता था।

50. ठाणं, (लाडनूं), 4/22, 23 पृ० 409, 516।
51. मुनि नथमल, जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ० 36।
52. दयानन्द भार्गव, जैन इथिक्स, पृ० 175।
53. ठाणं लाडनूं संस्करण, 4/542-43, पृ० 451।
54. दशवैकालिक 9/16 दशवैकालिक और उत्तराध्ययन: सम्पा० अनु० मुनि नथमल पृ० 53: हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 145।
55. आवश्यक व्यवहार तथा आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 1209।
56. सुतं वाइए उवज्झाओ ख सूत्र प्रदा उपाध्यायाः।
57. आचारांग (एस०बी०ई०), जि० 22, पृ० 113 तथा 146।
58. वृहद्गौतम स्मृति, 14/59-60।
59. अनुयोग कृदाचार्य : उपाध्यायास्तु पा क: अभिधान चिन्तामणि नाममाला, 1/78।
60. भगवती चूर्णि, पृ० 232 अ, द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 144। उल्लेखनीय है कि प्रारम्भिक जैनागमों जैसे कि आचारांग तथा सूत्रकृतांग में उपाध्याय की अर्हताओं तथा कर्तव्यों के विषय में सूचनाएं प्राप्त नहीं होतीं।
61. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 145।
62. डा० नथमल टाटिया, निदेशक जैन विश्व भारती, लाडनूं ने व्यक्तिगत साक्षात्कार में लेखिका को बताया कि यह आचार्योपाध्याय पद एक नहीं अपितु दो व्यक्तियों आचार्य तथा उपाध्याय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो पद में समान किन्तु कार्यों में भिन्न है।
63. डाक्ट्रिन आफ दी जैनज, पृ० 255।
64. ठाणं सं० (मुनि नथमल), लाडनूं 5/166 पृ० 592 तथा 737-38।
65. ठाणं सं० (मुनि नथमल), लाडनूं 5/67, पृ० 593, 7/7-8 में आचार्योपाध्याय के संग्रह व असंग्रह स्थान पद की चर्चा है। पृ० 718-19।
66. व्यवहारभाष्य: द्र० साध्वी कनकश्री, "महावीर की संघ व्यवस्था का प्रारूप और विकास": तुलसी प्रज्ञा, जनवरी मार्च 1976, पृ० 58-59: वृहत्कल्प, 4/15: द्र० नन्दकिशोर प्रसाद, स्टडीज इन बुद्धिस्ट एण्ड जैन मोनैकिज्म, पृ० 211।
67. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 145।
68. कल्पसूत्र वृत्ति, पृ० 108, द्र० तुलसी प्रज्ञा, जनवरी-मार्च, 76, पृ० 59।
69. ठाणं (लाडनूं), 3/187, पृ० 188।
70. वही, पृ० 1012।
71. कुल, गण और संघ की व्याख्या लौकिक और लोकोत्तर दो दृष्टियों से की जा सकती है। कुल,गण और संघ शासन की इकाइयां रही हैं। जो व्यक्ति इनमें विघटन का विग्रह करता है वह स्थविर है। यह लौकिक व्यवस्था है। लोकोत्तर व्यवस्था के अनुसार एक आचार्य के शिष्यों को कुल, तीन आचार्यों के शिष्यों को गण तथा अनेक आचार्यों के शिष्यों को संघ कहा जाता है—स्थानांगवृत्ति, पत्र 489।
72. ठाणं, 10/136 टिप्पण 57 पृ० 1012।
73. व्यवहार 10/15: व्यवहार भाष्यगाथा 46-49: व्यवहार भाष्य वृत्तिपत्र 101 के अनुसार—जाति स्थविर को काल और प्रकृति के अनुकूल आहार, आवश्यकतानुसार उपधि और वसति देनी चाहिए। उनका संस्तारक मृदु हो तथा स्थान परिवर्तन के समय शिष्य उठाये तथा यथास्थान पानी पिलाये। श्रुत स्थविर को कृतिकर्म और वनन्दक देना चाहिए तथा उनके अभिप्राय के अनुसार चलना चाहिए। उनके आगमन पर उठना, बैठने के लिए

आसन देना, तथा पाद प्रमार्जन करना चाहिए।
पर्यायस्थविर चाहे फिर वह गुरु, प्रव्राजक या वाचनाचार्य न भी हो, फिर भी उनके आने पर उठना चाहिए तथा उन्हें वन्दना करके उनके दण्ड लाठी को ग्रहण करना चाहिए।—दशवैकालिक, 9/1-4 दशवैकालिक उत्तराध्ययन, लाडनूं संस्करण, पृ० 51।

74. द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 146।
75. जैन दर्शन: मनन और मीमांसा, पृ० 33।
76. ठाणं सं० मुनि नथमल, लाडनूं 8/15 पृ० 795। अधिक विस्तार के लिए देखें टिप्पण 16 पृ० 827-30 जहां प्रत्येक सम्पदा की अन्य चार कोटियां दी गयी हैं। इसके अतिरिक्त गणि के 6 गुण गिनाये गये हैं—(1) श्रद्धाशील, (2) सत्यवादी, (3) मेधावी पुरुष, (4) बहुश्रुत पुरुष, (5) शक्तिशाली पुरुष एवं (6) कलह रहित पुरुष—स्थानांग, 6/1: ठाणं पृ० 655 तथा 685-86।
77. जिनशिष्य विशेष: द्र० हिस्ट्री आफ जैन मौनैकिज्म, पृ० 148
78. भगवान के पांचवें गणधर सुधर्मा स्वामी को उत्तरवर्ती साहित्य या पाश्चात्य संकलित आगमों में कहीं भी गणधर नहीं कहा गया है। उनके लिए अज्जसुहम्मे का ही प्रयोग हुआ है। उत्तरवर्ती साहित्य में जहां आचार्य के अर्थ में गणधर शब्द का प्रयोग हुआ है, वह विशेषण रूप में ही हुआ है।
79. मुनि नथमल, जैन परम्परा का विकास, द्र० साध्वी कनकश्री, तुलसी प्रज्ञा, मार्च 76, पृ० 61।
80. दी एज आफ विनय, पृ० 20।
81. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 148। किन्तु टीकाकार की उक्त मान्यता का स्रोत क्या रहा है, यह अवश्य चिन्तनीय है क्योंकि श्रमणी संघ के संचालन का भार प्रवर्तिनी पर होता था। यह छेदसूत्रों, उनके व्याख्या ग्रन्थों तथा उत्तरवर्ती साहित्य के आधार पर निर्विवाद सिद्ध है। सम्भवत: विशाल साध्वी संघ की व्यवस्था, पथ दर्शन और आर्त गवेषणा का वृहत्तम दायित्व गणधर पर ही था। लेकिन साध्वियों की व्यवस्था के लिए किसी वरिष्ठ श्रमण का मनोनयन होता था ऐसा उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।
82. श्रुबिंग, डाक्ट्रिन आफ दी जैनज, पृ० 254।
83. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 1209 की अवचूर्णि 72।
84. व्यवहार भाष्य, 3/14, 19।
85. वही, 3/14: द्र० स्टडीज इन बुद्धिस्ट एण्ड जैन मोनैकिज्म, पृ० 211।
86. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 1209 की अवचूर्णि 7।
87. स्थानांग वृत्ति, पृ० 232 तथा 245 अ। गणवच्छेदक संघ को सहारा देने के लिए, उसे सुदृढ़ बनाने के लिए, संयम यात्रा के लिए श्रमणों के छोटे छोटे समूह लेकर विहार करते हैं। तुलसी प्रज्ञा, जून 78, पृ० 62।
88. व्यवहार भाष्य, 3/14, 19।
89. वही, 3/14,20 : स्टडीज इन बुद्धिस्ट एण्ड जैन मोनैकिज्म, पृ० 211।
90. साध्वी कनकश्री, तुलसी प्रज्ञा, जनवरी-मार्च, 76, पृ० 62।
91. जी०एस०पी० मिश्र, सम रिफलेक्शन्स आफ अर्ली जैन एण्ड बुद्धिस्ट मोनैकिज्म, जिज्ञासा, अंक 3-4 जुलाई-अक्टूबर 1974, पृ० 10।
92. चुल्लवग्ग, नालंदासंस्करण पृ० 271-74।
93. जी०एस०पी०मिश्र, पूर्वोक्त।

94. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 149।
95. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 143-49 तथा डाक्ट्रिन आफ दी जैनज, पृ० 253-56: जिज्ञासा अंक 3-4, जुलाई-अक्टूबर, 1974, पृ० 10।
96. साध्वी कनकश्री, पूर्वोक्त, तुलसी प्रज्ञा, जनवरी-मार्च 1976, पृ० 37: व्यवहारभाष्य, 3/11/12: 4/11।
97. इस चिन्तन में संशोधन की अपेक्षा है क्योंकि अंग साहित्य एवं उत्तरवर्ती जैन ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह व्यवस्थाएं महावीर कृत तो हैं ही नहीं, महावीर कालीन भी नहीं है। उनका सूत्रपात व विकास क्रमशः हुआ तथा आचार्य भद्रबाहु के समय तक इनकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उक्त पदों की जानकारी निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्कन्ध तथा उनके भाष्यों की चूर्णियों में मिलती है। कालक्रम से इन पदाधिकारियों के दायित्व में संकोच, विस्तार और संक्रमण भी होता रहा है।
98. देखें, हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 151।
99. भगवती टीका पृ० 382: द्र० वही, पृ० 151 : स्थानांगवृत्ति, पत्र 489: ठाणं लाडनूं संस्करण, पृ० 1012।
100. उत्तराध्ययन टीका, उद्धृत, हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 151 : द्र० जिज्ञासा नं० 3-4, जुलाई-अक्टूबर 1974, पृ० 8।
101. उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 79 पाद टिप्पण 2, जैकोबी की व्याख्या।
102. द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 150।
103. द्र० जिज्ञासा नं० 3-4 जुलाई-अक्टूबर, 1974, पृ० 5।
104. द्र० डाक्ट्रिन आफ दी जैनज, पृ० 252: स्थानांग वृत्ति, पत्र 489: द्र० ठाणं लाडनूं संस्करण, पृ० 1012।
105. उत्तराध्ययन एस०बी०ई०, जि० 45, पृ० 79।
106. स्थानांग 7/1: ठाणं लाडनूं संस्करण, पृ० 713।
107. दशाश्रुतस्कन्ध, 2: द्र० उत्तरज्झयणाणि सटिप्पण
108. वृहदवृति, पत्र 435-36।
स्वेच्छ्दाप्रवृत्तया गाणंगणिएत्ति गणादगणं सा मासाम्यान्तर एवं संक्रामतीति गाणंगणिक हत्यागमिकी परिभाषा।
तुल० जैकोबी की टिप्पणी : उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 79: श्री स्थानांगसूत्र श्री अखिल भारत एस०एस० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, 1965 जि० 2, पृ० 99-100।
109. श्रुबिंग, दी डाक्ट्रिन आफ दी जैनज, पृ० 252।
110. द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 151 : उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 167।
111. जैकोबी सम्भोग को एकामण्डलयाम आहारकारानां कहते हैं। द्र० जैन सूत्रज भाग-2, पृ० 167 पाद टिप्पण-1।
112. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 152।
113. वही।
114. गुरु की मुष्टि जैसी कोई बात बुद्ध के धर्म में नहीं थी क्योंकि बुद्ध धर्म पौरोहित्य का विरोधी था। बुद्ध के मस्तिष्क में यह विचार कभी नहीं उपजा कि वह भिक्षु संघ का नेतृत्व करें या भिक्षु संघ उनके नेतृत्व में रहे। बुद्ध का अपने शिष्यों को यही परामर्श था कि

''अप्तदीपो भवो, आत्माना गवेसेय्याथ, यो धम्मं पस्सति, सो मां पस्सति।'' भिक्षु प्रतिमोक्ष के नियमों से भी अनुशासित हो सकते थे प्रातिमोक्खसंवरसंवुतो। बुद्ध एक व्यक्ति के प्रतिनिष्ठा की व्यर्थता तथा व्यक्ति पूजा से होने वाली हानि अपने प्रज्ञा चक्षु से देखते थे—अंगुत्तरनिकाय पाली टैक्सट सोसायटी, पृ० 103: द्र० दी एज आफ विनय, पृ० 108-9।

115. वही, पृ० 108-110।
116. जिज्ञासा नं० 3-4, जुलाई अक्टूबर 1974, पृ० 17।
117. द्र० तुलसी प्रज्ञा, जनवरी-मार्च 1976, पृ० 63।
118. वही।
119. वही।
120. व्यवहार भाष्य गाथा, 328, 331।
121. वही, द्र० तुलसी प्रज्ञा, जनवरी-मार्च 1976, पृ० 62।
122. व्यवहार सूत्र, 26-32।
123. व्यवहार भाष्य गाथा 164 की चूर्णि।
124. व्यवहार भाष्य, 4/11।
125. ठाणं लाडनूं संस्करण 10/15, पृ० 904, अधिक विस्तार के लिए द्र० पृ० 952-959। इसी प्रकार प्रव्रज्या कितने प्रकार की होती है, विस्तृत विवरण के लिए द्र० ठाणं 3/180-83 तथा 4/571 सें 577 पृ० 187-88 तथा पृ० 459-461।
126. मूल जैन धर्म जातिवाद का विरोधी था। हरिकेशिन जो कि परिहार निम्न जाति का था उसे संघ में प्रवेश दिया गया तथा अन्यों के लिए भी संघ प्रवेश के द्वार खोल दिये थे। द्र० उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 50: चित्र और सम्भूत दो चाण्डालों का संघ प्रवेश भी ऐसा ही दृष्टान्त है।—उत्तराध्ययन, वही, पृ० 56-57।
127. उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, अध्ययन 8। कौशाम्बी के ब्राह्मण कपिल का उदाहरण जो स्वयं सम्बुद्ध बन गया और पांच हजार ब्राह्मणों को प्रव्रजित किया।
128. ठाणं लाडनूं संस्करण 3/474-75, पृ० 247।
129. बालक का प्रव्रज्या देने में अनेक कठिनाइयां थीं। लोग बालक को श्रमणों के साथ देखकर उपहास करने लगते कि यह बालक उनके ब्रह्मचर्य का फल मालूम होता है। बालक के कारण विहार में अन्तराय होता है, रात्रि में वह भोजन भांगता है। श्रमणों की निन्दा जनसामान्य बालक का चारगपाल (जेलर) कहकर करते हैं, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 384।
130. द्र० वही तथा दयानन्द भार्गव, जैन इथिक्स, पृ० 148।
131. देव, हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 139-40, पादटिप्पण 3।
132. जैन इथिक्स, पृ० 149।
133. धर्मसंग्रह-3, 73-78 पृ० 1 श्री जैन सिद्धान्त--बालसंग्रह से उद्धृत खण्ड, 1 पृ० 158।
134. हिन्दू संन्यासियों के लिए लिखी गई पुस्तक ''नारदपरिव्राजकोपनिषद'' में लगभग यही पात्रताएं संन्यास के लिए रखी गयी हैं। यद्यपि इसमें कुछ साम्प्रदायिक सन्दर्भ भी हैं जो जैन श्रमण के लिए अप्रासंगिक हैं। द्र० माइनर उपनिषद्स, मद्रास 19/12 खण्ड-1, पृ० 136-37।
135. प्रवचन सारोद्धार : गाथा 890-91, पृ० 228 क।
136. दीर्घ निकाय, 1-5।

137. एक उपदेश वार्ता के क्रम में बुद्धदेव अजातशत्रु से पूछते हैं कि क्या ऐसे भूतपूर्व दास को जो संघ का सदस्य बन गया है, अपना दास मानेंगे और उसे पुन: दासकर्म करने के लिए बाध्य करेंगे। राजा का उत्तर नकारात्मक है। यही कारण है कि बुद्ध ने सामाजिक असन्तुलन से समाज और संघ को बचाने के लिए नियमों का निर्माण किया।
138. जैन संघ में प्रव्रज्या निषेध के नियमों के लिए द्र० स्थानांगसूत्र, जि०, पृ० 242-51: बौद्ध संघ के निषेध के लिए : महावग्ग नालन्दा संस्करण पृ० 76-82: द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 140 : दी एज आफ विनय, पृ० 116।
139. महावग्ग, पृ० 76: द्र० दी एज आफ विनय, पृ० 116।
140. वातिक का सामान्य अर्थ बात रोगी है किन्तु इसकी व्याख्या यौनविकृत व्यक्ति के अर्थ में की गयी है। द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 140।
141. दी एज आफ विनय, पृ० 116।
142. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 14।
143. स्वयं महावीर ने परिव्राजक नियम स्वीकार करने के लिए तथा प्रव्रज्या के लिए अपने भाई से अनुज्ञा प्राप्त की थी। कल्पसूत्र एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 256 तथा राजीमती ने भी प्रव्रज्या करने के लिए माता-पिता से अनुज्ञा प्राप्त की थी। उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45 अध्याय 22—आज भी जैन संघ में प्रव्रज्यार्थी को अपने सांसारिक अभिभावकों से अनापत्ति घोषणा पत्र लाना होता है। परिवार वालों से आज्ञापत्र पूर्व में लिया जाता है जिसमें मुख्यजन लिखित में घोषणा करते हैं कि वह सहर्षसंघ को इस या उस व्यक्ति को समर्पित कर रहे हैं। यह घोषणापत्र हस्ताक्षरयुक्त होता है ताकि संघ ने बच्चा, पति, पत्नी आदि चुरा लिया, अपहरण कर लिया है जैसा विरोध न हो सके।
144. आचारांग एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 199।
145. द्र० जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 387।
146. एहि भिक्खु, स्वाक्खातो धम्मो, चर ब्रह्मचरियं सम्मा दुक्खस्स अन्तकिरियाय। जटिलों और राजगृह में संजय बेलट्ठिपुत्र के शिष्यों ने भी इसी प्रकार प्रव्रज्या प्राप्त की थी।—महावग्ग नालंदा संस्करण, पृ० 15-16, 25, 33, 41।
147. वही, पृ० 14: द्र० बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 140।
148. प्रतीत होता है कि अल्पवय एवं अपरिपक्व भिक्षुओं के संघ में प्रवेश के कारण प्रव्रज्या और उपसम्पदा का भेद स्थापित हुआ। जब भिक्षुओं की संख्या बढ़ी तब वह तथागत के प्रत्यक्ष संपर्क में भी कम आ पाते थे अत: उपसम्पदा के नियम में परिवर्तन हो गया।
149. दी एज आफ विनय, पृ० 113-15।
150. जी०एस०पी० मिश्र, "सम रिफलैक्शन्स आफ अर्ली जैन एण्ड बुद्धिस्ट मोनैकिज्म" जिज्ञासा नं० 3-4, जुलाई अक्टूबर 1975, पृ० 11।
151. बौद्ध पालि विनय में, सामान्य दृष्टान्त में परिवीक्षा के विषय में कोई विशेष काल निर्धारित नहीं है। महावग्ग: नालन्दा संस्करण, पृ० 73 में अवश्य ही ऐसा उल्लेख है कि यदि भिन्न मत का व्यक्ति संघ में प्रवेश की अनुज्ञा चाहे तो उसे चार माह की परिवीक्षा पर रखा जाता था। यहां चार माह का काल अनुमानित इसलिए कहा गया है क्योंकि जैन संघ में यह इतना ही है।—जिज्ञासा, नं० 3-4, जुलाई-अक्टूबर 1974, पृ० 12।
152. श्री स्थानांगसूत्र, खण्ड-2, पृ० 23।
153. जगदीशचन्द्र जैन, पूर्वोक्त, पृ० 132, पादटिप्पण-1।
154. जिज्ञासा नं० 3-4, जुलाई अक्टूबर 1974, पृ० 12।

155. श्री स्थानांगसूत्र, पृ० 129: द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 143।
156. वही, पृ० 240: द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 143: सूत्रकृतांग एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 277, 4/2/13 में श्रमणो शब्द प्रयुक्त हुआ है। जबकि स्थानांगसूत्र में अन्तेवासी शब्द मिलता है। ठाणं, 4/424-25, पृ० 516-17।
157. अन्तेवासी उस शिष्य को कहते थे जिसे गुरु की निकटता प्राप्त हो जाये, जो गुरु के विचार एवं आज्ञा से दूर नहीं जाता। अत: श्रुतज्ञान प्राप्ति के इच्छुक को द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से गुरु के निकट रहना चाहिए। व्यवस्था के लिए देखें—आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुत स्कन्ध श्री आत्मारामजी महाराज पृ० 11।
158. आयारो, पृ० 171-72 सूत्र 40।
159. ठाणं लाडनूं संस्करण, 3/476 पृ० 247।
160. जैनों में इसे उवत्थावण कहा जाता है। यह एक प्रकार से पुष्टिकरण है। द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 143।
161. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 140: दी एज आफ विनय, पृ० 117।
162. सांख्यायनगृहसूत्र एस०बी०ई० जि० 24, पृ० 65: आश्वलायन गृहसूत्र एस०बी०ई० जि० 24, पृ० 190 तथा हिरण्यकेशीगृहसूत्र एस०बी०ई० जि० 30, पृ० 152: तुलनीय, महावग्ग नालन्दा संस्करण, पृ० 43।
163. उत्तराध्ययन, 11/32, आमुख : उत्तरज्झयणाणि सानुवाद, पृ० 132।
164. सूयं में भविस्सह त्ति अज्झइयत्वं भवइ।
एगग्गचित्तोभविस्सामि त्ति अज्झाइयत्वं भवइ।
अप्पाणं भवइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।
ठिओ पर भवइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वयं भवइ।
—दशवैकालिक लाडनूं संस्करण, 9/4/1, पृ० 59-60।
165. उत्तरज्झयणाणि सानुवाद, 11/4-5 पृ० 132।
166. अह पंचदि ठाणेहि, जेहि सिक्खा न लब्भई।
थम्मा कोहा परमाएणं, रोगेणा लस्साएण य।। उत्तराध्ययन 11/3 वही।
167. व्याधिस्यान संशयमभदालस्याविरतिम्रन्ति दर्शना लब्धभूमिक्त्वान वस्थित्वानी चित विक्षेपास्तेन्तराया: - पातंजल योगदर्शन, 1/30।
168. उत्तरज्झयणाणि सानुवाद, पृ० 208।
169. आचारांगसूत्र (एस०बी०ई०) जि० 22, पृ० 199।
170. उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, 16/10, पृ० 75।
171. वही, 16/1-13, पृ० 75-77 तथा दशवैकालिक सं० मुनि नथमल, लाडनूं, अध्ययन - 9, उद्देशक 1-4, पृ० 51-60। उत्तरज्झयणाणि 1/26 तथा 2/16-17, 8/18-19, पृ० 11, 29, 102।
172. जैन तथा बौद्धमत में विनय अनुशासन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
173. उत्तरज्झयणाणि सानुवाद, पृ० 7 सूत्र 2, 3, 8-10।
174. वही, पृ० 9 सू० 12-13, पृ० 1० सू० 36, पृ० 13 सू० 41।
175. वही, पृ० 14 सू० 46।
176. वही, पृ० 10, 20 तथा 21। आचारांगसूत्र जैनागम प्रकाशन समिति, लुधियाना 1963 प्रथम अध्याय पृ० 11 - श्रुत ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु चरण सेवा ही पर्याप्त नहीं समझी गयी है। परन्तु उनके निकट रहना भी उतना ही आवश्यक है। गुरु के निकट रहना

दो अर्थों में प्रयुक्त होता है - 1. सदा गुरु के समीप या समक्ष रहना जिससे समय पर गुरु की सेवा कर सके तथा उन्हें आवश्यक कार्यवश आवाज देकर इधर उधर से नहीं बुलाना पड़े तथा 2. उनकी आज्ञा में विचरण करना। क्षेत्र से परिस्थितिवश दूर रह कर भी सदा उनका अनुगमन करना।

177. उत्तरज्झयणाणि सानु० 1/18, 2०, 3० तथा 17/13 पृ० 215।
178. वही, पृ० 12, 14 पृ० 215-18।
179. वही, पृ० 217।
180. उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 79 सू० 17।
181. वही, पृ० 1, 2 सू० 3,4,7।
182. ठाणं सं० मुनि नथमल, लाडनूं, 4/258 : उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 143-44 अध्ययन 26।
183. उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 354, सू० 257।
184. वही, सू० 256।
185. सुश्रुत संहिता, 2/9/10: तुलनीय स्थानांगसूत्र, 10/20-21।
विशेष विस्तार के लिए द्र० ठाणं लाडनू संस्करण, पृ० 964-70।
186. उत्तरज्झयणाणि सानु०, पृ० 11 सू० 13।
187. वही: ठाणं लाडनूं 5/49, पृ० 559।
188. तीन वाचना देने अर्थात् अध्यापन के अयोग्य हैं - 1. अविनीत, 2. विकृति में प्रतिबद्ध रसलोलुप एवं 3. अव्यवशमित प्राभृत अर्थात् कलह को उपशान्त न रहने करने वाला ठाणं, 3/76-77।
189. इच्छा आदि का समाचरण वर्णित होने के कारण इसे सामाचरी कहा गया है।
190. ओघ सामाचारी का अन्तर्भाव धर्मकथनानुयोग में होता है और पद विभाग का करणानुयोग में। उत्तराध्ययन धर्मकथनानुयोग के अन्तर्गत है।
191. (i) आवश्यकी और नैषेधिकी से निष्प्रयोजन गमनागमन करने पर नियन्त्रण रखने की आदत पनपती है, (ii) मिच्छाचारी से पापों के प्रति सजगता के भाव पनपते हैं, (iii) आपृच्छा और प्रतिपृच्छा से श्रमशीलता तथा दूसरों के लिए उपयोगी बनने के भाव जगते हैं, (iv) छन्दना से अतिथि सत्कार की प्रवृत्ति बढ़ती है, (v) इच्छाकार से दूसरे के अनुग्रह को सहर्ष स्वीकार करने तथा अपने अनुग्रह में परिवर्तन करने की कला आती है। परम्परानुग्रह संघीय जीवन का अनिवार्य तत्व है, और (vi) उपसम्पदा से परस्परग्रहण की अभिलाषा उत्पन्न होती है।
192. उत्तरज्झयणाणि सटि०, पृ० 178।
193. वही, पृ० 179।
194. उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 142
195. उत्तरज्झयणाणि सटिप्पण, पृ० 350।
196. वही, पृ० 180।
197. ठाणं लाडनूं संस्करण, 3/353, पृ० 221 : उपसम्पदा तीन प्रकार की होती है - 1. आचार्यत्व की, 2. उपाध्यायत्व की एवं 3. गणीत्व की। पृ० 275 टिप्पण 63।
198. उत्तरज्झयणाणि सटिप्पण, पृ० 180।
199. विशेषावश्यक भाष्य, रतलाम, 7।
200. दयानन्द भार्गव, जैन इथिक्स, पृ० 150।

201. बृहत्कल्पभाष्य जि० 5, 5290 द्र० जैन इथिक्स, पृ० 150।
202. व्यवहार में पटल और चोलपट्ट का उपयोग जननेन्द्रिय को ढकने के लिए किया जाता था। द्र० *कामता प्रसाद जैन, जैन एण्टीक्वेरी, जि० 9, नं० 11।*
203. शिथिल साधुओं में सारूपिक, सिद्धपुत्र, असोवेग्न, पार्श्वस्थ आदि उल्लेखनीय हैं।
204. वस्त्रों के साथ चौदह उपकरण रखने वाले श्वेताम्बर कहलाते थे। हरिभद्रसूरि ने इन्हें क्लीवकायर कहा है। द्र० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, जैन धर्म, पृ० 65।
205. *व्यवहार भाष्य, 8/250 आदि : द्र० जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 392।*
206. *बृहत्कल्पभाष्य 3/4263, द्र० वही।*
207. पहला वस्त्र विहार में पहनने के लिए, दूसरा तथा तीसरा वस्त्र विहार से बाहर जाते समय पहने तथा चौथा सभा में पहने। - उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 157।
208. वस्त्र न धोए, न रंगे और न धोए रंगे वस्त्रों को धारण करे। यह यथापरिग्रहीत वस्त्र की व्यवस्था है। यह निषेध विभूषा की दृष्टि से किया गया है। निसीहज्झयणं 16/154: द्र० आयारो, पृ० 313-14।
209. आचारांग (एस०बी०ई०), जि० 22, पृ० 158 तथा आयारो, पृ० 313-14 भिक्षु के लिए तीन शाटक उत्तरीय, प्रावरण या पछेवड़ी रखने का विधान है। उसमें दो सूती और एक ऊनी होना चाहिए। सर्दी के अनुपात में इन्हें ओढ़ने की परम्परा रही है।
210. वस्त्र निरीक्षण का कारण यह है कि उसमें स्वर्ण या आभूषण छुपा रह सकता है जो श्रमण के मन में विकार उत्पन्न कर सकता है। जीव, बीज या अण्डा रह सकता है, जिससे हिंसा का भय रहता है - जैकोबी एस०बी०ई०, जि० 22, पृ० 161।
211. आचारांग एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 161 (15)।
212. अवम गणना और प्रमाण दो दृष्टियों से विवक्षित है। गणना की दृष्टि से तीन वस्त्र रखने वाला अवमचेलिक होता है। प्रमाण की दृष्टि से दो रत्नी मुट्ठी बंधा हुआ हाथ और घुटने से कटि तक चौड़ा वस्त्र रखने वाला अवम चेलिक होता है - द्र० आयारो, पृ० 313-14।
213. हेमन्त ऋतु के बीत जाने पर वस्त्रों को धारण करने की विधि इस प्रकार है - ग्रीष्म ऋतु आने पर तीनों वस्त्रों को विसर्जित कर दें। सर्दी के अनुपात में दो फिर एक वस्त्र रखे। सर्दी का अत्यन्त अभाव हो जाने पर अचेल हो जाये। यह सर्दी की दृष्टि से वस्त्र विसर्जन की विधि है।
214. यदि वह वस्त्र जीर्ण हो गये हों - आगामी हेमन्त ऋतु में काम आने योग्य नहीं हो तो उन तीनों वस्त्रों को विसर्जित कर दे और शेष को धारण करें। किन्तु उन्हें काम में नहीं ले। यदि एक वस्त्र अधिक जीर्ण है तो उसे विसर्जित कर दें, अन्य को धारण करे। तीनों अतिजीर्ण हों तो तीनों को विसर्जित कर दें।
215. दयानन्द भार्गव, जैन इथिक्स, पृ० 171।
216. हरिदत्तशर्मा, कन्ट्रीब्यूशन टू दी हिस्ट्री आफ ब्राह्मैनिकल एसेटिसिज्म, पूना 1939, पृ० 41।
217. आचारसार, 8/14-15: अनागार धर्मामृत, 5/2-38 : द्र० जैन इथिक्स, पृ० 171 तथा उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 131 पाद टिप्पण 7।
218. दोषयुक्त भोजन की चार श्रेणियां बतायी गयी हैं -
1. एषणा उद्गमदोष, 2. गवैषणा उत्पादन दोष, 3. ग्रहणेषणा, 4. परिभोगैषणा। इस प्रकार कुल मिलाकर भोजन सम्बन्धी छियालीस दोष हैं जिनका परिमार्जन आवश्यक है। जैकोबी, जैनसूत्रज, भाग-2, पृ० 131।

219. दशवैकालिक, 3/2, पृ० 6।
220. उत्तराध्ययन, एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 133।
221. दशवैकालिक लाडनूं संस्करण, पृ० 22। दशवैकालिक के अनुसार यह भोजन मिश्रजात है अर्थात् गृहस्थ तथा साधु दोनों के लिए सम्मिलित रूप से बनाया हुआ।
222. वही, पृ० 23 - नसैनी पर चढने से गृहस्थ के गिरने की सम्भावना रहती है। उसके हाथ, पैर टूट सकते हें। उसके गिरने से नीचे दब कर जीवों की विराधना हो सकती है।
223. वही, पृ० 22 - दशवैकालिक के अनुसार प्राभित्य का अर्थ है निर्ग्रन्थ को देने के लिए कोई वस्तु दूसरों से उधार लेना।
224. मालाहृत के तीन प्रकार हैं—1. ऊर्ध्वमालापहृत: ऊपर से उतारा हुआ, 2. अधोमालापहृत: भूमिगृह तलघर से लाया हुआ, एवं 3. तिर्यग मालापहृत: गहरे बर्तन या कोठे आदि में से झुककर निकाला हुआ। दशवैकालिक लाडनूं संस्करण, पृ० 23।
225. उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 132-33।
226. जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म का अवलम्बन लेकर भिक्षा प्राप्त करना। दशवैकालिक, पृ० 6।
227. उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 133।
228. दशवैकालिक लाडनूं संस्करण, पृ० 20-21।
229. आयारो, पृ० 17-18: 5/79-80।
230. वही, पृ० 218 सूत्र 83।
231. उल्लेखनीय है कि जैन मुनियों के विनय और बौद्ध भिक्षुओं के विनय में एक अन्तर है। जैन मुनियों के लिए तैयार किये गये आहार मात्र का ग्रहण निषिद्ध है। जैन मुनि का कथन है - परप्पवित्तस्य अर्थात् दूसरों के लिए निष्पन्न आहार में से भिक्षाटन के लिए आया हूं। जबकि बौद्धभिक्षु अपने लिए निष्पन्न आहार में से भी भिक्षा ग्रहण कर सकता है। यदि आहार मांस, मछली युक्त हो तो वह उसके लिए निष्पन्न नहीं होना चाहिए। ऐंसा न होने से वह आहार परिशुद्ध नहीं रहता। बौद्धभिक्षु के लिए परिशुद्ध आहार की ही अनुज्ञा है।— द्र० तुलसी प्रज्ञा, अप्रेल जून, 1975, पृ० 120।
232. वृहत्कल्पभाष्य, खण्ड 1, पृ० 532-40।
233. दशवैकालिक सं० मुनि नथमल, लाडनूं, 1/2-3, पृ० 3।
234. बौधायन-2, 10,18,13 तुलनीय, आचारांग सूत्र-2, 1: द्र० जैकोबी, जैन सूत्रज भाग-1, पृ० 29।
235. किन्तु आधुनिक शोध से अनुकरण का यह सिद्धान्त निरस्त हो गया है तथा इस विषय की स्थापना हो चुकी है कि स्वयं ब्राह्मण धर्म में संन्यास आश्रम श्रमण परम्परा के अनुकरण पर मान्य हुआ। जिस श्रमण परम्परा से कालान्तर में बौद्ध और जैन मतों ने आकार प्राप्त किया था: जैकोबी के इस विश्वास में कि निवृत्ति का आदर्श ब्राह्मणों के धर्म में पहले उदित हुआ और चतुर्थ आश्रम के रूप में व्यक्त हुआ, पीछे बौद्धों और जैनों ने अनुसरण किया। इस अभ्युपगम के समर्थन में पर्याप्त युक्ति बल नहीं दीखता क्योंकि चातुराश्रम्य के सिद्धान्त की ब्राह्मण धर्म में प्रतिष्ठा सर्वप्रथम धर्मसूत्रों में हुई। उसके पहले नहीं और अधिक सम्भावना इस बात की है कि परिव्रज्या का भी ग्रहण ब्राह्मणों ने श्रमणों से किया, न कि श्रमणों ने ब्राह्मणों से — बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 25 तथा आगे।
236. आचारांग, एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 136।
237. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 157।

238. आचारांग, एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 137।
239. द्र० बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 151।
240. आचारांग, एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 136।
कल्पसूत्र, एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 296।
241. बौधायन-2, 6,11,20: द्र० जैकोबी का इन्ट्रोडक्शन एस०बी०ई० जि० 22।
242. वही, पृ० 136-137।
243. आचारांग एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 138-39।
244. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 156।
245. ऐसी अवस्था में जैन साधु को आदेश है कि वह मार्गशीष के पूर माह में उसी स्थान पर वास करे जहां उसने वर्षाकाल व्यतीत किया है।
246. गौतम एस०बी०ई० जि० 2, 3, 13: बौधायन एस०बी०ई० जि० 2, 6, 11, 20: महावग्ग, 3,11 तथा आचारांग एस०बी०ई० जि० 2, 3, 1-4 पृ० 136: कल्पसूत्र एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 296।
247. द्र० स्टडीज इन बुद्धिस्ट एण्ड जैन मोनैकिज्म, पृ० 169।
248. आचारांग एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 137।
249. महावग्ग, 31/1: द्र० स्टडीज इन बुद्धिस्ट एण्ड जैन मोनैकिज्म, पृ० 169।
250. कल्पसूत्र एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 296।
251. द्र० बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 152।
252. आयारो, लाडनूं संस्करण, पृ० 218, सूत्र 82।
253. आचारांग एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 11, अध्याय 1-3।
254. द्र० जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 394।
255. वही, तु० मज्झिमनिकाय-11 राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी अनुवाद लटिकोपमसुत्त, पृ० 132।
256. जैकोबी के अनुसार म्लेच्छ से अभिप्राय वरवर, सरवर तथा पुलिन्द्र से है। अनार्य वह है जो 361/2 प्रदेश में नहीं रहते हैं। जैनसूत्रज, भाग-1, पृ० 137-138।
257. आचारांग एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 137-38।
258. वही
259. वही
260. वही, पृ० 139: बृहत्कल्पभाष्य, 4/5629-33 के अनुसार श्रमण विद्वेषी साधुओं को नौकारूढ़ होने के उपरान्त उन्हें कष्ट पहुंचाने के लिए अपनी नाव को नदी के प्रवाह या समुद्र में डाल देता था। कभी कोई नाविक साधुओं अथवा उनकी उपधि पर जल के छींटे डालता था साधु को जल में फेंक देता तब मगर जैसे जलचर जीवों तथा चोरों से साधुओं को उपसर्ग का भय हो सकता था। द्र० जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 396।
261. आचारांग, एस०बी०ई० जि० 22, 14:43।
262. वही, पृ० 145।
263. वही, पृ० 146-47।
264. पं० दलसुख मालवणिया, निशीथ एक अध्ययन, पृ० 65-66।
265. व्यवहारभाष्य, 5/72 के अनुसार प्रवर्तिनी यद्यपि अध्यक्षा थी किन्तु फिर भी उस पर कुछ प्रतिबन्ध थे। उदाहरण के लिए वह अकेली विहार नहीं कर सकती थी। वर्ष के ग्रीष्म और शीत के आठ माह उसे दो अन्य श्रमणियों के साथ व्यतीत करने होते थे तथा वर्षाकाल

तीन के साथ। द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 469।

266. वही, पृ० 467: तुलनीय, चुल्लवग्ग, 114 बौद्ध संघ में सौ वर्ष के पर्याय वाली भिक्षुणी को भी श्रमणों तक को झुककर अभिवादन करने का विधान है।
267. व्यवहार भाष्य, 5/4-5: द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 471।
268. व्यवहार भाष्य, 5/11-12।
269. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 473।
270. वृहत्कल्प, 1/51 - यह आर्य देश माना जाता था। उससे बाहर अनार्य देश था। पं० दलसुख मालवणिया, निशीथ एक अध्ययन, पृ० 82।
271. उत्तरज्झयणाणि सानुवाद, अध्याय 1, पृ० 11।
272. भिक्षुणी पवित्र जीवन व्यतीत कर सके इसके लिए बौद्ध संघ भी सजग था। भिक्षुणी के लिए वन में आवास निषिद्ध था। द्र० चुल्लवग्ग भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ० 399।
273. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 504। बौद्ध भिक्षुणी के लिए भी लगभग यही नियम थे। तु० दी एज आफ विनय, पृ० 132: बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 161।
274. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 477।
275. वही, पृ० 477।
276. द्र० इण्डियन एण्टीक्वेरी, जि० 39, पृ० 266 पद टिप्पण 42।
277. राजीमती ने दीक्षा लेकर स्वयं के भौंरे जैसे काले केशों का हाथों से लुंचन किया। उत्तराध्ययन सूत्र साध्वी श्री चन्दना 22/30, पृ० 229।
278. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 487।
279. व्यवहारभाष्य, 7/8-9।
280. द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 488-89।
281. वृहत्कथाकोष, भूमिका, पृ० 21।
282. गच्छाचार, 123: हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 489।
283. वृहत्कल्प, 4/9-1०।
284. वृहत्कल्पभाष्य, जि० 5, 5253।
285. वही, जि० 1/122-25 पीठिका।
286. वही, जि० 6, 6267।
287. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 463।
288. वृहत्कल्पभाष्य जि० 4, 4133।
289. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 463। उल्लेखनीय है कि उत्तराध्ययन में भी ऐसा ही प्रसंग है कि देव के मन्दिरों में दो घरों के बीच की संधियों में और राजमार्ग में अकेला मुनि अकेली स्त्री के साथ न खड़ा रहे न संलाप करे — उत्तरज्झयणाणि सानुवाद अध्ययन 1/26, पृ० 11।
290. मूलाचार, यथा गौरूपविषति, 4/195 तुलनीय स्त्रियों के लिए प्रज्ञप्त 6, शिक्षापद पाचित्तीय संख्या 63-68: द्र० बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 150।
291. मूलाचार, 4/195।
292. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 494।
293. वही।
294. कल्पसूत्र एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 303।
295. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, सम्पादित ए०एन० उपाध्ये 111, 7।

296. वही, 10-14।
297. वही, पृ० 8-9।
298. मूलाचार, 4, पृ० 80-81: द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 499।
299. मूलाचार 4/183-84।
300. वही, 4/195: तुलनीय, बौद्ध ग्रन्थ पाचित्तिय संख्या 63-68: द्र० बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 152।
301. ठाणं (लाडनूं संस्करण), पृ० 980: निशीथभाष्यकार ने तीर्थंकार की तुलना धन्वन्तरी से, प्रायश्चित प्राप्त साधु की रोगी से, अपराधों की रोगों से और प्रायश्चित की औषध से तुलना की है। निशीथभाष्यगाथा, 6507।
302. द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 152।
303. ठाणं, 10/72 की टिप्पण 25, पृ० 980।
304. वही पृ० 916 तथा 8/19, पृ० 797।
305. वही, 8/18, पृ० 796 तथा 10/72, पृ० 917।
306. द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 152।
307. ठाणं, 10/70, पृ० 916।
308. वही, 10/73, 8/20, पृ० 797 तथा 917—प्रस्तुत सूत्र में स्खलना हो जाने पर मुनि के लिए प्रायश्चित बताये गये हैं। अपराध की लघुता और गुरुता के आधार पर इनका प्रतिपादन हुआ है। लघुता और गुरुता का निर्णय द्रव्य, क्षेत्र और काल इन भावों के आधार पर किया गया है।
309. नन्दकिशोर प्रसाद, स्टडीज इन बुद्धिस्ट एण्ड जैन मोनैकिज्म, पृ० 230-31।
310. भिक्षु जिनानन्द, चार बौद्ध परिषदें, पी०वी० बापट सम्पादित बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष आजकल, वार्षिक अंक सितम्बर 1956 पृ० 29-30। आनन्द के अतिरिक्त इसी प्रसंग में चन्न पर अभियोग तथा ब्रह्मदण्ड की सजा महत्वपूर्ण है।
311. तुलनीय, द्वितीय संगीति में करकण्डुकपुत्र यश पर वज्जि के भिक्षुओं ने समस्त संघ के समक्ष अभियोग लगाया था। उसे पाटिसारणीयकम्म तथा उप्पेखणीय कम्म नामक दण्ड दिया गया जिसका अर्थ संघ निष्कासन था। द्र० वही, पृ० 30।
312. ठाणं, 3/473, पृ० 247।
313. वही, 3/472, पृ० 247।
314. वही, 5/47, पृ० 558।
315. स्थानांगवृत्ति, पत्र 286।
316. ठाणं, 3/471, पृ० 246।
317. द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 104।
318. ठाणं, 4/133, पृ० 326।
319. तत्वार्तिक में परिहार नामक प्रायश्चित का उल्लेख है जिसका उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में नहीं है। इसका अर्थ है—पक्ष, मास आदि काल मर्यादा के अनुसार प्रायश्चित प्राप्त मुनि को संघ से बाहर रखना। पक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः—तत्वार्थवार्तिक, 9/22।
320. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 154।
321. द्र० जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ० 64।
322. ठाणं, 7/40-41-42, पृ० 751।

323. वही, पृ० 773।
324. वही, पृ० 781।
325. द्र० जैन धर्म का उद्‌गम और विकास, पृ० 30-31।
326. द्र० जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ० 65।
327. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, पत्र 405, 406: द्र० ठाणं, पृ० 775।
328. सिन्क्लेयर स्टीवेन्सन, द हार्ट आफ जैनिज्म, पृ० 73। मुनि नथमल के अनुसार यह निन्हव आचार्य आषाढ़ के शिष्यों द्वारा हुआ।
329. रोहगुप्त षड्‌लूक के नाम से भी जाने जाते थे। यह त्रैराशिक मत के प्रवर्तक थे। कल्पसूत्र एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 290 के अनुसार यह तेरासिय आर्य महागिरि के शिष्य थे। समवायांग की टीका के अनुसार वे गोशाल प्रतिपादित मत को मानते थे।
330. जैन धर्म का उद्‌गम और विकास, पृ० 31।
331. दर्शनसार, गाथा 11।
332. भारतीय इतिहास पत्रिका, जि० 15, भाग-3, 4 पृ० 202।
333. द्र० डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, जैन धर्म, पृ० 66।
334. देवसेन, भावसंग्रह, गाथा 53-70।
335. देवसेन सूरि की कथा में दुर्भिक्ष के समय वलभी नगरी में गए हुए साधुओं का दुर्भिक्ष के कारण पात्र, कम्बल आदि ग्रहण करना बतलाया गया है। किन्तु हरिषेणकृत कथा में पहले अर्धफालक सम्प्रदाय की उत्पत्ति बताई गयी है। अर्थात् शिथिलाचारी साधु बायें हाथ पर वस्त्र खण्ड लटका कर आगे कर लेते थे, जिससे नग्नता का आवरण हो जाता था। पीछे वलभी नगरी में उन्होंने पूरा शरीर ढकना शुरू कर दिया और कम्बल आदि रखने लगे। देवसेन की कथा के उक्त अंश तथा हरिषेण की कथा का अर्धफालक वाला अंश बुद्धिग्राह्य है तथा मथुरा से प्राप्त पुरातत्व से भी इसका समर्थन होता है।
336. जायसवाल तथा बनर्जी, एपिग्राफिका इण्डिका, जि० 20, पृ० 80।
337. जर्नल आफ विहार ओरिएन्टल सोसायटी, जि० 4, पृ० 338, 390 तथा जि० 13 पृ० 233। इस अभिलेख के वाचन में अन्तर है किन्तु निरूपण में नहीं है।
338. हेनरिरवजिमर, दी फिलासफीज आफ इण्डिया, उद्धृत, ज्योति प्रसाद जैन, रिलीजन एण्ड कल्चर आफ जैनज, पृ० 168।
339. वही, पृ० 169।
340. जैनी, जे०, आउट लाइन्स आफ जैनिज्म, कैम्ब्रिज, 1916। द्र० जयप्रकाश सिंह, आस्पेक्ट्स आफ अर्ली जैनिज्म एज नोन फ्राम पृ० 26।
341. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 211-12।
342. उत्तरज्झयणाणि सटिप्पण, पृ० 145।
343. मुनि केशों को हाथों से नोच डाले, इसके हेतु हैं —
    (1) केश होने पर अप्तकाय जीवों की हिंसा होती है।
    (2) भीगने से जुएं उत्पन्न होती हैं।
    (3) खुजलाता हुआ मुनि उनका हनन कर देता है।
    (4) खुजलाने से सिर में नखक्षत हो जाते हैं।
    (5) यदि कोई मुनि क्षुर उस्तरे या कैंची से बालों को काटते हैं तो आज्ञा भंग का दोष होता है।
    (6) ऐसा करने से संयम और आत्मा दोनों की विराधना होती है।

(7) जुएं मर जाती हैं।
(8) नाई अपने क्षुर या कैंची को संचित जल से धोता है इसलिए पश्चात कर्मदोष होता है।
(9) जैन शासन की अवहेलना होती है। इस लोच विधि में आपवादिक विधि का भी उल्लेख है। सुबोधिका पत्र 190-91 में तथा दिगम्बर साहित्य में इसका कुछ अन्य हेतु भी बताये गये हैं —
(क) राग आदि का निराकरण करने हेतु,
(ख) अपने पौरुष को प्रकट करने हेतु,
(ग) सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण तथा
(घ) लिंग आदि का ज्ञापन करने के लिए लोंच करें
—मूलाचार टीका, द्र० उत्तरज्झयणाणि सटिप्पण, पृ० 145-46।

344. मूलाराधना, आश्वास 2/88-92: द्र० उत्तरज्झयणाणि सटिप्पण, पृ० 146।
345. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 11।
346. आयारो, लाडनूं संस्करण, पृ० 237, 241।
347. वही, पृ० 295।
348. सदासुख्यात धर्मवाला तथा धुताचारसेवी मुनि आदान वस्त्र का परित्याग कर देता है। जो मुनि निर्वस्त्र रहता है, उसके मन में यह विकल्प उत्पन्न नहीं होता कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, इसलिए मैं वस्त्र की याचना करूंगा। फटे वस्त्र को साधने के लिए धागे तथा सुई की याचना करूंगा, उसे साधूंगा, सीऊंगा, छोटा है इसलिए जोड़कर बड़ा बना दूंगा, बड़ा है तो छोटा बनाऊंगा, पहनूंगा, ओढ़ूंगा। द्र० वही, पृ० 237।
349. हार्ट आफ जैनिज्म, पृ० 296-97 में सिन्क्लेयर स्टीवेन्सन जैनों के सिद्धान्त की आलोचना करती हुई कहती हैं कि उनकी नियम मर्यादा अव्यावहारिक है तथा प्रकृति के नियम के विरुद्ध है। इस दृष्टि से तो व्यक्ति को जन्म ही नहीं लेना चाहिये कि कहीं मां न मर जाये। जन्म के बाद सांस भी नहीं लेनी चाहिए क्योंकि जितने क्षण सांस लेता है आयु वृद्धि करता है। उसे मरना भी नहीं चाहिए कि कहीं उसकी चिता में कोई जीव न जल जाये।
350. रिलीजन एण्ड कल्चर आफ जैनज, पृ० 168।
351. ग्लासेनैप, जैनिज्म, पृ० 339-40।
352. हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 12।

अध्याय 4

जैन नीतिशास्त्र का स्वरूप

नीतिशास्त्र का प्रमुख कार्य जीवन के साध्य का निर्धारण करना और उस संदर्भ में व्यक्ति के आचरण का मूल्यांकन करना है। आचार और विचार जीवन रथ के दो चक्र हैं। वे अन्योन्याश्रित हैं। दोनों के सम्यक् एवं सन्तुलित विकास द्वारा ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव होता है। इसे क्रिया और ज्ञान का सन्तुलित विकास कहा जा सकता है।

आचार और विचार की अन्योन्याश्रिता को दृष्टि में रखते हुए भारतीय चिन्तकों ने दर्शन और धर्म का साथ-साथ निरूपण किया है। ज्ञानहीन आचरण अन्धे व्यक्ति के समान है तथा आचरण रहित ज्ञान पंगु पुरुष के सदृश है।

बौद्ध परम्परा में हीनयान आचार प्रधान है तथा महायान विचार प्रधान। जैन परम्परा में भी आचार और विचार को समान महत्व दिया गया है। अहिंसा मूलक आचार एवं अनेकान्त मूलक विचार का प्रतिपादन जैन चिन्तन धारा की विशेषता है।

जैनाचार का प्राण : अहिंसा

जैनाचार का प्राण अहिंसा है। मन, वचन तथा कर्म से पूर्ण अहिंसा आदर्श है। अहिंसा का जितना और जैसा सूक्ष्म विवेचन एवं आचरण निरूपण जैन परम्परा के अन्तर्गत होता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं होता है। अहिंसा का मूलाधार आत्मसाम्य है। वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों से लेकर मानव तक के प्रति अहिंसक आचरण की भावना जैन परम्परा की विशेषता है। अहिंसा मूलक सदाचार का यह विकास *जैन संस्कृति की अमूल्य निधि है। अहिंसा को ही केन्द्र बिन्दु मानकर अमृषावाद*, अस्तेय, अमैथुन एवं अपरिग्रह के सिद्धान्तों का विकास हुआ।

पांच महाव्रत

सर्वविरति अर्थात् सर्वत्याग रूप महाव्रत पांच हैं जिनका विधान श्रमण, भिक्षु, निर्ग्रन्थ, मुनि, अनगार, संयत, विरत आदि यह सब एकार्थक हैं के लिए किया गया है।[1]

(1) सर्वप्राणातिपात विरमण—अर्थात् सम्पूर्ण हिंसा का पूर्णत: त्याग।
(2) सर्वमृषावाद विरमण—अर्थात् सब प्रकार के झूठ का पूर्ण त्याग।
(3) सर्वअदतादान विरमण—अर्थात् सब प्रकार की चोरी का पूर्ण त्याग।
(4) सर्वपरिग्रह विरमण—अर्थात् सब प्रकार के संग्रह अथवा आसक्ति का पूर्णत: त्याग। इस प्रकार के त्याग में मन, वचन, काम और रूप तीनों का अन्तर्भाव है, अतएव इस प्रकार के त्याग को नवकोटि-प्रत्याख्यान भी कहते हैं।
(5) सर्वमैथुन विरमण—अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन।

सर्वप्राणातिपात विरमण

सर्वप्राणातिपात विरमण अर्थात् अहिंसा जैनाचार का मूल है।[2] भगवान पार्श्वनाथ ने इसे परम धर्म और परम ब्रह्म दोनों बताया है। अहिंसा ही मानव का सच्चा धर्म है। अहिंसा ही सुख शान्ति देने वाली है और इसी के द्वारा संसार का त्राण और समाज का कल्याण संभव है। पार्श्वनाथ की अहिंसा वीरों का बाना है, इसके बिना मानव की मानवता असंभव है। उनके विचार से मानव और दानव में केवल अहिंसा का ही अन्तर है। दानवता से त्राण पाने का केवल एक उपाय है जीओ और जीने दो। अहिंसा बाह्य कम आन्तरिक अधिक होती है। हमारा चिन्तन ही हमारे व्यवहार के रूप का निर्धारण करता है। इसके लिए हमें यह मानना होगा कि जीव मात्र चाहे वह वनस्पति हो या जन्तु सभी प्राण धारण करते हैं तथा दु:ख-सुख की अनुभूति करते हैं। शंका की जाती है कि जल में जन्तु हैं, स्थल में जन्तु हैं और आकाश में भी जन्तु हैं। इस प्रकार समस्त लोक जन्तुओं से भरा है तो मुनि क्यों कर अहिंसक हो सकता है ? इसका उत्तर इस प्रकार है कि जीव दो प्रकार के हैं, सूक्ष्म और वादर या स्थूल। जो जीव सूक्ष्म अर्थात् अदृश्य होते हैं वह न तो किसी से रुकते हैं और न रोकते हैं, उन्हें तो कोई पीड़ा दी ही नहीं जा सकती। जहां तक स्थूल जीवों का प्रश्न है, उनमें जिनकी रक्षा की जा सकती है उनकी की जाती है। अत: जिसने अपने को संयत कर लिया है, उसे हिंसा का पाप कैसे लग सकता है।[3]

स्पष्ट है कि जो व्यक्ति जीव को बचाने का भाव रखता है, वह अपना प्रत्येक कार्य ऐसी सावधानी से करता है कि उसके द्वारा किसी को कष्ट नहीं पहुंचे। अहिंसा

का धर्म मन का धर्म है और प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह अपने स्वार्थ के पीछे किसी जीव को सताने के भाव अपने चित्त में न आने दे।

अहिंसा को व्यवहार्य बनाने के लिए हिंसा के द्रव्य हिंसा और भावहिंसा दो भेद किये गये हैं। उसको गृहस्थ की अहिंसा और साधु की अहिंसा इन दो भागों में विभक्त किया गया है। इनकी सीमाएं निर्धारित करके इन्हें फिर अन्य अनेक भेदों में विभक्त किया गया है।

भगवान ने हिंसा अहिंसा के विस्तृत विवेचन द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि जब तक मन में मोह रहता है, तब तक हिंसा का साम्राज्य रहता है। अहिंसा न अव्यवहार्य है और न वह कायरता एवं निर्बलता की जननी ही है। अहिंसा के क्षेत्र में वैचारिक हिंसा के त्याग की बहुत आवश्यकता है। अल्पवचन प्रियकारी और हितकारी बोलने पर बहुत सी आपत्तियों से बचा जा सकता है। अहितकारिणी बातों के द्वारा अशुभ एवं अहितकर वातावरण तैयार होता है। जिसके विषय में यह वार्तालाप होता है, उसके प्रति अशुभ एवं स्थूल लहरियां भेजी जाती हैं तथा इनके द्वारा व्यक्ति स्वयं भी अपने चारों ओर अशुभ लहरियों के कम्पनों का जाल बुन लेता है। इसी कारण जैन धर्म में मौन रहने पर सर्वाधिक बल दिया गया है। व्यक्ति को दूसरे के विषय में निर्णय देने का अधिकार नहीं है न ही व्यवस्था में अनुचित हस्तक्षेप का। यही कारण है कि जैन मुनि मौन धारण करते हैं। मौन अहिंसा की पहली सीढ़ी है।

चरित्र के दो रूप हैं—एक है प्रवृतिमूलक और दूसरा है निवृतिमूलक। इन दोनों ही चरित्रों का प्राण है अहिंसा और उसके रक्षक हैं सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

जैन धर्म जब अहिंसा परमोधर्म: की ध्वजा लेकर बढ़ता है तब वह अहिंसा की सैद्धान्तिक व्याख्या को ही पर्याप्त नहीं मानता है, वह इसके व्यावहारिक प्रयोग में उसके वास्तविक महत्व का दर्शन करता है।

अहिंसा वस्तु: साधन भी है और साध्य भी। मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक हो जाना जीवन की चरम उपलब्धि है। जो केवल व्यक्तिसाध्य है, लोक साध्य नहीं हो सकता है। अहिंसापूर्ण आचरण के द्वारा जीवन शुद्ध बनाता है और विचारों में पवित्रता आती है। जीवन शुद्धि, आचार और विचार, आहार और विहार सभी क्षेत्रों में अहिंसा के व्यवहार द्वारा ही सम्भव हो सकती है। जैन धर्म की मान्यता है कि व्यक्ति का जैसा आहार होगा, उसके विचार और व्यवहार भी उसी प्रकार के होंगे। यदि आहार हिंसा द्वारा निष्पन्न हुआ है तो विचार भी हिंसक होंगे तथा व्यवहार भी निर्दयतापूर्ण होगा।

अहिंसा दो प्रकार की होती है—एक कषाय से अर्थात् जानबूझ कर और दूसरी अयत्नाचार या असावधानी से होने वाली। जब मनुष्य क्रोध, मान, माया या लोभ

के वशीभूत होकर दूसरे मनुष्य पर वार करता है तब वह हिंसा कषाय कही जाती है और जब मनुष्य की असावधानी से किसी का घात हो जाता है या किसी को कष्ट पहुंचता है तो वह हिंसा अयत्नाचार से कही जाती है।

अहिंसा का भेद बहुत ही सूक्ष्म है। इनका विवेचन जिस प्रकार किया जाता है, उसमें हमें मानसिक पक्ष की प्रधानता दिखाई देती है। अतएव वैचारिक अहिंसा ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है, यथा—जीव चाहे जीये चाहे मरे, असावधानी से काम करने वाले को हिंसा का पाप अवश्य लगता है।

वस्तुत: अहिंसा को काया और सामान्य व्यवहार एवं आचार की सीमा में बद्ध नहीं किया जा सकता है। यदि इसे विचार का भी आधार न बनाया जाये तो अहिंसा की उपयोगिता बहुत ही सीमित रह जाती है। इस ओर जैन परम्परा की दृष्टि गई है और उसने आचार के क्षेत्र के साथ विचार के क्षेत्र में भी गरिमा को ठोस भूमिका एवं निश्चित रूप प्रदान किया है। जैन परम्परा ने वैचारिक हिंसा की सम्भावनाओं को समाप्त करने का पूरा प्रयत्न किया है। जैन अहिंसा भय पर आधारित नहीं है अपितु इस मानवीय एवं बौद्धिक भावना पर आधारित है कि सभी जीव एक हैं और जो व्यक्ति जानवरों को खाते हैं, वे उन जानवरों से श्रेष्ठ नहीं है जो दूसरे जानवरों को खाते हैं।

आचरणगत अहिंसा हमारे मन में अन्य प्राणियों की रक्षा भावना को तो प्रोत्साहन प्रदान कर सकती है, परन्तु वह हमारे मन में मैत्री का भाव नहीं जगाती है। अहिंसा वस्तुत: मैत्री का धर्म है, विश्व बन्धुत्व की जननी है जो जागतिक प्रेम और सभी प्राणियों के प्रति करुणा से उत्पन्न होती है।

सामान्यत: हिंसा चार प्रकार की होती है—संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी। निरपराध जीव का जानबूझ कर वध करना संकल्पी हिंसा कहलाता है, जैसे कसाई द्वारा पशुवध। जीवन निर्वाह के लिए व्यापार, खेती आदि करने से, कल कारखाने चलाने तथा सेना में नौकर होकर युद्ध करने आदि से जो हिंसा हो जाती है, उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं। सावधानी रखते हुए भी भोजन आदि बनाने में जो हिंसा हो जाती है, उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं और अपनी या दूसरों की रक्षा करने के लिए जो हिंसा करनी पड़ती है उसे विरोधी हिंसा कहते हैं। स्पष्ट है कि जैन धर्म ने समस्त प्रकार की हिंसा का निषेध किया है। मांस भक्षण किसी भी रूप में वैध नहीं माना जा सकता है। धर्म समझ कर पशुओं की जो बलि चढाई जाती है वह एक प्रकार की मूढ़ता एवं नृशंसता है तथा हिंसा की सीमा में आती है। इसी प्रकार जैन आचार्य मृगया को भी अनुचित मानते हैं। उनका कहना तो यहां तक है कि हिंसा और शूरता-वीरता का परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्राय: ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जब स्वभाव तथा अभ्यास से हिंसा करने वाले युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर कायरों की भांति प्राण बचाकर भागे हैं।

इस प्रकार सर्व प्राणातिपात विरमण के विवेचन का सारांश यह है कि सर्वविरत् भिक्षु को क्रोधादि कषायों का परित्याग कर, समभाव धारण कर विचार व विवेकपूर्ण संयम का पालन करना चाहिए। अहिंसा शब्द में निषेधात्मक प्रत्यय लगने पर भी यह दयाभाव के दर्शन का द्योतक है। जैन दर्शन क्योंकि चेतना के सातत्य में आस्था रखता है अत: उसके अनुसार किसी भी मनुष्य को किसी प्राणी की प्रगति में बाधा डालने का अधिकार नहीं है। पीड़ा पहुंचाने का अर्थ स्पष्ट रूप से बाधा डालना है अत: बाधक न बनना नैतिक माना गया है।[4]

यद्यपि अहिंसा व्रत के अन्तर्गत स्पष्ट एवं सर्वांगीण विकास निहित है तथापि इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस सिद्धान्त की भी आलोचना की गयी है। मोनियर विलियम्स ने लिखा है कि अहिंसा के पालन में जैन लोग अन्य सभी भारतीय सम्प्रदायों से आगे हैं और इसे असंगति की सीमा तक पहुंचा दिया है।[5] श्रीमती स्टीवेन्सन का मत है कि अहिंसा का नियम वैज्ञानिक दृष्टि से असम्भव है, क्योंकि यह प्रकृति के नियम के विरुद्ध है।[6] किन्तु इन विद्वानों का विदेशी होने के कारण जैन धर्म की पृष्ठभूमि से पूर्ण परिचय नहीं है। देवताओं को प्रसन्न करने के नाम पर यज्ञों में निरीह पशुओं के वध के प्रति जैनों का दृष्टिकोण प्रतिक्रियात्मक रहा है। अत: प्राणियों के जीवन को संरक्षित करने के लिए सहानुभूतिपूर्वक जैनों ने आवाज उठायी। उसका प्रभाव भारतीय नीतिशास्त्र पर पड़ा है।

सर्वमृषावाद विरमण अर्थात् सत्य

सत्य का तात्पर्य होता है वस्तुस्थिति को यथातथ्य प्रस्तुत करना। किन्तु जैन धर्म में सत्य का लक्ष्य इतना ही नहीं अपितु अहिंसा की रक्षा करना है। सिद्धान्त रूप में सत्यानुभूति के अनुरूप आचरण ही अहिंसा है। हम सब प्राणी एक ही परम शक्ति से उद्भूत हैं अत: भाई-भाई हैं। बन्धुत्व अनुसार व्यवहार ही वस्तुत: अहिंसा है। अहिंसा वह साधन है जो सत्यानुभूति के साध्य तक ले जाता है और अन्तत: पूर्ण अहिंसक बना देता है।

अहिंसा की रक्षा के लिए आवश्यक है कि प्राणी अप्रिय वचन नहीं बोले, क्योंकि कठोर एवं अप्रिय वाणी कष्ट का हेतु बनती है और हिंसाकारक होती है। इसलिए जैन धर्म में जो वचन दूसरों को कष्ट पहुंचाने का हेतु बनता है वह सत्य होने पर भी असत्य कहलाता है। वैदिक धर्म में भी प्रिय सत्य बोलने की विधि है, अप्रिय सत्य बोलने का निषेध है—

सत्यं ब्रू यात प्रियं ब्रूयात न ब्रूयात सत्यं प्रियम्।
प्रियं च ना नृतं ब्रूयात, एष धर्म सनातनम्।।

दूसरों के हित के लिए बोला हुआ असत्य वस्तुत: हितकारी बन जाता है तथा धोखे से भी किसी का अहित करने वाला सत्य पाप बन जाता है। परन्तु यदि झूठ बोलकर किसी ऐसे दुष्ट की प्राण रक्षा की जाये जिससे समाज पर संकट आने की संभावना है, तो व्यक्ति दोहरे पाप का भागी बनता है—एक तो असत्य भाषा एवं दूसरा समाज का कष्ट। तात्पर्य यह है कि सत्या-सत्य का भेद निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। यदि दृष्टि व्यापक हित पर रहती है, तो सत्यासत्य का विवेक सहज साध्य बन जाता है। लक्ष्य के व्यापकत्व पर धर्म कर्म का महत्व निर्भर करता है।

सत्य श्रमण क्रोध, लोभ, लालच, हंसी-मजाक असावधानी आदि किसी के भी वशीभूत होकर कभी भी झूठ नहीं बोलता है। जैन शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि ''नापि स्पृष्ट: सुदृष्टिय: स: सप्तमिमयैर्मनाक'' अर्थात् जैन धर्म में जिसकी सत्य श्रद्धा है, वह सात प्रकार के मदों से सर्वथा अछूता रहता है जो मदों से अछूता है वह असत्य से स्वयमेव अछूता रहेगा।

सत्यव्रत अथवा सर्वमृषा विरमण के लिए पांच भावनाएं बतायी गयी है[7]— (1) वाणी विवेक, (2) क्रोध त्याग, (3) लोभ त्याग, (4) भय त्याग एवं (5) हास्य त्याग।

सर्वअदत्तादान विरमण अथवा अस्तेय

जैन धर्म में अस्तेय का अर्थ है चोरी नहीं करना। आवश्यकता से अधिक वस्तु के संग्रह या उपयोग को चोरी माना जाता है।

जो मनुष्य चुराने के अभिप्राय से दूसरे की एक तृण मात्र वस्तु को भी ले लेता है, वह चोर है और जो इस प्रकार की चोरी को त्याग देता है, वह अचौर्यव्रती है। चोरी का सम्बन्ध भी मन से अधिक है और उसका उद्देश्य भी वस्तुत: अहिंसा की रक्षा करना है। जब किसी वस्तु के सम्बन्ध में यह सन्देह उत्पन्न हो जाये कि वह मेरी है या नहीं, तब उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। जो ऐसा करता है वह चोर है। जब तक यह सन्देह दूर नहीं हो जाये, तब तक उस वस्तु को नहीं अपनाना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता वह चोर है।

चोरी करने से उसको कष्ट पहुंचता है, जिसकी चोरी होती है अथवा जिसको आर्थिक हानि पहुंचाई जाती है। इस प्रकार चोरी भी हिंसा की सीमा में आ जाती है। तब चोरी न करना—अचौर्य या अस्तेय हिंसा से बचने अथवा अहिंसा का पालन करने का एक महत्वपूर्ण साधना है।

अचौर्य या अस्तेय नियम के निर्वाह के लिए निम्नलिखित कार्य कभी भी नहीं किये जाने चाहिए—

(1) किसी चोर को स्वयं या दूसरे के द्वारा चोरी करने की प्रेरणा देना, उसकी प्रशंसा करना तथा चाकू, कैंची, आदि चोरी के औजारों को बेचना या चोरों को अपनी ओर से देना। चोर से कहना कि यदि तुम्हारे पास खाने को नहीं है, तो मैं खिलाता हूं, तुम्हारे माल की बिक्री नहीं हो रही है तो लाओ मैं खरीदता हूं अथवा बिकवाता हूं आदि बातें कहना भी चोरी ही है।

उक्त प्रकार के व्यवहार द्वारा यद्यपि चोर का हित साधन होता है तथापि उसके द्वारा सामाजिक अहित होता है और समाज में पीड़ा का प्रसार होता है। बात वही है—बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय। यदि व्यक्ति के मन में सदैव समाज के हित की बात रहे, सभी स्थितियों में वह सदा मोह मुक्त रहे, अहिंसा को आदर्श माने, तभी चोरी के पाप से भी बचा जा सकता है।

(2) जो व्यक्ति चोरी का माल खरीदता है, वह कानून की नजर में भी चोर समझा जाता है अत: इस प्रकार का व्यापार चोरी से या छिपा कर किया जाता है।

(3) बांट, तराजू, गज, मीटर आदि की कीमत ज्यादा रखना। उससे दूसरों की हानि होती है और उन्हें कष्ट पहुंचता है। यह भी हिंसा है। कहा भी जाता है कि जो लेने और देने के बांट भिन्न रखता है वह चोर माना गया है।

(4) प्राय: व्यापारी लोग अधिक लाभांश कमाने के विचार से किसी वस्तु में उससे कम कीमत की वस्तु मिला देते हैं, यह भी हिंसा है क्योंकि इससे दूसरे की आर्थिक हानि भी होती है और जीवन से खिलवाड़ भी। जैन धर्म इन कार्यों को अनैतिक मान कर उनकी बारम्बार निन्दा करता है।

(5) युद्ध अथवा दुर्भिक्ष जैसे देवी प्रकोप के समय वस्तुओं का लोप हो जाना या मूल्य बढ़ाना, एक राज्य से दूसरे राज्य में चोरी छिपे निषिद्ध व्यवहार करना हिंसा है। क्योंकि इस व्यापार से सामान्य जन की हानि होती है, उन्हें कष्ट पहुंचता है तथा दु:ख की मात्रा में वृद्धि होती है।

यह तो हुई व्यापार एवं बाह्य व्यवहार को लक्ष्य करके बताई गई चोरियां। इसके अतिरिक्त मानसिक रूप से भी चोरी की जाती है जैसे कर्तव्य का निर्वाह न करके थोथे आश्वासन देते रहना आदि। सारांश यह है कि किसी भी प्रकार की चोरी करना हिंसा है। धन मनुष्य का प्राण है। अत: जो किसी का धन हरता है वह उसके प्राण हरता है। यही कारण है कि जैन बिना दिये एक तिनका उठाना भी चोरी समझते हैं। अस्तेय की रक्षा के लिए पांच भावनाएं बताई गयी हैं[8]

(1) *अवग्रहानुज्ञापना* : अवग्रह अर्थात् वस्तु लेते समय उसके स्वामी को अच्छी तरह जान कर आज्ञा मांगना।

(2) *अवग्रह सीमापरिज्ञानता* : अवग्रह के स्थान की सीमा का यथोचित ज्ञान करना।
(3) *अवग्रहानुग्रहणता* : स्वयं अवग्रह की याचना करना अर्थात् वसतिस्थ तृषा, पट्टक आदि अवग्रह स्वामी की आज्ञा लेकर ग्रहण करना।
(4) गुरुजनों तथा अन्य साधर्मिकों की आज्ञा लेकर ही सबके संयुक्त भोजन में से भोजन करना।
(5) उपाश्रय में पहले से रहे हुए साधर्मिकों की आज्ञा लेकर ही वहां रहना तथा अन्य प्रवृत्ति करना।

सर्वपरिग्रह विरमण अथवा अपरिग्रह

अपरिग्रह का शब्दार्थ होता है—दान का अस्वीकार। शरीर की मात्रा के लिए जितना आवश्यक हो उससे अधिक धन, अन्न आदि ग्रहण न करना। अपरिग्रही वह है जो परिग्रह न करे, अकिंचन बना रहे।

स्त्री, पुरुष, घर, धन-धान्य आदि वस्तुओं के प्रति ममत्व, ये मेरी है का भाव रखना परिग्रह है। जिन लोगों के पास विपुल सम्पत्ति है, वे अवश्य परिग्रही हैं, परन्तु जिनके पास कुछ भी नहीं है और फिर भी चित्त में बड़ी-बड़ी आकांक्षाएं लिये रहते हैं, वे अपरिग्रही नहीं हैं। वस्तुत: वे भी परिग्रही ही हैं, क्योंकि मन से अकिंचन नहीं है केवल अवसर की कमी है।

परिग्रह भी हिंसा का ही एक रूप है क्योंकि परिग्रह की वृत्ति आ जाने पर व्यक्ति को युक्त अयुक्त, न्याय-अन्याय का भेद नहीं रह जाता है। परिग्रही व्यक्ति धन का स्वामी न रह कर धन का दास बन जाता है।

जैसे भौतिक सम्पत्ति बाह्य परिग्रह है, वैसे ही काम, क्रोध, मद और मोह आदि भाव जिन्हें हम विकार कहते हैं अभ्यन्तर परिग्रह है। यह मनोविकार ही हमें औचित्यानौचित्य के विवेक से विमुख कर देते हैं। जैनाचार्यों का कहना है कि हमें अपनी आवश्यकताओं की एक सीमा निर्धारित कर लेनी चाहिए और उसके आगे अपने पास कुछ भी नहीं रखें।

जैनाचार्यों ने बार बार बलपूर्वक कहा है कि न्याय की कमाई से मनुष्य जीवन भर निर्वाह कर सकता है, किन्तु धन का भण्डार एकत्र नहीं कर सकता। अटूट सम्पत्ति तो पाप की कमाई से ही भरती है। नदियां जब भरती हैं तो वर्षा के गन्दे जल से ही भरती हैं।[9]

अपरिग्रह के निर्वाह हेतु जांच दोषों से विशेष रूप से बचने की बात कही गयी है, यथा—

(1) लाभ में आकर मनुष्य और पशुओं से अधिक काम लेना।
(2) धान्यादिक का संग्रह करना तथा आपत्काल में अत्यधिक मुनाफा कमाना।
(3) दूसरों के व्यापार में बाधक होना।
(4) पर्याप्त लाभ होने पर भी अधिक लाभ की इच्छा करना।
(5) धनादिक की मर्यादा का नित्य बढ़ाते जाना।

अपरिग्रह की पांच भावनाएं बताई गई हैं। यह हें—श्रोत्र, चक्षु, प्राण, रसना और त्वचा के विषय शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के गोचर होने पर रामभाव तथा अमनोज्ञ पर द्वेषभाव न लाकर उदासीन भाव रखना।

इसी प्रकार अपरिग्रह व्रत की दृढता और सुरक्षा के लिए पांच भावनाएं बताई गई हैं। यथा—

(1) सोच विचार कर वस्तु की याचना करना।
(2) आचार्य आदि की अनुमति से भोजन करना।
(3) परिमित पदार्थ स्वीकार करना।
(4) पुन: पुन: पदार्थों की मर्यादा करना, तथा
(5) साधर्मिक साथी श्रमण से परिमित वस्तुओं की याचना करना।

सर्वमैथुन विरमण अथवा ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य मुख्यत: कामवासना को संयत रखने पर बल देता है, क्योंकि भोग के द्वारा इसकी शान्ति नहीं वृद्धि होती है।[10] ब्रह्मचर्य का पालन न करना भी हिंसा का हेतु बनता है, क्योंकि इससे समाज में दुख प्रसार के साधन के हेतु बनते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन भी मन, वचन और कर्म से अपेक्षित है। ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत वस्तुत: शास्त्र अध्ययन, वीर्यरक्षण एवं ईश चिन्तन आते हैं। शास्त्रों के सम्यक् परिशीलन एवं ईश चिन्तन से कामभावना स्वत: बाधित होती है। ब्रह्मचर्य अपरिग्रह का ही अंश है।

ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए अनेक विधि निषेधों का विधान किया गया है। शारीरिक और आत्मिक बल को केन्द्रित करने का ब्रह्मचर्य अपूर्व साधन है। इसका निर्वाह करने के लिए सब प्रकार के ममत्व का उन्मूलन अनिवार्य है। कुन्दकुन्दाचार्य का कथन है कि जिनकी इन्द्रिय विषयों में आसक्ति है उनको स्वभाविक दुख समझना चाहिए, क्योंकि यदि उन्हें दुख स्वभावी नहीं है तो वे विषयों की प्राप्ति के लिए यत्न ही क्यों करते?

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उत्तराध्ययन[11] में दस स्थानों का वर्णन प्राप्त होता है

इसी को नामान्तर से स्थानांगसूत्र[12] तथा समवायांग[13] सूत्र में नौ गुप्तियों के रूप में वर्णित किया गया है। इस प्रकार है[14]—

(1) निर्ग्रन्थ, स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का प्रयोग न करे।
(2) केवल स्त्रियों के विषय में कथा न करे अर्थात् स्त्री कथा न करे।
(3) स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।[15]
(4) स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर न देखे और न अवधानपूर्वक उनका चिन्तन करे।
(5) स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, विलाप आदि शब्द न सुने।
(6) प्रणीत रसभोजी न हो।
(7) पूर्व, क्रीड़ाओं का अनुसरण न करें।
(8) मात्रा से अधिक न खाये न पीए।
(9) प्रणीत आहार न करे।
(10) शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध तथा लोक कीर्ति में आसक्त न हो।
(11) विभूषा न करे।
(12) सुख में प्रतिबद्ध न हो।

ब्रह्मचर्य की विराधना के दस कारण बताये गये हैं—

(1) स्त्री संसर्ग—स्त्रियों के साथ संसर्ग करना।
(2) प्रणीत रस भोजन—अत्यन्त गृद्धि से पांचों इन्द्रियों के विकारों को बढ़ाने वाला आहार करना।
(3) गन्धमाल्य संस्पर्श—सुगन्धित द्रव्यों तथा पुष्पों के द्वारा शरीर का संस्कार करना।
(4) शयनासन—शयन और आसन में गृद्धि रखना।
(5) भूषण—शरीर का मण्डन करना।
(6) गीत-वाद्य-नाट्य, गीत आदि की अभिलाषा करना।
(7) अर्थसम्प्रयोजन—स्वर्ण आदि का व्यवहरण।
(8) कुशील संसर्ग—कुशील व्यक्तियों का संसर्ग।
(9) राज सेवा—विषयों की पूर्ति के लिए राजा का गुण कीर्तन करना।
(10) रात्रि संचरण—बिना प्रयोजन रात्रि में इधर उधर जाना।

दिगम्बर विद्वान आशाधरजी[16] ने ब्रह्मचर्य के दस नियमों को निम्न रूप में

रखा है—

(1) मा रूपादि रखं पिपासा सुदृशाम्—ब्रह्मचारी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द के रसों को पान करने की इच्छा न करे।
(2) मा वस्तिमोक्षं कृथा—वह ऐसा कार्य नहीं करने की इच्छा न करे।
(3) वृष्यं मा भज—वह कामोद्दीपक आहार न करे।
(4) स्त्रीशयनादिकं च मां भज—स्त्री तथा शयन आसन आदि का प्रयोग न करे।
(5) वराड.गे दृशं भा दा—स्त्रियों के अंगों को न देखे।
(6) स्त्रीं मा सत्कुरु—स्त्रियों का सत्कार न करे।
(7) मा च संस्कुरु—शरीर संस्कार न करे।
(8) रतं वृतं मा स्मर—पूर्व सेवित का स्मरण न करे।
(9) वर्त्स्यन् मा इच्छ—भविष्य में क्रीड़ा करने की न सोचे।
(10) इष्ट विषयान् मा जुजस्व—इष्ट रूपादि विषयों से मन को युक्त न करे।

वेद अथवा उपनिषद में ऐसे शृंखलाबद्ध नियमों का उल्लेख नहीं मिलता। दक्षस्मृति के अनुसार—स्मरण, क्रीड़ा, देखना, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रिया यह आठ प्रकार के मैथुन हैं। इनसे विलग होकर ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए।[17]

सर्वमैथुन विरमण के लिए जैन धर्म में मन, वचन एवं कर्म से मैथुन करने तथा करवाने के अनुमोदन का निषेध है। मैथुन को अधर्म का मूल तथा महादोषों का स्थान कहा गया है।

श्रमण अथवा श्रमणी के संदर्भ में इस व्रत का अर्थ है सम्भोग से पूर्णत: विरत रहना। सम्भोग के कर्म के साथ-ही-साथ सम्भोग से सम्बन्धित विचार भी अवांछनीय तथा अनैतिक माने गये हैं। जैन श्रमण को आदेश है कि[18] वह मनोहर चित्रों से आकीर्ण, माल्य और धूप से सुवासित, किवाड़ सहित, श्वेत चन्दोबा से युक्त स्थान की मन से भी कामना नहीं करे क्योंकि काम राग को बढ़ाने वाले वैसे उपाश्रय में इन्द्रियों का निवारण करना भिक्षु के लिए दुष्कर होता है। इसलिए एकाकी भिक्षु श्मशान में, शून्य गृह में, वृक्ष के मूल में अथवा परकृत एकान्त स्थान में रहने की इच्छा न करे। परमसंयत भिक्षु प्रासुक, अनाबाध और स्त्रियों के उपक्रम से रहित स्थान में रहने का संकल्प करे। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु स्निग्ध और पौष्टिक आहार न करे[19]।

श्रमण का आचार

साधु के सत्ताईस गुण

सर्वविरत श्रमण के लिए सत्ताईस मूल गुणों की पालना आवश्यक है।[20] यह हैं—(1) प्राणातिपात से विरमण, (2) मृषावाद से विरमण, (3) अदत्तादान से विरमण, (4) मैथुन से विरमण, (5) परिग्रह से विरमण, (6) चक्षु इन्द्रिय निग्रह, (7) श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह, (8) प्राणेन्द्रिय निग्रह, (9) रसनेन्द्रिय निग्रह, (10) स्पर्शेन्द्रिय निग्रह, (11) क्रोध विवेक, (12) मानविवेक, (13) माया विवेक, (14) लोभ विवेक, (15) भावसत्य, (16) करण सत्य, (17) योग सत्य, (18) क्षमा, (19) विरागता, (20) मन-समधारणता, (21) वचन समधारणता, (22) कायसमधारणता, (23) ज्ञान सम्पन्नता, (24) दर्शन सम्पन्नता, (25) चरित्र सम्पन्नता, (26) वेदना अधिसहन, (27) मारणान्तिक अधिसहन।

पांच महाव्रत[21]

(1) अहिंसा महाव्रत—सदा विश्व के शत्रु और मित्र सभी जीवों के प्रति समभाव रखना और यावज्जीवन प्राणातिपात से विरति।
(2) मृषावाद से विरमण—अप्रमत्त रहकर मृषा का वर्जन करना तथा सतत सावधान रहकर हितकारी वचन बोलना।
(3) अदत्तादान विरमण—दतौन आदि भी बिना दिये न लेना तथा दत्त वस्तु भी वही लेना जो अनवय और एषणीय हो।
(4) मैथुन विरमण—अब्रह्मचर्य की विरति करना और उग्र ब्रह्मचर्य को धारण करना।
(5) परिग्रह विरमण—धनधान्य और प्रेष्यवर्ग के परिग्रहण का वर्जन, सब आरम्भी द्रव्य की उत्पत्ति के व्यापारों में ममत्व का त्याग।

आठ प्रवचन माताएं पांच समिति तथा तीन गुप्ति

रत्नत्रयी सम्यक्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को प्रवचन कहा जाता है।[22] मुनि के समस्त चरित्र के उत्पादन रक्षण और विशोधन के लिए यह आठों अनन्य साधन हैं।[23] इनमें समस्त प्रवचन गणिपिटक द्वादशांग समाया हुआ है।[24] इन आठों से प्रवचन का प्रसव होता है।

समिति

समिति का अर्थ है सम्यक् प्रवर्तन। इसका माप दण्ड अहिंसा है। अहिंसा से जो संचलित है वही समिति है।[25] मुनि कैसे जाये, कैसे बोले, कैसे चले, वस्तुओं का व्यवहरण कैसे करे, उत्सर्ग कैसे करे, इसका स्पष्ट विवेचन समितियों में किया गया है।

(1) *ईर्यासमिति*—मुनि जब चले तब गमन की क्रिया में उपयुक्त हो जाये। प्रत्येक चरण पर उसे यह भान रहे कि वह चल रहा है। संयमी मुनि अहिंसा का विवेक करे। वह आलम्बन, काल, भाव और वचन—इन चार कारणों से यतना करे, परिशुद्ध ईर्या से चले।[26] ईर्या का आलम्बन रत्नत्रयी है। अत: मुनि उत्पथ का वर्जन करे।[27] द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यतना करे। द्रव्य से अर्थात आंखों से देखे। क्षेत्र से अर्थात् युगमात्र मुनि को देखे। काल से जब तक चले तब तक देखे। भाव से उपयुक्त गमन में दत्तचित्त रहे।[28] वह इन्द्रिय विषयों का वर्जन कर ईर्या में तन्मय रहे।[29]

(2) *भाषा समिति*—मुनि असत्य भाषण न करे। असत्य के आठ कारण हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मौखर्य और विकथा।[30] मुनि इनका वर्णन करे।[31] यह भाषा सम्बन्धी अहिंसा का विवेक है।

(3) *एषणा समिति*—एषण समिति जीवन निर्वाह के आवश्यक उपकरणों, आहार, वस्त्र आदि के ग्रहण और उपभोग सम्बन्धी अहिंसा का विवेक है। प्रज्ञावान मुनि आहार, उपधि और शैया के विषय में गवेषणा, ग्रहणेषणा और परिभोगेषणा इन तीनों का विशोधन करे।[32] यतनाशील यति प्रथम एषणा गवेषणा: एषणा में उद्गम और उत्पादन—दोनों का शोधन करे। दूसरी एषणा ग्रहण—एषणा में एषणा ग्रहण सम्बन्धी दोषों का शोधन करे और परिभोगैषणा में दोष चतुष्क संयोजना, अप्रमाण, अंगारधूप और कारण का शोधन करे।[33]

(4) *आदान समिति*—यह दैनिक व्यवहार में आने वाले पदार्थों के व्यवहरण सम्बन्धी अहिंसा का विवेक है। मुनि औध, उपधि सामान्य उपकरण और औपग्रहिक-उपधि विशेष उपकरण दोनों प्रकार के उपकरणों को लेने और रखने में इस विधि का प्रयोग करे।[34] सदा सम्यक् प्रवृत्त और यतना शील यति दोनों प्रकार के उपकरणों का चक्षु से प्रतिलेखन कर तथा रजोहरण आदि से प्रमार्जन कर उन्हें ले और रख ले।[35] मुनि को प्रत्येक वस्तु याचित मिलती है। उसका पूर्ण उपभोग करना मुनि का कर्तव्य है किन्तु उसके लेने और रखने में अहिंसा की दृष्टि होनी चाहिए।

(5) *उत्सर्ग समिति*—उत्सर्ग सम्बन्धी अहिंसा का विवेक। उच्चार, प्रश्रमण, श्लेष,

नाक का मैल, आहार, उपधि, शरीर या उसी प्रकार की दूसरी कोई उत्सर्ग करने योग्य वस्तु का उपयुक्त स्थान में उत्सर्ग करे।[36] जो स्थण्डिल अर्थात् स्थल बनापात असंतोक जहां लोगों का आवगमन नहीं हो तथा वह दूर से भी दिखाई नहीं देते हों, पर के लिए अनुप घातकारी, सम, अशुषिर अर्थात् पोले या दरार रहित, कुछ समय पहले ही निर्जीव बना हुआ,[37] कम-से-कम चार अंगुल की निर्जीव परत वाला, गांव आदि से दूर, बिल रहित और त्रस प्राणी तथा बीजों से रहित हो—उसमें उच्चार आदि का उत्सर्ग करे।[38] यह विधि अहिंसा की पोषक होने के साथ सभ्यजन सम्मत भी है।

इन पांच समितियों का पालन करने वाला मुनि जीवाकुल संसार में रहता हुआ भी पापों से लिप्त नहीं होता।[39] जिस प्रकार दृढ़ कवचधारी योद्धा बाणों की वर्षा होने पर भी नहीं बींधा जा सकता, उसी प्रकार समितियों का सम्यक् पालन करने वाला मुनि साधु जीवन के विविध कार्यो में प्रवर्तमान होता हुआ भी पापों से लिप्त नहीं होता।[40]

गुप्ति

गुप्ति का अर्थ है निवर्तन। जिस प्रकार क्षेत्र की रक्षा के लिए बाढ़, नगर की रक्षा के लिए खाई या प्राकार होता है, उसी प्रकार श्रामण्य की सुरक्षा के लिए, पाप निरोध के लिए गुप्ति है।[41]

महाव्रतों की सुरक्षा के तीन साधन हैं—

(1) रात्रि भोजन की निवृत्ति।
(2) आठ प्रवचन माताओं में जागरूकता।
(3) भावना संस्कारापादन—एक ही प्रवृत्ति का पुनः पुनः अभ्यास।

इस प्रकार महाव्रतों की परिपालना समिति गुप्ति सापेक्ष है। इनके होने पर महाव्रत सुरक्षित रहते हैं और न होने पर असुरक्षित।[42] यह गुप्ति तीन हैं—

(1) मनोगुप्ति—असत् चिन्तन से निवर्तन।[43]
(2) वचन गुप्ति—असत् वाणी से निवर्तन।[44]
(3) काय गुप्ति—असत् प्रवृत्ति से निवर्तन।

मानसिक तथा वाचिक संकलेशों से पूर्णतः निवृत्त होना मनोगुप्ति तथा

वचनगुप्ति हैं। मनोयोग तथा वचनयोग के चार प्रकार हैं—(1) सत्य, (2) असत्य, (3) मित्र तथा (4) व्यवहार।

काययोग

स्थान, निषीदन, शयन, उल्लंघन, गमन और इन्द्रियों के व्यापार में असत् अंश का वर्णन करना काय गुप्ति है।[45]

इस प्रकार यह समिति व गुप्ति साधु आचार का प्रथम व अनिवार्य अंग हैं। चौदह पूर्व पढ़ लेने पर भी जो मुनि प्रवचन माताओं में निपूर्ण नहीं है, उसका ज्ञान अज्ञान है। जो व्यक्ति प्रवचन माता में निपूर्ण है, सचेत है, वह व्यक्ति स्व-पर के लिए त्राण है। यह साधु जीवन का उपष्टम्भ है। इसके माध्यम से ही श्रामण्य का शुद्ध परिपालन सम्भव है। जो इसमें स्खलित होता है वह समूचे आचार में स्खलित होता है।

दमन का प्रत्यय और जैन दर्शन

जैन दर्शन में इन्द्रिय संयम पर काफी बल दिया गया है। लेकिन प्रश्न है कि क्या इन्द्रिय निग्रह सम्भव है? आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इन्द्रिय व्यापारों का निरोध एक अस्वाभाविक तथ्य है। आंख के समक्ष अपने विषय के प्रस्तुत होने पर वह उसके सौंदर्य दर्शन से वंचित नहीं रह सकती। भोजन करते समय स्वाद को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अत: विचारणीय प्रश्न है कि इन्द्रिय दमन के सम्बन्ध में क्या जैन दर्शन का दृष्टिकोण आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सहमत है? जैन दर्शन का मत है कि इन्द्रिय व्यापारों के निरोध का अर्थ इन्द्रियों को अपने विषयों से विमुख करना नहीं वरन् विषय के मूल में जो निहित राग द्वेष हैं उन्हें समाप्त करना है। जैनागम[46] आचारांगसूत्र के अनुसार यह शक्य नहीं है कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जायें अत: शब्दों का नहीं शब्दों के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में अपेक्षित है।

जैन दर्शन के अनुसार साधना का मार्ग औपशमिक नहीं वरन् क्षायिक है, दमन और निरोध में विश्वास नहीं करता क्योंकि क्षायिक मार्ग वासनाओं के निरसन का मार्ग है। यह दमन नहीं चित्त विशुद्धि है। दमित मानसिक वृत्तियां पुन: जाग सकती हैं। वासनाओं को दबा कर आगे बढ़ने वाला साधक विकास की अग्रिम कक्षाओं से अनिवार्यत: पदच्युत हो जाता है। जैन विचारणा के अनुसार यदि कोई साधक उपशम या दमन के आधार पर नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रगति

करता है तो वह पूर्णता के लक्ष्य के अत्यधिक निकट पहुंच कर भी पतित हो सकता है।[47]

ब्रह्मचर्य का अर्थ वस्ति-निग्रह है। वह पांचों इन्द्रियों तथा मन के संयम के बिना प्राप्त नहीं होता। इसलिए इसका अर्थ सर्वेन्द्रिय संयमठ है। यह इन्द्रिय निग्रह वीतरागी के लिए आवश्यक है क्योंकि फिर उसके लिए इन्द्रिय विषय दु:ख के हेतु नहीं रहते।[48] राग ग्रस्त व्यक्ति के लिए वह परम दारुण परिणाम वाले हैं। इसलिए बन्धन और मुक्ति अपनी ही प्रवृत्ति पर अवलम्बित है। जो साधक इन्द्रियों के विषयों के प्रति विरक्त है, उसे उनकी मनोज्ञता या अमनोज्ञता नहीं सताती। उसमें समता का विकास होता है। साम्य के विकास से कामगुणों की तृष्णा का नाश होता है और साधक उत्तरोत्तर गुणस्थानों में आरोह करता हुआ लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।[49]

(1) *स्पर्शन इन्द्रिय* : स्पर्शन इन्द्रिय संयम के लिए शयनासन और एक आसन पर बैठना वर्जित है।[50]
(2) *रसन इन्द्रिय संयम* : इसके लिए सरस और अति मात्रा में आहार करना वर्जित है।[51]
(3) *प्राण-इन्द्रिय संयम* : इसके लिए कोई पृथक भाग निर्दिष्ट नहीं है।[52]
(4) *चक्षु-इन्द्रिय संयम* : इस संयम के लिए स्त्री व उसके हाव-भाव का निरीक्षण वर्जित है।[53]
(5) *श्रोत्र इन्द्रिय संयम* : इस संयम के लिए हास्य विलास पूर्ण शब्दों का सुनना वर्जित है।[54]
(6) *मानसिक संयम* : इसके लिए काम कथा, पूर्व क्रीड़ा का स्मरण और विभूषा वर्जित है।[55]

जो असंयमी काम गुणों में आसक्त होता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद तथा हर्ष, विषाद आदि अनेक विकार उत्पनन होते हैं[56] जिनसे वह करुणास्पद, दीन, लज्जित और अप्रिय बन जाता है।[57] विकारों की प्राप्ति के पश्चात् उसके समक्ष उसे मोह महार्णव में डुबोने वाले विषय सेवन के प्रयोजन उपस्थित होते हैं। फिर वह सुख की प्राप्ति और दु:ख के विनाश के लिए अनुरक्त बनकर उस प्रयोजन की पूर्ति के लिए उद्यम करता है[58]। इसीलिए इन्द्रिय संयमी होना श्रमण के लिए आवश्यक है।

श्रमण के दस उत्तम धर्म या गुण

मुनि को दस उत्तम गुणों का पोषण करना चाहिए[59]—(1) शान्ति, (2) मुक्ति-निर्लोभता या आसक्ति, (3) मार्दव, (4) आर्जव, (5) लाघव, (6) सत्य, (7) संयम, (8) तप, (9) त्याग-अपने साम्भोगिक साधुओं को भक्त आदि का दान देना एवं (10) ब्रह्मचर्य।

इन दस लक्षण धर्मों का उद्देश्य आध्यात्मिक विकास है। यद्यपि इस सूची में कुछ उन गुणों की भी आवृत्ति हुई है जो महाव्रत अथवा समिति गुप्ति के अन्तर्गत हैं, यद्यपि तत्वार्थसूत्र की राजवार्तिक विभाषा में इनमें विभेद करने का प्रयास किया गया है।[60] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दू धर्म के दस लक्षण धर्मों के अनुकरण के आधार पर जैन चिन्तकों ने जैन धर्म को भी दस उत्तम धर्मों पर आधारित कर दिया है।[61]

मुनि की बारह प्रतिमाएं

यह बारह प्रतिमाएं वह बारह प्रतिमान हैं जिनके द्वारा मुनि आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त करता है।[62] यह हैं—

प्रथम प्रतिमाधारी मुनि को एक दत्ति पानी और एक दत्ति अन्न लेना कल्पता है। साधु के पात्र में दाता द्वारा दिये जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक अखण्ड बनी रहे वही दत्ति है। धारा खण्डित होने पर दत्ति भी समाप्त हो जाती है। जहां एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहीं से भोजन लेना, किन्तु जहां एक से अधिक का बना हो वहां से नहीं लेना। इसका समय एक महीना है।

दूसरी प्रतिमा भी एक मास की है। दो दत्ति आहार व दो दत्ति जल स्वीकार करना। इसी प्रकार तीन, चार, पांच, छः और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही पानी की ग्रहण की जाती है। प्रत्येक प्रतिमा का समय एक मास है। केवल दत्तियों की वृद्धि के कारण ही यह क्रमशः द्विमासिकी, त्रिमासिकी, चातुर्मासिकी, पंचमासिकी, षडमासिकी और सप्तमासिकी कहलाती है।[63]

आठवीं प्रतिमा सप्तरात्रि की होती है। इसमें एकान्तर चौविहार उपवास करना होता है। गांव के बाहर उत्तानासन आकाश की ओर मुंह करके सीधा लेटना, पार्श्वासन एक करवट से लेटना अथवा निष्कासन पैर को बराबर करके खड़ा होना या बैठना से ध्यान लगाना चाहिए।

नवीं प्रतिमा सप्तरात्रि की होती है। इसमें चौविहार तेले पारणा किया

जाता है। गांव के बाहर एकान्त स्थान में दण्डासन, लगुड़ासन अथवा उत्कटुकासन से ध्यान किया जाता है।

दसवीं प्रतिमा सप्तरात्रि की होती है। इसमें चौविहार तेले पारणा किया जाता है। गांव के बाहर गोदोहन आसन, वीरासन अथवा आम्रकुन्जासन से ध्यान किया जाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा अहोरात्र की होती है। एक दिन और एक रात अर्थात् आठ प्रहर तक इनकी साधना की जाती है। चौविहार तेले के द्वारा इनकी आराधना होती है। नगर के बाहर दोनों हाथों को घुटनों की ओर लम्बा करके दण्डायमान रूप में खड़े होकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

बारहवीं प्रतिमा एक रात्रि की है। अर्थात् इसका समय केवल एक रात्रि है। इसकी आराधना बेले को बढ़ाकर चौविहार तेला करके किया जाता है। गांव के बाहर खड़े रहकर, मस्त को थोड़ा सा झुका कर, किसी एक मुद्गल पर दृष्टि रखकर, निर्मिमेष नेत्रों से निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है। उपसर्गों के आने पर उन्हें समभाव से सहन किया जाता है।

परिषह-प्रविभक्ति

जो सहा जाता है उसे परीषह कहते हैं। सहने के दो प्रयोजन हैं—(1) मार्गच्यवन और (2) निर्जरा।

स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिए निर्जरा तथा कर्मों को क्षीण करने के लिए परीषह किया जाता है।[64]

भगवान महावीर की धर्म प्ररूपणा के दो मुख्य अंग हैं—अहिंसा और कष्ट सहिष्णुता।[65] कष्ट सहने का अर्थ शरीर, इन्द्रिय और मन को पीड़ित करना नहीं है, किन्तु अहिंसा आदि धर्मों की आराधना को सुस्थिर बनाये रखना है। यद्यपि एक सीमित अर्थ में काय: क्लेश भी तपरूप में स्वीकृत है किन्तु परीषह और काय क्लेश एक नहीं है। काय: क्लेश आसन करने, ग्रीष्मऋतु में आतापना लेने, वर्षा ऋतु में तरुमूल में निवास करने, शीतऋतु में अपाकृत स्थान में सोने और नाना प्रकार की प्रतिमाओं को स्वीकार करने, न खुजलाने, शरीर की विभूषा न करने के अर्थ में स्वीकृत है।[66]

बौद्ध भिक्षु काय: क्लेश को महत्व नहीं देते किन्तु परीषह सहन की स्थिति को वह भी अस्वीकार नहीं करते। स्वयं महात्मा बुद्ध ने कहा है—मुनि शीत, उष्म, क्षुधा, पिपासा, घात, आतप, दंश और सरीसृप का सामना कर खंग-विषाण की तरह अकेला विचरण करे।[67]

आचारांग निर्युक्ति में परीषह कें दो विभाग हैं—

(1) शीत मन्द परिणाम वाले। जैसे स्त्री परीषह और सत्कार परीषह। यह दो अनुकूल परीषह हैं।
(2) उष्ण तीव्र परिणाम वाले। यह प्रतिकूल परीषह हैं।

(1) *क्षुधा परीषह*

देह में क्षुधा व्याप्त होने पर तपस्वी और प्राणवान भिक्षु फल आदि का छेदन न करे न कराये। पकाये, न पकवाये। शरीर के अंग भूख से सूखकर काकजंघा नामक तृण जैसे दुर्बल हो जायें, शरीर कृश हो जाये, धमनियों का ढांचा भर रह जाये तो भी आहार पानी की मर्यादा को जानने वाला साधु अदीनभाव से विहरण करे।[68]

(2) *पिपासा परीषह*

असंयम से घृणा करने वाला, लज्जावान संयमी साधु प्यास से पीड़ित होने पर संचित पानी का सेवन न करे, किन्तु प्रासुक जल की एषणा करे। निर्जन मार्ग में जाते समय प्यास से अत्यन्त आकुल हो जाने पर भी साधु प्यास के परीषह को सहन करे।[69]

(3) *शील परीषह*

विचरते हुए विरत और रूक्ष शरीर वाले साधु को शीत ऋतु में सर्दी सताती है। फिर भी वह जिन शासन को सुनकर आगम के उपदेश को ध्यान में रखकर स्वाध्याय आदि की मर्यादा का अतिक्रमण न करे। शील से प्रताड़ित होने पर भी मुनि ऐसा न सोचे कि मेरे पास शीत निवारक घर आदि नहीं है और छवित्ताण वस्त्र, कम्बल आदि भी नहीं है, इसलिए मैं अग्नि का सेवन करूं।[70]

(4) *उष्म परीषह*

गर्म धूल आदि के परिताप, स्वेद, मैल या प्यास के दाह अथवा ग्रीष्मकालीन सूर्य के परिताप से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी मुनि सुख के लिए विलाप न करे। गर्मी से अभितप्त होने पर भी मेधावी मुनि स्नान की इच्छा न करे। शरीर को गीला न करे। पंखे से शरीर पर हवा न ले।[71]

(5) *दंश-मशक-परीषह*

डांस और मच्छरों का उपद्रव होने पर भी मुनि समभाव में रहे, क्रोध आदि का दमन करे। मांस और रक्त खाने पीने पर भी उनकी उपेक्षा करे किन्तु उनका हनन न करे।[72]

(6) *अचेल परीषह*

जिनकल्प दशा में अथवा वस्त्र न मिलने पर मुनि अचेलक भी होता है और स्थविर कल्प दशा में वह सचेलक भी होता है। अवस्था भेद के अनुसार इन दोनों को यति धर्म के लिए हितकर जानकार ज्ञानी मुनि वस्त्र न मिलने पर दीन न बने।[73]

(7) *अरि परीषह*

एक गांव से दूसरे गांव में विहार करते हुए अकिंचन मुनि के चित्त में अरति उत्पन्न हो जाये तो उस परीषह को वह सहन करे।[74]

(8) *स्त्री परीषह*

स्त्रियां ब्रह्मचारी के लिए दलदल के समान हैं''—यह जानकर मेधावी मुनि अपने संयमी जीवन की घात न होने दे, किन्तु आत्मा की गवेषणा करता हुआ विचरण करे।[75]

(9) *चर्या परीषह*

मुनि असदृश होकर विहार करे। परिग्रह ममत्व भाव न करे। गृहस्थों से निर्लिप्त रहे। अनिकेत गृहमुक्त रहता हुआ परिव्रजन करे।[76]

(10) *निषथा परीषह*

राग-द्वेष रहित मुनि चपलताओं का वर्जन करता हुआ श्मशान, शून्यग्रह अथवा वृक्ष के मूल में बैठे। दूसरों को त्रास न दे।[77]

(11) *शय्या परीषह*

तपस्वी और प्राणवान भिक्षु उत्कृष्ट या निकृष्ट उपाश्रय को पाकर मर्यादा का अतिक्रमण न करे हर्ष या शोक न लाये। जो पाप दृष्टि होता है वह मर्यादा का अतिक्रमण कर डालता है।[78]

(12) *आक्रोश परीषह*

कोई मनुष्य भिक्षु को गाली दे तो वह उसके प्रति क्रोध न करे। क्रोध न करने वाला भिक्षु पुरुष, दारुण और ग्राम कण्टक प्रतिकूल भाषा को सुनता हुआ उसकी उपेक्षा करे, मन में न लाये।[79]

(13) *वध परीषह*

संयत और दान्त श्रमण को कोई कहीं पीटे तो उसकी आत्मा का नाश नहीं होता—ऐसा चिन्तन करे, पर प्रतिशोध की भावना न लाये।[80]

(14) *याचना परीषह*

गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि के लिए गृहस्थों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं है। अतः गृहवास ही श्रेय है—मुनि ऐसा चिन्तन न करे।[81]

(15) *अलाभ परीषह*

गृहस्थों के घर भोजन तैयार हो जाने पर मुनि उसकी एषणा करे। आहार थोड़ा मिलने या न मिलने पर संयमी मुनि अनुताप न करे।[82]

(16) *रोग परीषह*

आत्मगवेषक मुनि चिकित्सा का अनुमोदन न करे। रोग हो जाने पर समाधिपूर्वक रहे। उसका श्रामण्य यही है कि वह रोग उत्पन्न हो जाने पर भी चकित्सा न करे, न कराये।[83]

(17) *तृण स्पर्श परीषह*

अचेलक और रुक्ष शरीर वाले संयत तपस्वी के घास पर सोने से शरीर में चुभन होती है। यह जानकर भी तृण से पीड़ित मुनि वस्त्र का सेवन नहीं करते।[84]

(18) *जल्ल परीषह*

निर्जरार्थी मुनि अनुत्तर आर्यधर्म को पाकर देह-विनाश पर्यन्त काया पर ''जत्त'' स्वेदजनित मैल को धारण करे और तज्जनित परिषह को सहन करे।[85]

(19) *सत्कार पुरस्कार परीषह*

जो राजा आदि के द्वारा किये गये अभिवादन, सत्कार अथवा निमन्त्रण का सेवन करते हैं, उनकी इच्दा न करे—उन्हें धन्य न माने। अल्प कषाय वाला अज्ञात कुलों से भिक्षा लेने वाला, अलोलुप भिक्षु रसों में गृद्ध न हो। प्रज्ञावान मुनि दूसरों को देख अनुताप न करे।[86]

(20) *प्रज्ञा परीषह*

पहले किये हुए अज्ञानरूप फल देने वाले कर्म पकने के पश्चात् उदय में आते हैं। इस प्रकार कर्म के विपाक को जानकर मुनि आत्मा को आश्वासन न दे।[87]

(21) *अज्ञान परिषह*

तपस्या और उपधान को स्वीकार करता हूं, प्रतिमा का पालन करता हूं, इस प्रकार विशेष चर्या से विहरण करने पर भी मेरा छद्म ज्ञानावरणादि कर्म निवर्तित नहीं हो रहा है ऐसा चिन्तन करे।[88]

(22) *दर्शन परीषह*

जिन हुए थे, जिन हैं और जिन होंगे—भिक्षु अनवरत ऐसा चिन्तन करे।[89]

षट् आवश्यक

जैन मुनि के लिए कषायनिवृत्ति हेतु छः आवश्यक कर्म निरूपित किये गये हैं[90]:

(1) सामायिक
(2) चतुर्विंशतिस्तव
(3) वन्दना
(4) प्रतिक्रमण
(5) प्रत्याख्यान
(6) कायोत्सर्ग

(1) *सामायिक*

चित्त की समावस्था को सामयिक कहा गया है। जीवन और मृत्यु के बीच समभाव, लाभ और हानि, वियोग और संयोग, शत्रु और मित्र, हर्ष तथा विषाद सभी विपरीत परिस्थितियों में समभाव रखना श्रमण का आवश्यक चरित्र माना गया।[91] श्रमण वही है जिसमें समत्व है जो अपने पराये के भेद से विरत है, जो पर स्त्री को माता के समान समझता है।

नियमसार के अनुसार अरण्यवास, कायः क्लेश, अनशन, स्वाध्याय और मौन से उस मुनि को क्या लाभ जिसमें समभाव नहीं है।[92]

मूलाचार के अनुसार सामायिक हेतु वैराग्य, शास्त्रों के प्रति श्रद्धा, पापों से निवृत्ति, तीन गुप्ति, इन्द्रिय निग्रह, पवित्रता, लेश्याओं तथा इन्द्रिय सुखों से निवृत्ति, आर्त तथा रौद्र ध्यान से निवृत्ति तथा धर्म एवं शुक्ल ध्यान के प्रति श्रद्धा आवश्यक है।[93] जब कि अनागार धर्मामृत ने आवश्यक सामायिक की छः श्रेणियां बताई है[94]—

(1) नाम	:	अच्छे अथवा बुरे नामों से अनासक्ति।
(2) स्थापना	:	सुस्थापित अथवा विस्थापित वस्तुओं में अनासक्ति।
(3) द्रव्य	:	शुभ अथवा अशुभ द्रव्य में अनासक्ति।
(4) क्षेत्र	:	अच्छे अथवा बुरे क्षेत्र में अनासक्ति।
(5) काल	:	शुभ अथवा अशुभ काल में अनासक्ति।
(6) भाव	:	शुभ अथवा अशुभ विचारों में अनासक्ति।[95]

(2) *चतुर्दिशतिस्तव*

चतुर्दिशतिस्तव का अर्थ है चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति।[96] इन तीर्थकरों के निम्न गुण हैं—

(1) वह लोकों को अपने आध्यात्मिक प्रकाश से आलोकित करते हैं।[97]
(2) वह विकारों को शान्त करते हैं, वासना का नाश करते हैं, मानसिक दूषण को दूर करते हैं। यह द्रव्य तीर्थ भी हैं और भावतीर्थ भी हैं।[98] ये श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र से सम्पन्न होते हैं।[99]
(3) जिन्होंने कषाय विजय कर ली है।[100]
(4) जिन्होंने कर्म प्रणाश किया है।[101]
(5) जो सर्वपूजित हैं।[102]
(6) जो केवलज्ञान से युक्त हैं।[103]

इन तीर्थंकरों से स्वतन्त्रता, ज्ञान और समाधि मरण के लिए अनुकम्पा की प्रार्थना की जाती है।[104] किन्तु श्रद्धा की दृष्टि से यह असत्यमृषा है क्योंकि 'जिन' अनुराग और घृणा जैसी भावनाओं से मुक्त होने के कारण समाधिमरण अथवा ज्ञान प्रदान नहीं कर सकते।[105]

(3) *वन्दना*

वन्दना का तात्पर्य है धर्मप्रवर्तक, श्रमण, अर्हन्त और सिद्धों की प्रतिमाओं के प्रति श्रद्धा प्रकट करना। वरिष्ठ प्रव्रजित श्रमणों तथा अन्य गुणों में आगे बढ़े हुए श्रमणों के प्रति सम्मान व्यक्त करना भी इस आवश्यक के अन्तर्गत आता है।[106] जो व्यक्ति पंच महाव्रतों का पालन नहीं करते मुनि उनके प्रति सम्मान नहीं करे। इस नियम के अन्तर्गत माता-पिता, ढीले चरित्र का गुरु, राजा जैनेत्तर श्रमण, श्रावकों आदि की गणना की गयी है। वन्दना बत्तीस दोषों से युक्त होनी चाहिए जिनमें अनादर, अभिमान, भय, आकांक्षा तथा विश्वासघात सम्मिलित होते हैं।[107] इसके अतिरिक्त यह शिष्टता की मर्यादा है कि उन व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा प्रकट नहीं की जाये जिन्होंने केवल उपदेश दिये हों, जो असावधान हों, जो भोजन की मर्यादा या पात्र की मर्यादा से हीन हों।[108]

(4) *प्रतिक्रमण*

मानसिक पाप निवृत्ति के लिए जो आत्म आलोचन निन्दा की गर्ध नामक क्रिया गुरु के समक्ष गर्हा की जाती है तथा गुरु के समक्ष जिन पापों की स्वीकृति या आलोचना की जाती है वह प्रतिक्रमण कहलाती है।[109] प्रतिक्रमण दिन में, रात में, पाक्षिक, चतुर्मासिक अथवा वार्षिक अथवा जीवन पर्यन्त क्रियाओं में असावधानी के प्रायश्चित स्वरूप किया जा सकता है।[110] प्रतिक्रमण मिथ्यादृष्टि आत्म नियन्त्रण के अभाव, वासनाओं तथा अपवित्र क्रियाओं के लिए किया जाता है।[111] प्रतिक्रमण करते समय मन में अभिमान की भावना नहीं रहनी चाहिए।[112] गुरु के समक्ष अपराधों की स्वीकृति में कदापि विलम्ब नहीं होना चाहिए।[113] पाप स्वीकृति भाव प्रतिक्रमण है और प्रतिक्रमण सूत्र का संगायन द्रव्य प्रतिक्रमण है। यह दोनों प्रतिक्रमण साथ साथ किये जाते हैं।[114]

(5) *प्रत्यास्थान*

प्रत्यास्थान का अर्थ है पापमय प्रवृतियों से बचने का पूर्ण दृढ़ संकल्प। जहां प्रतिक्रमण भूतकाल के पाप से सम्बन्धित है वहीं प्रत्यास्थान भविष्य की गतिविधियों से सम्बन्धित है।[115] मूलाचार[116] के अनुसार प्रत्यास्थान दस प्रकार के उपवासों से सम्बन्धित है।

(1) समय से पूर्व ही उपवास रखना।
(2) समय के उपरान्त उपवास रखना।
(3) क्षमता के अनुसार उपवास रखना।
(4) उचित समय पर उपवास रखना।
(5) तारा समूह पर केन्द्रित उपवास रखना।
(6) अपनी इच्छा से उपवास रखना।
(7) अन्तराय कालों में उपवास करना।
(8) जीवन पर्यन्त भोजन त्याग का व्रत करना।
(9) पर्वत आदि को पार करते समय व्रत करना।
(10) किसी उददेश्य से व्रत करना।

(6) *कायोत्सर्ग*

कायोत्सर्ग काया के प्रति अनासक्ति का प्रतीक है।[117] कायोत्सर्ग के प्रति यह

अपेक्षा की जाती है कि शरीर के अवयव निश्चित रहें।[118] मोक्षार्थी जिसने निद्रा पर विजय प्राप्त कर ली है, जो सूत्रों तथा उनके अर्थों के ज्ञाता हैं, शुद्ध विचारों से सम्पन्न हैं तथा जिनमें शारीरिक और आध्यात्मिक बल है वही मुनि कायोत्सर्ग के उपयुक्त है।[119]

मुनि की दिनचर्या के चार भाग

मुनि को चाहिए कि वह दिवस को चार भागों में विभक्त करे और तदनुसार दिनचर्या सम्पन्न करे।[120] यथा—

(1) प्रथम प्रहर में मुख्यत: स्वाध्याय करे।
(2) द्वितीय प्रहर में ध्यान करे।
(3) तृतीय प्रहर में भिक्षाचर्या करे।
(4) चतुर्थ प्रहर में पुन: स्वाध्याय करे।[121]

इसी प्रकार रात्रि के चार भाग करे और चारों प्रहरों में क्रमश: स्वाध्याय, ध्यान, निद्रा एवं पुन: स्वाध्याय करे।[122]

इससे प्रतीत होता है कि श्रमण की दिनचर्या में अध्ययन का महत्व सर्वाधिक है। श्रमण के स्वाध्याय में पांच क्रियाओं का समावेश किया जाता है—(1) याचना, (2) पृच्छना, (3) परिवर्तना पुनरावर्तन, (4) अनुपेक्षा चिन्तन और (5) धर्मकथा।[123]

इस दिनचर्या के पश्चात् दिवस के प्रथम प्रहर के प्रारम्भिक चतुर्थ भाग में श्रमण वस्त्र पात्रादि का प्रतिलेखन निरीक्षण करे, गुरु को नमस्कार करे और सर्वदु:खमुक्ति के लिए स्वाध्याय करे।[124] दिवस के अन्तिम प्रहर के चतुर्थ भाग में स्वाध्याय से निवृत्त होकर गुरुवन्दना के पश्चात् वस्त्रपात्रादि का पुनर्प्रतिलेखन करे।[125] प्रतिलेखन करते समय वह सावधान एवं एकाग्र रहे, किसी से वार्तालाप न करे।

तीसरे प्रहर के कर्तव्य भिक्षाचारी, आहार तथा दूसरे गांव में भिक्षार्थ आदि जाने का विधान है।[126] भिक्षार्थ जाते समय मुनि को पात्र आदि का समुचित प्रमार्जन कर लेना चाहिए तथा अधिक-से-अधिक दो कोस तक जाना चाहिए।[127]

चतुर्थ प्रहर के कर्तव्य वस्त्र-पात्र-प्रतिलेखन, स्वाध्याय, शय्या और उच्चारभूमि की प्रतिलेखना का विधान है।[128] मुनि को चतुर्थ प्रहर के अन्त में स्वाध्याय से निवृत्त होकर वस्त्र पात्रादि की प्रतिलेखना के उपरान्त मलमूत्र के विसर्जन की भूमि को देखना चाहिए तथा फिर कायोत्सर्ग करना चाहिए[129] अर्थात्

दिवस सम्बन्धी अतिचारों, दोषों की चिन्तना एवं आलोचना करनी चाहिए।[130] तदनन्तर रात्रि कालीन स्वाध्याय करना चाहिए। रात्रि के चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय इस प्रकार किया जाना चाहिए कि उसकी आवाज से गृहस्थ जाग न जायें।[131] चतुर्थ भाग का चतुर्थ प्रहर शेष रह जाने पर पुनः कायोत्सर्ग करना चाहिए एवं रात्रि सम्बन्धी अतिचारों की चिन्तना एवं आलोचना करनी चाहिए।

वर्षावास

जैन आचार शास्त्र के अनुसार मुनियों का वर्षावास चातुर्मास लगने से लेकर पचास दिन व्यतीत होने तक कभी भी प्रारम्भ हो सकता है, अर्थात् आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी से लेकर भाद्रपक्ष शुक्ला पंचमी तक किसी भी दिन आरम्भ हो सकता है।[132]

सामान्यतः चातुर्मास आरम्भ होते ही जीवजन्तुओं की उत्पत्ति को ध्यान में रखते हुए मुनि को वर्षावास कर लेना चाहिए। परिस्थिति विशेष की दृष्टि से उसे पचास दिन का समय और दिया गया है। इस समय तक उसे वर्षावास अवश्य कर लेना चाहिए।[133]

वर्षावास में स्थित श्रमणों को चार ओर पांच कोस तक ही गमनागमन की क्षेत्र सीमा रखना कल्प्य है।[134] हृष्टपुष्ट, आरोग्ययुक्त एवं बलवान श्रमण को दूध-दही, मक्खन, घी, तेल आदि रसविकृत्तियां बार-बार नहीं लेनी चाहिए।[135]

इस संदर्भ में तीन बातें अत्यन्त आवश्यक हैं—(1) पाणिपात्र भिक्षु को तनिक भी पानी बरसता हो तो भक्तपान के लिए बाहर नहीं निकलना चाहिए तथा भोजन उस दशा में कदापि नहीं करना चाहिए जब तक शरीर पूरी तरह सूखा न हो।[136] (2) पर्यूषणा के बाद अर्थात् वर्षाऋतु के पचास दिन व्यतीत होने पर श्रमण श्रमणी के सिर पर गाय के बाल जितने भी केश नहीं होने चाहिए। बालों को कैंची, उस्तरा या लोंच द्वारा निकाल देना चाहिए।[137] (3) पर्यूषण के दिन परस्पर क्षमायाचना द्वारा उपशमवाद की वृद्धि करनी चाहिए।[138]

संलेखना अथवा समाधिमरण

जो विषयों में आसक्त होते हैं, वह अज्ञानी मृत्यु से डरते हैं और कालमरण से मरते हैं। जो विषयों में अनासक्त होते हैं तथा मृत्यु से निर्भय रहते हैं, वह ज्ञानी पण्डित मरण से मरते हैं। मृत्यु का समीप आना जानकर ज्ञानी भोजन में संकोच करता हुआ शरीर को समाहित करता हुआ शांत चित्त से शरीर का परित्याग करता है। इसी का नाम पण्डित मरण या समाधिमरण है।

चूंकि इस प्रकार के मरण में शरीर एवं कषाय को कृश किया जाता है—कुरेदा जाता है, अत: इसे संलेखना भी कहते हैं। संलेखना में निर्जीव की एकान्त स्थान में तृण शय्या संस्तारक बिछा कर आहारादि का परित्याग किया जाता है। अत: इसे संघारा संस्तारक भी कहते हैं।

गोम्मटसार[139] में मरण के दो भेद किये गये हैं—(1) कदलीघात (अकाल मृत्यु) और (2) संन्यास।

कदलीघात

विषभक्षण, विषैले जीवों के काटने, रक्तक्षय, धातुक्षय, भयंकर वस्तुदर्शन तथा उससे उत्पन्न भय, वस्त्रघात, संकलेश क्रिया, श्वासोच्छवास के अवरोध और आहार न करने से जो शरीर छूटता है उसे कदलीघात मरण कहा जाता है।

संन्यास मरण

कदलीघात सहित अथवा कदलीघात के बिना जो संन्यास रूप परिणामों से शरीर त्याग होता है, उसे व्यक्त शरीर कहते हैं। व्यक्त शरीर के तीन भेद हें—(1) भक्त प्रतिज्ञा, (2) इंगिनी और (3) प्रायोग्य।

(1) *भक्त प्रतिज्ञा*
भोजन का त्याग कर जो संन्यास मरण किया जाता है, उसे ''भक्त परिज्ञा मरण'' कहा जाता है। इसके तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य का कालमान अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट का बारह वर्ष और शेष का मध्यमवर्ती।

(2) *इंगिनी*
अपने शरीर की परिचर्या स्वयं करे, दूसरों से सेवा न ले। इस विधि से जो संन्यास धारणपूर्वक मरण होता है, उसे ''इंगिनी मरण'' कहा जाता है।

(3) *प्रायोग्य, प्रयोपगमन*
अपने शरीर की परिचर्या न स्वयं करे और न दूसरों से कराये, ऐसे संन्यासपूर्वक मरण को प्रायोग्य या प्रायोपगमनमरण कहा जाता है।[140]

सम्यक्

भगवतीसूत्र[141] में मरण के दो भेद—बाल और पण्डित किये गये हैं। बाल मरण के बारह प्रकार हैं और पण्डितमरण के दो प्रकार। कुल मिला कर चौदह भेद यहां मिलते हैं। बालमरण के बारह भेद हैं—(1) वलय, (2) वशार्त, (3) अन्तःशल्य, (4) तद्भव, (5) गिरि-पतन, (6) तरुपतन, (7) जलप्रवेश, (8) अग्निप्रवेश, (9) विषभक्षण, (10) शस्त्रावपाटन, (11) वैहायस तथा (12) गृद्धपृष्ठ।[142]

पण्डितमरण के दो भेद हैं—(1) प्रायोपगमन और (2) भक्तप्रत्यास्थान।[143]

स्थानांगसूत्र[144] में मरण के तीन भेद बताये गये हैं—(1) बालमरण—असंयमी का मरण, (2) पण्डितमरण—संयमी का मरण, (3) बाल पण्डित मरण—संयमासंयमी का मरण।

समवायांग[145] में तथा मूलाराधना में मरण के सत्तरह प्रकारों का उल्लेख है जिनका विस्तार विजयोदयावृत्ति में मिलता है—

समवायांग	मूलाराधना[146] (विजयोदयावृत्ति)
(1) आवीचि मरण	(1) आवीचि मरण
(2) अवधि मरण	(2) तद्भव मरण
(3) आत्यन्तिक मरण	(3) अवधिमरण
(4) वलन्मरण	(4) आदि अन्त मरण
(5) वशार्तमरण	(5) बाल मरण
(6) अन्तः शल्य मरण	(6) पण्डित मरण
(7) तद्भव मरण	(7) अवसन्न मरण
(8) बाल मरण	(8) बाल पण्डित मरण
(9) पण्डित मरण	(9) सशल्य मरण
(10) बाल पण्डित मरण	(10) वलयमरण
(11) छदमस्थ मरण	(11) व्युत्सृष्ट मरण
(12) केवलि मरण	(12) विप्रनासमरण
(13) वैहायस मरण	(13) गृद्धपृष्ठ मरण
(14) गृद्धपृष्ठ मरण	(14) भक्त प्रत्याख्यान मरण
(15) भक्त प्रत्याख्यान मरण	(15) प्रायोपगमन मरण
(16) इंगिनी मरण	(16) इंगिनी मरण
(17) प्रायोपगमन मरण	(17) केवली मरण

उक्त सत्तरह प्रकार के मरणों की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

आयु कर्म के दलिकों की विच्युति अथवा प्रतिक्षण आयु की विच्युति, आवीचि मरण कहलाता है।[147] वीचि का अर्थ है तरंग। समुद्र और नदी में प्रतिक्षण लहरें उठती हैं। वैसे ही आयुकर्म भी प्रति समय उदय में आता है। प्रत्येक समय का मरण आवीचि मरण कहलाता है।[148]

जीव एक बार नरक आदि जिस गति में जन्म मरण करता है तो उसे अवधि मरण कहा जाता है।[149]

जीव वर्तमान आयुकर्म के पुद्गलों का अनुभव कर मरण को प्राप्त हो, फिर उस भव में उत्पन्न न हो ते उस मरण को आत्यन्तिक मरण कहा जाता है।[150] इसे आद्यन्त मरण भी कहा जाता है।

जो संयमी जीवन पथ से भ्रष्ट होकर मृत्यु पाता है, उसकी मृत्यु को बलन्मरण कहा जाता है।[151] भूख से तड़पते हुए मरने को भी बलन्मरण कहा जाता है।[152]

दीपकलिका में शलभ की तरह जो इन्द्रियों के वशीभूत होकर मृत्यु पाते हैं, उसे वशार्त मरण कहा जाता है।[153] इसके चार भेद हैं—इन्द्रिय-वशार्त, वेदना वशार्त, कषाय वशार्त तथा नो कषाय वशार्त।[154]

शरीर मे शस्त्र की नोक इत्यादि रहने से जो मृत्यु होती है वह द्रव्य अन्तः शल्य मरण कहलाता है। लज्जा और अभिमान आदि के कारण अतिचारों की आलोचना न कर दोषपूर्ण स्थिति में मरने वाले की मृत्यु को भाव अन्तः शल्य मरण कहा जाता है।[155]

वर्तमान भव जन्म से मृत्यु होती है, उसे तद्भव मरण कहा जाता है।[156]

मिथ्यात्वी और सम्यक्दृष्टि का मरण बाल मरण कहलाता है।[157] विजयोदया में बाल मरण के पांच भेद किये गये हैं—

(क) *अव्यक्त बाल* : छोटा बच्चा जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को नहीं जानता तथा इनका अचरण करने में समर्थ नहीं होता।
(ख) *व्यवहार बाल* : लोक व्यवहार, शास्त्रज्ञान आदि को जो नहीं जानता।
(ग) *ज्ञान बाल* : जो जीव आदि पदार्थों को यथार्थ रूप से नहीं जानता।
(घ) *दर्शन बाल* : जिसकी तत्वों के प्रति श्रद्धा नहीं होती।

अग्नि, धूप, शस्त्र, विष, पानी, पर्वत से गिरकर श्वासोच्छवास को रोककर अति सर्दी या गर्मी होने से भूख और प्यास से, जीभ को उखाड़ने से, प्रकृति विरुद्ध आहार करने से इन साधनों के द्वारा जो इच्छा से प्राण त्याग करता है, वह इच्छा प्रवृत्त दर्शन बाल मरण कहलाता है। योग्यकाल में या अकाल में मरने की इच्छा के विरुद्ध जो मृत्यु होती है, वह अनिच्छा प्रवृत्त व दर्शन बाल मरण कहलाता है।

(ङ) *चारित्र बाल* : जो चारित्र से हीन होता है। विषयों में आसक्त दुर्गति में जाने

वाले, अन्धकार से आच्छादित, ऋद्धि में आसक्त, रसों में आसक्त और सुख के अभिमानी जीव बाल मरण से मरते हैं।

संयति का मरण पण्डित मरण कहलाता है। विजयोदया[158] में इसके चार भेद किये गये हैं—

(क) *व्यवहार पण्डित* : जो लोक, वेद और समय के व्यवहार में निपूर्ण उनके शास्त्रों का ज्ञाता और शुश्रुषा आदि गुणों से युक्त हो।
(ख) *दर्शन पण्डित* : जो सम्यकत्व से युक्त हो।
(ग) जो ज्ञान से युक्त हो।
(घ) जो चारित्र से युक्त हो।

संयता-संयत का मरण बाल पण्डित मरण कहलाता है।[159] स्थूलहिंसा आदि पांच पापों के त्याग तथा सम्यक् दर्शन योग्य होने से वह पण्डित है। सूक्ष्म असंयम से निवृत्ति न होने के कारण उसमें बालत्व भी है।[160]

मन: पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और मतिज्ञानी श्रमण के मरण को छद्मस्थ मरण कहा जाता है।[161]

केवलज्ञानी का मरण केवलि मरण कहलाता है।

वृक्ष की शाखा पर लटकने, पर्वत से गिरने और झंपा लेने आदि कारण से होने वाला मरण वैहायस मरण कहलाता है।[162]

हाथी आदि के कलेवर में प्रविष्ट होने पर उस कलेवर के साथ-साथ उस जीवित शरीर को भी गीध आदि नोंच कर मार डालते हैं। इस मरण को गृद्धपृच्छ मरण कहते हैं।[163]

यावद् जीवन के लिए त्रिविध अथवा चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक जो मरण होता है, उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण कहा जाता है।[164]

प्रतिनियत स्थान पर अनशनपूर्वक मरण को इंगिनी मरण कहते हैं। जिस मरण में अपने अभिप्राय से स्वयं अपनी सुश्रुषा करे, दूसरे मुनियों से सेवा न ले उसे इंगिनी मरण कहा जाता है।

अपनी परिचर्या न स्वयं करे और न दूसरों से कराये, ऐसे मरण को प्रायोपगमन अथवा प्रायोग्यमरण कहते हैं।[165] वृक्ष के नीचे स्थिर अवस्था में चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक जो मरण होता है, उसे पादोपगमन मरण कहते हैं।[166] अपने पांवों के द्वारा संघ से निकलकर और योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाता है उसे पादोपगमन मरण कहा जाता है। इस मरण को चाहने वाले मुनि अपने शरीर की परिचर्या न स्वयं करते हैं न दूसरों से करवाते हैं।[167]

भगवती में पादोपगमन या प्रायोपगमन के दो भेद किए गये हैं—निर्हारि और अनिर्हारि।[168] निर्हारि का अर्थ है बाहर निकलना। उपाश्रय में मरण प्राप्त करने वाले साधू के शरीर को वहां से बाहर ले जाना होता है, इसलिए उस मरण को निर्हारि कहते हैं। अनिर्हारि अरण्य में अपने शरीर का त्याग करने वाले साधू के शरीर को बाहर ले जाना नहीं पड़ता, इसलिए उसे अनिर्हारि मरण कहा जाता है।

जैन श्रावक तथा श्राविका का आचार

गृहस्थ के लिए जैन श्रावक शब्द का प्रयोग करते हैं। श्रावक शब्द उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है जिन्होंने सम्यक् श्रद्धा चरित्र को प्राप्त कर लिया है किन्तु जो भिक्षु नहीं बने हैं। यह व्यक्ति या तो आंशिकरूप से अणुव्रतों का पालन करते हैं अथवा अवरत सम्यक् दृष्टि होते हैं। किन्तु सम्यक् चारित्र जैन श्रावकों के लिए आवश्यक पात्रता है। वह श्रावक के लिए बताये गये बारह व्रतों का पालन करता है तब अपनी वासनाओं को मर्यादित करने की दिशा में बढ़ता है। जब तक कि वह इन व्रतों के पालन द्वारा भिक्षु का जीवन अंगीकार करने में समर्थ न हो जाये। यह क्रमिक विकास की अवस्था है। इससे उच्च आध्यात्मिक विकास होने पर श्रावक नैष्ठिक कहलाता है। नैष्ठिक श्रावक सांसारिक जीवन का त्याग करके ऐसा जीवन बताते हैं जो श्रमण जीवन के सदृश या श्रमण मूल प्रतिमा है। इस प्रकार श्रावक ऐसा व्यक्ति है जिसमें गृहस्थ के आचार भी हैं और हिन्दू धर्मशास्त्र में बताये वानप्रस्थी के भी।

गृहस्थ का स्थान

जैन नीतिशास्त्र प्रमुख रूप से संन्यास प्रधान है। गृहस्थ जीवन का अर्थ एक अल्प विश्राम भर है। एक छोटा सा ठहराव, एक मोड़ उनके लिए जो अभी भिक्षु जीवन की कठिनाइयों को सहने के योग्य नहीं हुए हैं। इस प्रकार नैतिकता की दृष्टि से गृहस्थ का स्थान भिक्षु के पश्चात् आता है। यही कारण है कि जैनों के प्राचीनतम ग्रन्थ उदाहरण के लिए श्वेताम्बर ग्रन्थ आचारांगसूत्र तथा दिगम्बर ग्रन्थ मूलाचार प्रमुख रूप से श्रमण जीवन को समर्पित हैं।

ठीक इसके विपरीत स्थिति ब्राह्मण धर्म में पाई गई है। आरम्भिक ब्राह्मण साहित्य का प्रमुख आग्रह गृहस्थ जीवन पर है। संन्यास ब्राह्मण धर्म में परवर्ती काल में स्वीकृत संस्था है। ब्राह्मण साहित्य की प्रतिनिधि मनुस्मृति इस प्रसंग में उल्लेखनीय है जिसमें कहा गया है कि जिस प्रकार सभी नदियां समुद्र में आश्रय पाती हैं उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम में आश्रय पाते हैं।[169]

अविरत सम्यक् दृष्टि का आदर्श

मुक्ति के पथ में सम्यक् दृष्टि पथ प्रदर्शक है।[170] सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न एक श्रावक सम्यक् दृष्टि से हीन श्रमण से अधिक श्रेष्ठ है।[171]

जैन धर्म आन्तरिक वैराग्य एवं संसार त्याग दोनों पर ही बल देता है। सम्यक् दृष्टि आंतरिक वैराग्य को प्रकट करती है। यह स्थिति गीता के कर्मयोग के समान है क्योंकि सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति के लिए हो सकता है कि संसार को पूर्ण रूप से त्यागना एकदम सम्भव न हो किन्तु उसके कर्म उसे बांधते नहीं हैं। अर्धपुद्गलप्रवृत्त को सम्यक् दृष्टि द्वारा आगे बढ़ने के लिए धरातल मिल जाता है, तब वह अणुव्रतों का पालन करनते हुए श्रमण जीवन की ओर अग्रसर हो जाता है।[172]

श्रावक के बारह व्रत

जैन आचार शास्त्र में व्रतधारी गृहस्थ को श्रावक, उपासक, अणुव्रती, सागार आदि कहा गया है। चूंकि वह श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनों अथवा श्रमणों के निर्ग्रन्थ प्रवचन का श्रवण करता है, अत: उसे श्रद्धा श्रावक कहते हैं। चूंकि वह गृहस्थ है घर धारण करता है, अत: उसको सागार, आगारी, गृहस्थ, गृही आदि नामों से पुकारा जाता है।

श्रावकाचार से सम्बन्धित उपासक धर्म का प्रतिपादन तीन प्रकार से किया जाता है—

(1) बारह व्रतों के आधार पर,
(2) ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर,
(3) पक्षचर्या निष्ठा एवं साधना के आधार पर।

श्रावक के बारह व्रतों में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा शेष चार शिक्षाव्रत कहलाते है।[173] रत्नकरण्ड श्रावकाचार के अनुसार श्रावक को आठ आवश्यकों का पालन जरूरी है जिसमें पांच अणुव्रतों का पालन तथा मांस, मदिरा और मधु का परित्याग आते हैं।[174] सम्यक् दृष्टि इन आठ आवश्यक अंगों के द्वारा परिपूर्ण होती है। जिस प्रकार से मन्त्र मात्र एक अक्षर के कम रह जाने पर विष की पीड़ा कम नहीं कर सकते उसी प्रकार समयक् दृष्टि इन आठ आवश्यकों में से एक के भी अभाव में जन्मों की शृंखला नहीं छोड़ सकता।[175]

पांच अणुव्रत

पांच की संख्या प्राचीन भारतीय परम्पराओं के लिए विशिष्ट महत्व रखती थी। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार एक श्रेष्ठ व्यक्ति में पांच गुण आवश्यक हैं[176]—

(1) तप,
(2) दान,
(3) आर्जव सादगी,
(4) अहिंसा, तथा
(5) सत्य वचन।

छान्दोग्य उपनिषद् में उल्लिखित अन्तिम दो गुण अर्थात् अहिंसा एवं सत्य वचन जैन पांच महाव्रतों के पहले दो महाव्रत हैं। तीसरे गुण की व्याख्या अस्तेय से की जा सकती है।[177] इस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद के यह नैतिक गुण जैन व्रतों से मिलते जुलते हैं।

बौधायन प्रमुख नैतिक सद्गुणों की सूची इस प्रकार बताते हैं[178]—

(1) जीवित प्राणियों की हिंसा से बचना अहिंसा,
(2) सत्य,
(3) दूसरों की सम्पत्ति के अधिग्रहण से बचना,
(4) आत्म संयम सम्भोग आदि से निवृत्ति,
(5) दान।

छान्दोग्य उपनिषद में उल्लिखित तप का स्थान जैन परम्परा में आत्म संयम ने ले लिया था। दान नामक पांचवां सद्गुण जैन आचार के लिए उपयुक्त नहीं था। अत: इसके स्थान पर अपरिग्रह को स्वीकार किया गया[179]। यह पांचवां व्रत अन्तिम तीर्थंकर महावीर के समय स्वीकार किया गया क्योंकि उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने केवल चातुर्याम को ही स्वीकार किया था।[180]

महावीर ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम के स्थान पर पांच महाव्रत क्यों स्वीकार किये इसके विषय में उत्तराध्यन में चर्चा हुई है। पार्श्वनाथ के अनुयायी ऋजु एवं बुद्धिमान थे जबकि महावीर के अनुयायी पाखण्डी और मन्द बुद्धि के थे।[181] इसलिए महावीर को स्पष्ट करना पड़ा कि अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य दोनों ही समान महत्वपूर्ण हैं और इस कारण उन्होंने एक ही महाव्रत के दो भाग कर दिये।

पार्श्वानुयायियों की अपेक्षा महावीर ने नग्न रहने का आदेश दिया था, इसका

कारण महावीर का कठोर अपरिग्रह व्रत था। वस्त्र पहनने की परम्परा श्वेताम्बरों में है। दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द ने भिक्षुओं को वस्त्र पहनने का निषेध किया है।[182] उल्लेखनीय है कि ब्राह्मण परम्परा में यह नियम संन्यासियों के लिए बने हैं, गृहस्थों द्वारा इनके पालन का योगसूत्र से पूर्व कोई उल्लेख नहीं मिलता। पतंजलि ने सर्वप्रथम पांच अणुव्रतों को गृहस्थों के लिए प्रतिपादित करने पर विचार किया।

मूल ब्राह्मण परम्परा में गृहस्थ यजन, अध्ययन और दान को ही सद्‌गुण समझते थे और संन्यास की अपेक्षा इन्हीं सद्‌गुणों से निर्दिष्ट होते थे। श्रमण परम्परा के अनुसार गृहस्थ जीवन श्रमण जीवन की ओर प्रयाण है। अत: आरम्भ से ही श्रावक के निवृत्तिमार्गी सद्‌गुणों का आंशिक रूप में पालन कराया जाता था। श्रमण इनका पूर्णता से पालन करते थे।

इस प्रकार पांच सद्‌गुणों की छान्दोग्य उपनिषद से आरम्भ की हुई यात्रा योगसूत्र के पांच यमों पर आकर ठहरी। जैन निवृत्ति धारा ने ब्राह्मण परम्परा को प्रभावित किया और दान जैसे सद्‌गुण को अपरिग्रह जैसे संन्यास गुण से स्थानापन्न किया। अपरिग्रह पर आत्यन्तिक आग्रह महावीर की जैन परम्परा को मौखिक देन है।

मूल रूप में ब्राह्मण परम्परा किसी व्यक्ति के पूर्ण युवावस्था में संसार त्याग के पक्ष में नहीं थी। सांसारिक जीवन के कर्तव्यों को पूर्ण करने के उपरान्त ही व्यक्ति अवकाश प्राप्त कर लेने पर, वन में जाकर संन्यासवृत्ति अपना सकता था, चिन्तन कर सकता था। किन्तु श्रमण परम्परा ने इस दृष्टि से भी ब्राह्मण परम्परा को प्रभावित किया कि उनकी चतुराश्रम व्यवस्था उसी रूप में तो चलती ही रही किन्तु इस नये विचार को भी स्वीकार कर लिया गया कि ज्यों ही मन में वैराग्य भावना उदित हो व्यक्ति गृह त्याग सकता है।

अहिंसाणुव्रत

वैदिककालीन आर्य प्रवृत्तिवादी थे। आध्यात्मिक उपलब्धि की ज्ञान की ओर रुझान की चिन्तना का धरातल उनके पास नहीं था। वह युद्ध की संस्था को प्रतिष्ठित करते थे क्योंकि उसका परिस्थितिजन्य मूल्य था, शत्रुओं का दमन। उत्तरवैदिक काल में यज्ञ की संस्था प्रतिष्ठित हो गयी थी। महावीर के युग में पशु निर्दयता से यज्ञों में बलि चढाये जाते थे जिन्हें महावीर ने सहानुभूति और करुणा की भाव प्रवणता के प्रसार द्वारा रोका।

यद्यपि जैन तथा बौद्ध धर्म ने अहिंसा को परिपूर्णता पर पहुंचाया किन्तु ब्राह्मण परम्परा भी अहिंसा की अवधारणा से अपरिचित नहीं थी। महाभारत में अहिंसा परमोधर्म: का नाद सुनाई देता है। अष्टादश पुराणों के *सम्यक् परिशीलन* के

पश्चात् महर्षि व्यास ने दो निष्कर्ष निकाले थे कि पुण्य परोपकार है तथा पाप परपीड़ा पहुंचाना है। दूसरों से वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जैसा तुम उनसे अपने लिए नहीं चाहो। इसी में महाभारत की शिक्षा निहित है। मनुस्मृति भी मांसाहार परित्याग की प्रशंसा करती है।[183]

हिन्दू नीतिशास्त्र के अनुसार यह सिद्धान्त प्राणियों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार सभी प्राणी समान हैं और सबको जीने का समान अधिकार है। अत: बुद्धिमान मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

यदि व्यक्ति अपना यह अधिकार समझता है कि दूसरे व्यक्ति उसकी रक्षा करें तो उसका भी यह दायित्व हो जाता है कि वह दूसरों की रक्षा करे।

अहिंसा का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है, निषेधात्मक रूप में और भावात्मक रूप में। निषेधात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ है किसी भी प्राणी की जान न लेना। भावात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ है आत्मसंयम, त्याग, दयालुता, सहानुभूति तथा सभी प्राणियों के प्रति मैत्री की भावना।

बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन, तथा मनु आदि ने अहिंसा का उपर्यक्त अर्थों में प्रयोग किया है। परन्तु जैन मताबलम्बियों ने अहिंसा पर जितना बल दिया है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। जैनों ने स्थूल, सूक्ष्म सभी प्रकार के प्राणियों के प्रति मन, वचन और कर्म—तीनों ही रूप में अहिंसाव्रत के पालन का आदेश दिया है। मनु ने अहिंसा का अर्थ केवल निषेधात्मक रूप में लिया है, फिर भी विशेष परिस्थिति में वह हिंसा को नियमानुकूल मानते हैं।[184] मनु के पूर्व भी यज्ञों में की गयी हिंसा को हिंसा नहीं माना जाता था। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।' प्रकृति का नियम भी कुछ ऐसा है कि बहुत से प्राणियों का जीवन अन्य के जीवन पर निर्भर करता है।[185] जीवो जीवस्य जीवनं; जीवो जीवस्य भोजनं।

व्यावहारिक जीवन में यह सम्भव नहीं है कि किसी प्रकार की हिंसा की ही नहीं जाये। कभी कभी लोककल्याण के लिए हिंसा का भी सहारा लेना अहिंसा से विमुख होना नहीं कहा जा सकता। जन कल्याण की भावना की रक्षा के लिए यदि हिंसा के अतिरिक्त अन्य कोई साधन बच ही न जाये और ऐसी परिस्थिति में जन कल्याण की रक्षा के लिए हिंसा करना पड़े तो कोई आपत्ति नहीं की जानी चाहिए।

इन्हीं विचारों को दृष्टि में रखते हुए श्रावक के लिए अहिंसाणुव्रत को दो बिन्दुओं से निर्दिष्ट किया गया है।[186] (1) श्रावक की पारिवारिक परिस्थितियां मुनि से भिन्न होती हैं। उसे अपने परिवार के दायित्व पूरे करने होते हैं तथा परिवार के सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आजीविका करनी पड़ती है। (2) उसे अपनी तथा देश की शत्रुओं से रक्षा करनी होती है।

पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ अहिंसा पालन को दृष्टि में रखते

हुए श्रावक से निश्चित व्यवसायों को करने की अपेक्षा की जाती है। उसे सावधानीपूर्वक ऐसे व्यवसाय चुनना होता है जिसमें न्यूनतम हिंसा हो। उद्यम हिंसा से भी जहां तक हो बचना चाहिए। गृहस्थ के यहां भोजन पकाने की प्रक्रिया आदि में भी हिंसा की थोड़ी बहुत सम्भावना रहती है। आरम्भी हिंसा तथा उद्यम हिंसा गृहस्थ के लिए क्षम्य हैं।[187]

इसी प्रकार आत्मरक्षा के लिए हिंसा की जहां सम्भावना है, वहां श्रावक से अपेक्षा की जाती है कि वह युद्ध में हिंसा को रक्षा का ही माध्यम बनाये, आक्रमण का नहीं। परिस्थिति से बाध्य होकर वह युद्ध की चेतावनी मिलने पर विरोधी हिंसा का सहारा ले सकता है।

श्रावक को किसी भी स्थिति में संकल्पी हिंसा का परित्याग करना है।[188] संकल्पी हिंसा के अन्तर्गत आनन्द या कौतूहल के लिए की जाने वाली हिंसा तथा तीव्र वासना के कारण की जाने वाली हिंसा परिगणित होती है। इनका त्याग श्रावक सहजता से कर सकता है क्योंकि यह न तो उसके व्यवसाय की विवशता है और न ही इसका सम्बन्ध आत्मरक्षा या देशरक्षा से है। यही नहीं अहिंसाणुव्रत के अन्तर्गत आने वाली न्यूनतम हिंसा भी श्रावक के कर्म तो बांधती ही है। ज्यों-ज्यों श्रावक आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त होता है वह अपने आचार में सभी प्रकार की हिंसा को त्यागता जाता है तथा निरन्तर निन्दा और गर्हा के द्वारा अपने किये का प्रायश्चित करता है।[189]

सत्याणु व्रत

भारतीय नीतिशास्त्र में सत्य न केवल नैतिक प्रत्यय है अपितु तात्विक सत्ता भी है।[190] किन्तु, जैन सत्य विषयक अवधारणा में– (1) सत्य, ब्रह्म जैसी अमूर्त तात्विक सत्ता होने की अपेक्षा मात्र एक नैतिक सिद्धान्त है। (2) तथ्य का कथन मात्र सत्य नहीं है जब तक कि उसका प्रेरक हित न हो। (3) सत्य अहिंसा के अधीन है। अहिंसा की परिपालना के लिए सहायक भर है।

जैन श्रावक के लिए सत्याणु व्रत का वैसा कठोर पालन आवश्यक नहीं है जैसा कि मुनि के लिए है। जैन नीतिशास्त्र में सत्य पर आग्रह है किन्तु अभिप्राय कटुवचन या कटुसत्य से नहीं है। सत्यवादिता यथार्थवादिता अवश्य हो, परन्तु उसमें कटुता नहीं होनी चाहिए। जैन श्रावकों के सत्य का स्वरूप है–"सत्यं पथ्यं वचस्तथ्यं सुनृतं व्रतमुच्यते।"[191]

प्राचीन ब्राह्मण परम्परा में भी अप्रिय सत्य को बोलने की मनाही थी। मनु के अनुसार–

सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयात न ब्रूयात असत्यंप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात एषं धर्म सनातनं।।[192]

इस प्रकार मनु और जैन दोनों ही कटुसत्यवादिता से अधिक प्रिय सत्यवचन पर बल देते हैं। इसका कारण यह है कि कटु या यथार्थ सत्य बोलने से कभी अहिंसा व्रत का उल्लंघन हो सकता है अर्थात् कटु सत्य बोलने से सुनने वाले को चोट पहुंच सकती है।

प्रश्न उठता है कि क्या हरेक परिस्थिति में सत्यव्रत का पालन सम्भव है। एक चिकित्सक जानता है कि रोगी नहीं बचेगा, फिर भी उसके परिवार वालों की सान्त्वना के लिए तथ्य को छिपाता है। एक वकील यह जानते हुए भी कि मुकदमें में हार निश्चित है, अपने मुवक्किल को विजयी होने का आश्वासन देता है। हर एक परिस्थिति में मन, वचन और कर्म से सत्यव्रत का पालन हो ही, ऐसा संभव नहीं है। अन्य व्रतों के अनुसार इसका पालन भी अपवाद रहित नहीं हो सकता। महाभारत साक्षी है कि धर्मराज युधिष्ठिर ने भी सत्यव्रत का उल्लंघन ''अश्वत्थामाहतो नरो वा कुंजरो वा'' कह कर किया था।

धर्मग्रन्थों में सत्यव्रत के पालन के दो अपवाद बताये गये हैं[193]—

(1) किसी अत्याचारी से निरपराध की रक्षा के लिए असत्य बोला जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में यथार्थ को छुपाना सत्यव्रत के विरुद्ध नहीं है।
(2) आत्मरक्षा और लोकहित या हिंसा से बचने के लिए असत्य भाषण किया जा सकता है।

जैन आचार में श्रावक के लिए सत्यव्रत के भाव का पालन मात्र करना आवश्यक है।[194] चूंकि अहिंसा ही सबसे महत्वपूर्ण व्रत है, इसलिए शेष सभी व्रतों का पालन मात्र इतना ही आवश्यक है कि अहिंसा व्रत का खण्डन न हो।[195] ऐसी परिस्थिति में जहां सत्य बोलने से हिंसा या हत्या हो सकती है, जैसे हत्या करने के लिए पीछे हुए डाकुओं से बचने के लिए जब कोई व्यक्ति छिप जाता है तो उसका स्थान न बताने में जो जानबूझ कर असत्य बोल जाता है वह नैतिक दृष्टि से उचित है। ऐसी स्थिति में झूठ बोलने से हत्या हो सकती है। इसलिए यह उस सचाई से श्रेष्ठतर है जिससे कि हिंसा या हत्या हो सकती है। इसी प्रकार, कोई जानवर झाड़ी में छिप गया है और शिकारी को इसकी जानकारी नहीं है, तो ऐसी स्थिति में सत्य बताने से उस जानवर की हत्या हो सकती है।

जैन सत्यव्रत के इस स्वरूप का समर्थन महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म के इस कथन से होता है कि विषम परिस्थिति में बिना बोले हुए काम चल जाये तो

मौन रहना ही अच्छा है। लेकिन यदि बोलना अनिवार्य ही हो अथवा न बोलने पर सुनने वाले के मन में सन्देह उत्पन्न होने की आशंका हो तो तथ्य छिपाना भी सत्यव्रत का उल्लंघन नहीं कहा जा सकता।[196]

अस्तेयाणुव्रत

अस्तेय का अर्थ है चोरी नहीं करना अर्थात् दूसरे की सम्पत्ति का अवैधानिक अपहरण। भारतीय नीति शास्त्र में मानव जीवन के चार लक्ष्यों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से अर्थ को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसी अर्थ में धन सम्पत्ति को भी पुरुषार्थ कहा जाता है। जैनों ने भी जीवन रक्षा के लिए अर्थ को बड़ा सहायक बताया है। प्राचीन भारतीय धर्म ग्रन्थों से भी यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि आवश्यकता से अधिक धन संचय करने का प्रणियों का अधिकार है। श्रीमद्भागवत में तो यहां तक कहा गया है कि जितनी सम्पत्ति से पेट भरने का काम चल सके, उतना ही धन संचय करने का प्राणियों को अधिकार है।[197]

इस व्रत के पालन के विषय में भी गृहस्थ की अपनी कुछ सीमाएं हैं। इसलिए उससे केवल सापेक्ष पालन की ही आशा की जाती है। गृहस्थ के लिए इस व्रत के पालन का अर्थ है—न दी गयी वस्तुओं को न लेना और दूसरों की गिरी हुई, छूटी हुई या खोई हुई वस्तुओं को न उठाना। इसी प्रकार गृहस्थ को चाहिए कि वह भूमिगत तथा अनाधिकृत सम्पत्ति को स्वीकार नहीं करे। ऐसी सम्पत्ति की सूचना तुरन्त राजा को प्रदान करे।

अपरिग्रहाणुव्रत

जैन आचार शास्त्रियों के अनुसार व्यक्ति जब तक सांसारिक वस्तुओं और उनसे उत्पन्न सुखों की आर उदासीनता की भावना नहीं लायेंगे तब तक नैतिक जीवन की शुरुआत नहीं हो सकती। इस प्रकार अपरिग्रह व्रत के लिए त्याग एवं निवृत्ति की भावना आवश्यक है।[198] स्पष्टत: यह व्रत मुनियों के लिए है, क्योंकि प्रव्रजित होने के पहले उन्हें अपनी सारी सम्पत्ति तथा धन को त्यागना होता है किन्तु भौतिक वस्तुओं को त्यागना तब तक सार्थक नहीं है जब तक उनका स्मरण होता रहे। चूंकि त्यागी हुई वस्तुओं का व्यक्ति के साथ सतत सम्पर्क रहा है अतएव उसकी स्मृति के सातत्य की संभावना बनी रहती है अत: तपस्वी को उनका स्मरण भी नहीं करना चाहिए।[199]

वस्तुत: अपरिग्रह धन और सम्पत्ति तक ही सीमित नहीं है। इस व्रत को जीवन के प्रति दृष्टिकोण अपनाने तक बढ़ाया जा सकता है। मनुष्य का अपने घर

परिवार तथा सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति इतना अधिक मोह बढ़ जाता है कि वह इन सबको अपनी सम्पत्ति समझ बैठता है। जैनचिन्तन में तपस्वी को ऐसा जीवन बिताना चाहिए कि वह अपने शरीर तथा मन को भी, मोक्ष के मार्ग की बाधा समझे।

श्रावक के लिए अपरिग्रह व्रत का अर्थ है आवश्यकता से अधिक का संग्रह करने की चाह न रखना। श्रावक को इस व्रत के पालन में जो छूट दी गयी है उसका कारण यह है कि इस व्रत का कठोर पालन समाज के हित में न होगा।

व्यवसाय चाहे कोई भी हो, इस व्रत के पालन का अर्थ होगा अपने कर्तव्य का न केवल कुशलता से, अपितु ईमानदारी से भी पालन करना। उदाहरण के लिए व्यापारी के सन्दर्भ में कुशलता का अर्थ होगा व्यापार के नियमों की जानकारी तथा उनका सही प्रयोग जिससे आर्थिक साधनों में वृद्धि होती है। व्यापारी द्वारा ईमानदारी बरतने का अर्थ है अपने धन्धे को व्यक्तिगत सुख तथा समाज कल्याण का साधन समझना।[200] अपने व्यवसाय में उचित अथवा नैतिक तरीकों को अपनाकर व्यापारी महत्तम लाभ उठाते हुए समाज की सेवा कर सकता है।

व्यापक रूप में जीवन के प्रति त्याग की यह भावना, जिसे अन्ततोगत्वा व्यक्ति को अपनाना होता है, सामान्य जीवन बिताने वाले श्रावक द्वारा भी व्यवहार में लाई जा सकती है।

यद्यपि अस्तेय एवं अपरिग्रह व्रत में बहुत कुछ समानता है, फिर भी दोंनों में कुछ अन्तर है। जहां अस्तेय दूसरों की सम्पत्ति न लेने या लोभ नहीं करने पर जोर देता है, वहां अपरिग्रह व्रत में अपनी वस्तुओं के प्रति भी उदासीनता अथवा अनासक्ति पर जोर दिया गया है।[201]

ब्रह्मचर्याणुव्रत

''ब्रह्मचर्य'' का अर्थ है—काम वासनाओं का पूरी तरह त्याग। जैन मत में ब्रह्मचर्य व्रत का मन, वचन और कर्म से पालन करने पर बल दिया गया है। दृढ़तापूर्वक ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने वाले व्यक्ति को दुराचारी और दम्भाचारी की संज्ञा दी गयी है। ऊपर से इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना एवं मन से उनका चिन्तन करना ब्रह्मचर्य नहीं है।[202] गीता में भी ऐसा आचरण करने वाले को मिथ्याचारी कहा गया है।[203]

श्रावक के सन्दर्भ में इस व्रत का कठोर रूप में पालन संभव नहीं है। संभोग से विरत रहने का यदि कठोरता से पालन किया जाये तो व्यक्ति के लिए परिवार का कोई अर्थ नहीं रह जाता। जैन दार्शनिक समस्या के इस पहलू से अनभिज्ञ नहीं थे। इसलिए उन्होंने सुझाया कि श्रावक द्वारा एक पत्नीव्रत का पालन करने से इस व्रत

का पालन हो जाता है। श्रावक द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन किये जाने का अर्थ है अपनी पत्नी के प्रति एकनिष्ठ होना। अन्य स्त्री की कामना मात्र से इस व्रत को क्षति पहुंचती है। एकनिष्ठ वैध संभोग इस व्रत की शुद्धता का द्योतक है। इससे व्यक्ति को सुरक्षा और सन्तोष दोनों ही प्राप्त होते हैं।

सारांशत: आत्मा की खोज में निकले हुए श्रावक के लिए यह पांचों व्रत पथ प्रदर्शक स्तम्भ हैं। इन व्रतों में पाया जाने वाला समग्र रूप इस तथ्य में निहित है कि सभी व्रत अन्ततोगत्वा अहिंसा व्रत में ही समा जाते हैं। इनके पालन से व्यक्तित्व परिपूर्ण होता है।

श्रावक के आठ मूलगुण

अमृतचन्द्र के अनुसार पांच अणुव्रतों के अतिरिक्त मदिरा, मांस, मधु तथा पांच उदुम्बर फलों के सेवन का परित्याग श्रावक से अपेक्षित था। यह श्रावक के आठ मूल गुण हैं।[204] समन्तभद्र ने आठ मूल गुणों की सूची में पांच अणुव्रतों का पालन तथा मांस, मधु, मदिरा, सेवन के परित्याग को गिना है।[205]

आचार्य अमितगति ने अमृतचन्द्र की सूची को स्वीकार करते हुए एक मूल गुण और जोड़ा वह है रात्रिभोजन का त्याग।[206] आचार्य बसुनन्दि ने मृगया, द्यूत, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन तथा चोरी के परित्याग को मूल गुणों के अन्तर्गत बताया है।[207]

श्रावक के यह आठ मूल गुण उसके अहिंसा व्रत के परिपालन के लिए आवश्यक माने गये हैं।

श्रावक के शीलव्रत

पांच अणुव्रतों के पूरक के रूप में सात शीलव्रतों का पालन श्रावक के लिए आवश्यक है। इन सात शीलव्रतों के अन्तर्गत तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षा व्रत आते हैं।

तत्वार्थ सूत्र[208] के अनुसार गुणव्रत यह हैं :

(1) दिग्व्रत, (2) देशावकाशिक, तथा (3) अनर्थदण्डव्रत। चार शिक्षा व्रत इस प्रकार हैं—(1) सामायिक, (2) पौषधोपवास, (3) भोगोपभोग तथा (4) अतिथिसंविभाग।

समन्तभद्र के अनुसार गुणव्रतों का पालन अणुव्रतों के पालन में निश्चय को

दृढ़ तथा शुद्ध बनाता है।[209] गुणव्रतों की सहायता से ही अणुव्रत महाव्रतों में परिणत हो जाते हैं।

शिक्षाव्रत जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है निर्वाणार्थी को आध्यात्मिक जीवन तथा पूर्ण वैराग्य के लिए शिक्षित करते हैं।[210]

गुणव्रत

अणुव्रतों की भावना को दृढ़ करने के लिए जिन विशेष गुणों की आवश्यकता होती है, उन्हें गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रत तीन हैं—

(1) दिग्व्रत अथवा दिशापरिमाणव्रत

अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार व्यवसायादि प्रवृत्तियों के निमित्त दिशाओं की मर्यादा निश्चित करना दिशापरिणामव्रत है। इसके द्वारा अपरिग्रह अणुव्रत की रक्षा होती है। दिग्व्रत के पांच अतिचार यह हैं[211]—

(अ) ऊर्ध्वादिक प्रमाणातिक्रमण—पहाड़ी अथवा वृक्षों पर स्वयं द्वारा निश्चित मर्यादा से ऊपर चढना।
(ब) अधोदिक प्रमाणातिक्रमण—कुएं अथवा भूमिगत भण्डारों में निश्चित मर्यादा से नीचे उतरना।
(स) तिर्यक दिग्प्रमाणातिक्रमण—किसी गुफा में अथवा किसी भी अन्य दिशा में सीमा से ऊपर यात्रा करना।
(द) क्षेत्र वृद्धि—क्रिया की स्वतन्त्रता के लिए सीमाएं बढ़ाना।
(य) स्मृत्यान्तर्धान—स्मृतिदोष से सीमा का अतिक्रमण करना।

(2) देशावकाशिक व्रत

इस व्रत में जीवन पर्यन्त के लिए गृहीत क्षेत्र मर्यादा के एक अंश रूप स्थान की कुछ समय के लिए विशेष सीमा निर्धारित की जाती है। मर्यादित क्षेत्र से बाहर न जाना, बाहर से किसी को न बुलाना, न बाहर किसी को भेजना और न बाहर से कोई वस्तु मंगवाना, बाहर क्रय-विक्रय न करना आदि इस व्रत के लक्ष्य हैं।[212] देशावकाशिक व्रत के पांच अतिचार हैं—

(अ) आनयन प्रयोग—किसी व्यक्ति को निर्धारित सीमा से बाहर कुछ अनुनय से

लाने भेजना, अर्थात् व्रत के अन्तर्गत स्वयं रह कर दूसरे से अतिक्रमण कराना।[213]

(ब) प्रेष्यप्रयोग—सेवक को आदेश द्वारा निर्धारित सीमा से बाहर भेजना।[214]

(स) शब्दानुपात—शब्द ध्वनि द्वारा निर्धारित सीमा से बाहर गये निश्चित व्यवसाय में लगे व्यक्तियों को संकेत देना।[215]

(द) रूएपानुपात—हावभाव के संकेत द्वारा ऐसे व्यक्तियों को सावधान करना।[216]

(य) पुद्गलप्रक्षेप—किसी वस्तु ढेला आदि द्वारा निर्धारित सीमा से बाहर गये व्यक्ति को संकेत भेजना।[217]

(3) अनर्थदण्ड विरमण

अपने कुटुम्ब अथवा स्वयं के जीवन निर्वाह के निमित्त होने वाले अनिवार्य साक्ष्य अर्थात् हिंसा पूर्ण व्यापार व्यवसाय के अतिरिक्त समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अनर्थदण्ड विरमण व्रत है।

अनर्थदण्ड विरमण से विशेष रूप से अहिंसा एवं अपरिग्रह का पोषण होता है। उपासकदशा तथा श्रावक प्रज्ञप्ति अनर्थदण्ड के चार प्रकार स्वीकार करते हैं। जब कि अकलंक देव, कार्तिकेय तथा समन्तभद्र ने अनर्थदण्ड के पांच प्रकार स्वीकार किये हैं[218]—

(1) *अपध्यान*—छिद्रान्वेषण, परहानि की कामना, परस्त्री लोलुपता तथा अन्य के झगड़े में रुचि लेना इसके अन्तर्गत हैं।[219]

(2) *पापोपदेश*—दासों का व्यापार, पशुओं का व्यापार। बधिक को शिकार की सूचना देना तथा हिंसात्मक कार्यों का परामर्श देना, इसके अन्तर्गत आते हैं।[220]

(3) *प्रसादचरित्र*—भूमिखनन, प्रस्तरछेदन, जलसिंचन, अग्नि प्रज्वलन तथा हवा करना आदि।[221]

(4) *हिंसादान*—विष, कंटक, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, कोड़ा, बेंत आदि प्रदान करना।[222]

(5) *दु:श्रुति*—काम कथाओं का कथन व श्रमण।[223]

अनर्थदण्ड व्रत के पांच अतिचार हैं[224]—(1) कान्दर्प—लम्पटतापूर्ण भाषण, (2) कौतुकुस्य—गर्हित या गोपनीय भाषण, (3) मौखर्य—अनर्गल प्रलाप, (4) असमीक्ष्याधिकरण—बिना सोचे कार्य करना तथा (5) उपभोगाधिक्य—प्रमोद की अति करना।

शिक्षा व्रत

श्रावक को कतिपयव्रतों का निरन्तर अभ्यास करना होता है। इसी अभ्यास के कारण इन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा गया है। शिक्षाव्रत चार हैं—

(1) सामायिक

इसका अर्थ है समभाव का लाभ अथवा समता की प्राप्ति। सामायिक का शाब्दिक अर्थ है एकात्मगमन।[225] समन्तभद्र के अनुसार सामायिक करने वाला श्रावक ऐसे श्रमण के समान है जिसे किसी ने वस्त्र पहना दिये हों।[226] इस प्रकार सामायिक मन, शरीर और वचन का तादाम्य है।[227] सामायिक करने के लिए स्थान, काल व कायमुद्रा महत्वपूर्ण है। सामायिक करने का स्थान भीड़, कोलाहल तथा जीवजन्तु रहित होना चाहिए। सिद्धसेनगणी तत्वार्थसूत्र का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि श्रावक को दिन में तीन बार अन्यथा कम से कम से कम दो बार सामायिक अवश्य करनी चाहिए। व्रत का दिन सामायिक के अनुकूल होना चाहिए। सामायिक का काल काल अभ्यास के साथ निरन्तर बढ़ना चाहिए। श्रावक को खड़े होकर या बैठकर ध्यान करना चाहिए। श्रावक को या तो मन्त्रोच्चार करना चाहिए या आत्मचिन्तन करना चाहिए। श्रावक को सामायिक के पांच अतिचारों से बचना चाहिए—

(1) वाग्दुष्प्रणिधान—भाषात्मक दुराचार।
(2) कायदुष्प्रणिधान—शारीरिक दुराचार।
(3) मनोदुष्प्रणिधान—मानसिक दुराचार।
(4) अनादर—सामायिक करने में अनिच्छा।
(5) स्मृत्यानुपस्थान—सामायिक के नियमन में विस्मृति आदि करना।

(2) पौषधोपवास

विशेष नियमपूर्वक उपवास करना अर्थात् आत्मचिन्तन के निमित्त सर्वसावद्य किया को त्याग कर शान्तिपूर्ण स्थान में बैठकर उपवासपूर्वक नियत समय व्यतीत करना पौषधोपवास है। लगभग सभी धर्मों में भोजन सम्बन्धी कुछ विशिष्ट नियन्त्रण मिलते हैं। व्रत को आत्मशुद्धि का साधन माना जाता है। जैन श्रमण हों या श्रावक व्रतों का अभ्यास करते हैं। अष्टमी, चतुर्दशी तथा पूर्णिमा का उपवास पौषधोपवास के अन्तर्गत करना पड़ता है।[228] यहां उपवास में केवल भोजन का ही परित्याग नहीं

किया जाता अपितु स्नान, सुगन्ध, शारीरिक विभूषा, अलंकरण, तथा पापमय क्रियाओं का भी परित्याग होता है। श्रावक को इस उपवास के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है।[229] उपवास के अन्तर्गत श्रावक को चिन्तन स्वाध्याय, निदिध्यासन, जिन एवं साधु स्तव तथा सम्यक चरित्र में प्रमाद रहित होना होता है। श्रावक को भूमि शयन करना होता है। पौषधोपवास के पांच अतिचार हैं—

(1) अप्रत्यावेक्षित प्रमार्जितोत्सर्ग—प्राकृतिक उत्सर्ग में सावधानी।[230]
(2) अप्रत्यावेक्षित प्रमार्जिता दाननिक्षेपा—वस्तु के रखने उठाने में सावधानी।[231]
(3) अप्रत्यावेक्षित प्रमार्जिता संस्तर—संस्तारक, कुशा व कम्बल प्रमार्जन।[232]
(4) अनादर—आवश्यक करने में अनुत्साह।[233]
(5) स्मृत्यानुपस्थान—पौषधोपवास व्रत की विस्मृति—इससे चित्त की मग्न एकाग्रता का भान होता है।[234]

(3) उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत

किसी वस्तु के उपयोग की मर्यादा को निश्चित करना उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत कहा जाता है। इस व्रत से अहिंसा एवं सन्तोष की रक्षा होती है। इससे जीवन में सरलता एवं सादगी आती है तथा व्यक्ति को महातृष्णा एवं महापरिग्रह से मुक्ति मिलती है।[235] उपभोग का अर्थ है वस्तु केवल एक बार उपयोग में आती है जैसे भोजन, पेय, माला आदि। परिभोग का अर्थ है वस्तु का अनेक बार प्रयोग में आना जैसे संस्तारक, शैया, आभूषण, गृह इत्यादि।[236]

इस व्रत के अन्तर्गत परिभोग की वह वस्तुएं आती हैं जिन्हें जीवन पर्यन्त त्यागना होता है। यह हैं—(1) मांस, मधु त्याग क्योंकि इनसे एक से अधिक इन्द्रियों वाले जीवों की हिंसा होती है। (2) मदिरा, अफीम आदि का सेवन, (3) उदुम्बर फल जैसे अदरक, मूली, गाजर, आलू, मक्खन आदि का त्याग, (4) यात्रा के अनुपयुक्त साधन रिक्शे, पालकी की सवारी आदि तथा अनुपयुक्त अलंकारों का त्याग, (5) पशु पक्षी आदि की खाल के बने वस्त्रों का परित्याग।

यही नहीं बहुत सी ऐसी वस्तुएं जो त्याजनीय हैं किन्तु जिनके परित्याग से गृहस्थ को असुविधा होती हो उन्हें भी कुछ समय के लिए त्यागना वांछनीय है। जैसे भोजन, सवारी, आरामदेह विस्तर, पान, वस्त्र, आभूषण, गायन-वादन आदि।[237]

समन्तभद्र के अनुसार इस व्रत के पांच अतिचार हैं[238]—

(1) विषयाविषतोनुप्रेक्षा—कामसुखों के विषय में अविवेक।

(2) अनुस्मृति—अतीत के सुखों का स्मरण।
(3) अतिलौल्य—कामसुखोपभोग के बाद भी उसमें रागात्मकता।
(4) अतितृष्णा—भविष्य सुखों की गहरी चाह।
(5) अत्यनुभाव—अतिकामसुख।

(4) अतिथि संविभाग

अपने निमित्त बनाई हुई अपने अधिकार की वस्तु का अतिथि के लिए समुचित विभाग करना तथा संविभाग या अतिथि संविभाग कहलाता है।[239] श्रावक का यह कार्य किसी स्वार्थवश न होकर विशुद्ध परमार्थवश किया जाता है। समन्तभद्र इस व्रत का विस्तार वैयावृत्य तक कर देते हैं जहां इसके अन्तर्गत मुनि के चरणवन्दन उनके पांव दबाना आदि भी आता है। इस व्रत के अन्तर्गत दान की अतिमहिमा है।

तीन प्रकार के व्यक्ति दान की पात्रता में उत्तम है[240]—(1) जैन साधु, (2) जैन साधक श्रमणेर या श्रमण, (3) जैन श्रावक।

दाता को भी सात सद्गुणों से युक्त होना चाहिए[241]—

(1) श्रद्धा—भिक्षादान में तथा उसके परिणामों में श्रद्धा।
(2) भक्ति—दान के पात्र में भक्ति की भावना।
(3) तुष्टि—दान का सन्तोष।
(4) विज्ञान—कैसे पात्र को कैसा दान देना चाहिए का ज्ञान।
(5) अलौल्य—सांसारिक परिणामों पारितोषकों में विरक्ति।
(6) क्षमा—भड़काये जाने पर भी दान देना।
(7) शक्ति—सम्पन्न नहीं होने पर भी दान देने का उत्साह।

उपभोग-परिभोग व्रत के अतिचार[242]

(1) सचित्तनिक्षेप्—यदि श्रावक मुनि के लिए हरे पत्ते पर भोजन परोसे। कुछ व्यक्ति जानकर ऐसा कर सकते हैं ताकि मुनि वह भोजन नहीं स्वीकारे और श्रावक को लाभ हो।
(2) सचित्तापिधान—भोजन को पत्ते आदि सचित्त वस्तु से लपेटना।
(3) कालाविक्रम—श्रावक जानबूझ कर भिक्षु को ऐसे समय भिक्षा दे जब वह उसे स्वीकार नहीं कर सके।
(4) परिव्यपदेश—मुनि से यह कहना कि भोजन किसी और के लिए रखा है।
(5) मात्सर्य—मुनि के लिए अनादर होना। उस पर क्रोध प्रकट करना अथवा उन्हें

दान देने वाले सम्पन्न पड़ोसी से ईर्ष्या करना इस अतिचार के अन्तर्गत आते हैं।

संलेखनाव्रत

जीवन के अन्तिम समय में अर्थात् मृत्यु आने के समय तक तप विशेष संलेखना कहलाता है। इसकी विधि का विस्तृत विवेचन किया गया है। यद्यपि संलेखना की विधि से कुछ व्यक्तियों को आत्मघात का भ्रम होता है किन्तु सम्यक् परिशीलन से यह भ्रान्ति दूर हो जाती है।[243] पूज्यपाद का कहना है कि आत्मघात राग दोष के कारण किया जाता है जब कि संलेखनाव्रत लेने वाले का राग द्वेष पहले ही उपशान्त हुआ रहता है।[244]

संलेखना को उस अवस्था में न्यायसंगत माना जायेगा। यदि शरीर व्रतों के अनुपालन की दृष्टि से असमर्थ हो गया हो। संलेखना दुर्भिक्ष, विपत्ति, वृद्धावस्था, रोग तथा आध्यात्मिक क्रियाओं के करने में बाधा उपस्थित हो जाये तो सम्मत है।[245] संलेखना उस समय भी की जा सकती है यदि प्राकृतिक मृत्यु आसन्न हो।[246] आत्म नियन्त्रण द्वारा मृत्यु का स्वेच्छिक वरण उस अवस्था से श्रेष्ठतर है जिसमें उस जीवन को निरर्थक रूप से बचाया जाये जिसकी चिकित्सक भी सहायता नहीं कर पा रहे हों।[247]

जिस समय इन्द्रिय शक्तियां क्षीण हो जाती हैं तब आत्म नियन्त्रण संलेखना से अधिक कठिन हो जाता है। यदि अन्त समय में मस्तिष्क नियन्त्रित व शुद्ध नहीं रहे तो जीवन भर का आत्म नियन्त्रण, तपस्या, स्वाध्याय, उपासना और दान व्यर्थ हो जाता है। जिस प्रकार कि शस्त्रनिपूण्ण राजा का सारा कौशल अकारथ हो जाता है यदि युद्ध भूमि में जाकर वह मूर्छित हो जाये।[248]

संलेखना लेने वाले को स्नेह और बैर को त्याग कर सर्वक्षमादान करना चाहिए और सबसे क्षमा की याचना करनी चाहिए। अपने कृत, कारित तथा अनुमत दुष्कार्यों का प्रायश्चित करना चाहिए। उसे असन्तोष, दुख:, भय तथा क्लेश से निर्बन्ध होकर सबसे पहले ठोस आहार त्यागना चाहिए, फिर द्रव्य मेवों को और अन्त में अम्लपेयों को[249] फिर सिर्फ अनशन करे तथा अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा मुनि का स्मरण कर शरीर त्यागे।

दिगम्बर परम्परा में संलेखना के पांच अतिचार माने गये हैं[250]:

(1) जीविताशंसा—जीने की इच्छा,
(2) मरणाशंसा—मरने की इच्छा,
(3) मित्रानुराग—मित्रों की स्मृति,

(4) सुखानुबन्ध—अतीत के सुखों को दोहराना।
(5) निदान—भविष्यत समृद्धि की अपेक्षा।

श्वेताम्बर परम्परा संलेखना के अतिचारों को इस प्रकार बताती है[251]—

(1) इहलोकाशंसा—संसार के लिए तीव्र इच्छा।
(2) परलोकाशंसा—दूसरे लोक की तीव्र इच्छा।
(3) जीविताशंसा—जीवन की इच्छा।
(4) मरणाशंसा—मृत्यु की इच्छा।
(5) कामभोगाशंसा—इन्द्रिय सुखों की इच्छा।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं

प्रतिमा का अर्थ है प्रतिज्ञा विशेष, नियम विशेष, व्रत विशेष, तप विशेष अथवा अभिग्रह विशेष।[252] यह प्रतिमाएं साधना की क्रमशः बढ़ती हुई अवस्थाएं हैं। अतः उत्तरवर्ती प्रतिमाओं में पूर्ववर्ती प्रतिमाओं का समावेश स्वयं ही हो जाता है। जब श्रावक ग्यारहवीं तथा अन्तिम प्रतिमा की आराधना करता है तब उसमें प्रारम्भ से अन्तिम तक समस्त प्रतिमाओं के गुण रहते हैं।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं ये हैं :

(1) दर्शन श्रावक प्रतिमा,
(2) कृतव्रत श्रावक प्रतिमा,
(3) कृत सामायिक प्रतिमा,
(4) पौषधोपवास निरत,
(5) दिन में ब्रह्मचारी और रात्रि में परिमाण करने वाला।
(6) दिन और रात में ब्रह्मचारी, स्नान न करने वाला, दिन में भोजन करने वाला और कच्छा न बांधने बाला।
(7) सचित्त परित्यागी,
(8) आरम्भ परित्यागी,
(9) प्रेष्य परित्यागी,
(10) उदिष्ट भक्त परित्यागी, तथा
(11) श्रमण भूत।[253]

उक्त प्रतिमाएं दिगम्बर परम्परा के अनुसार हैं, श्वेताम्बर परम्परा में एकादश

नाम यह हैं–

(1) दर्शन,
(2) व्रत,
(3) सामायिक,
(4) पौषध,
(5) नियम,
(6) ब्रह्मचर्य,
(7) सचित्त त्याग,
(8) प्रारम्भ त्याग,
(9) प्रेष्य परित्याग अथवा परिग्रह त्याग,
(10) उद्दिष्ट भक्त त्याग तथा
(11) श्रमण भूत।

दर्शन प्रतिमा

इसमें सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। क्योंकि यह साधना की प्रथमावस्था है अत: साधक से मांस, मदिरा आदि के त्याग की अपेक्षा की जाती है। इस आरम्भिक अवस्था में ही श्रावक से रात्रि भोजन त्याग की आशा की जाती है। इस अवस्था में श्रावक को पांच उदुम्बर फलों, द्यूत, मृगया, मांस, मदिरा, मधु, वेश्यागमन, व्यभिचार तथा चोरी त्यागने की अपेक्षा की जाती है।[254] पांचों अणुव्रत तथा मूल गुण प्रतिमा से संयुक्त हैं।

व्रत प्रतिमा

इसमें शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, पौषधोपवास आदि धारण किये जाते हैं।

सामायिक प्रतिमा

इसके अन्तर्गत सामायिक एवं देशावकाशिक व्रतों की सम्यक् आराधना की जाती है। चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन पौषधोपवास व्रत का पालन नहीं होता।[255]

पौषध प्रतिमा

इसमें चतुर्दशी आदि के दिनों में परिपूर्ण पौषधव्रत का सम्यक् पालन किया जाता है।

नियम प्रतिमा

इसमें स्थित श्रावक निम्नोक्त पांच नियमों का पालन विशेष रूप से करता है[256]

(1) स्नान नहीं करना,
(2) रात्रि भोजन नहीं करना,
(3) धोती की लांघ नहीं लगाना,
(4) दिन में ब्रह्मचारी रहना एवं रात्रि में मैथुन की मर्यादा करना।
(5) एक रात्रि की प्रतिमा पालन करना अर्थात् महीने में कम-से-कम एक रात कामोत्सर्ग अवस्था में ध्यानपूर्वक व्यतीत करना।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा

दिन की भांति रात्रि में भी ब्रह्मचर्य का पालन करना। इसमें केवल सम्भोग का ही त्याग नहीं है अपितु किसी भी प्रकार का स्त्री साहचर्य निषिद्ध है। विभूषा वर्जित है।[257]

सचित्त त्याग प्रतिमा

सब प्रकार से सचित्त आहार का परित्याग तथा दूसरों को भी ऐसे आहार देने का परित्याग।[258]

आरम्भत्याग प्रतिमा

सभी सांसारिक व्यवसायों जैसे सेवा, कृषि तथा वाणिज्य व्यापार का त्याग। साधक को इस प्रतिमा के अन्तर्गत न तो किसी अन्य को इन व्यवसायों को करने के लिए कहना चाहिए न ही अपनी सम्मति देनी चाहिए।[259]

परिग्रह त्याग प्रतिमा

आरम्भ के निमित्त किसी को भी भेजने-भिजवाने का त्याग। मात्र कुछ वस्तुओं के अतिरिक्त सभी वस्तुओं का परिग्रह। यहां परिग्रह के अन्तर्गत केवल बाह्य सम्पत्ति ही नहीं आती अपितु आन्तरिक दोष, यौन अभिलाषा, पर में ममत्व, हास्य, काम-वासना, राग तथा विराग भी आते हैं।[260] श्वेताम्बर इसे प्रेष्यत्याग प्रतिमा भी कहते हैं।[261] अनुमतित्याग प्रतिमा भी यही है। इसका अर्थ है सभी विषयों से इन्द्रियों को हटा कर भाग्य के अधीन कर देना।[262]

उदिष्ट भक्त त्याग प्रतिमा

इस प्रतिमा में स्थित श्रावक उस्तरे से मुण्डित होता हुआ शिखा धारण करता है

अर्थात् सिर को एकदम साफ न कराता हुआ चोटी जितने बाल सिर पर रखता है। वह क्षुल्लक अर्थात् दो वस्त्र पहनता है अथवा केवल एक अधोवस्त्र पहनता है। हाथ में पीछी झाड़ू रखता है तथा दिन में केवल एक बार भोजन करता है, पाणिपात्र कमण्डलु होता है तथा प्रत्येक पर्व पर उपवास रखता है।

श्रमणभूत प्रतिमा

इस प्रतिमा मे स्थित श्रावक श्रमण के समान आचरण करता है। वह उन स्थानों से मांग कर भोजन लेता है जहां से मुनि लेते हैं।[263]

इस प्रकार जैन आचारशास्त्र में मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका समान महत्वपूर्ण हैं। श्रावक श्राविका इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उनके सहयोग के अभाव में मुनिचर्या सुगम नहीं होती। श्रावकों में से ही मुनि बनते हैं। इस प्रकार जैन श्रावक का आचार मुनि के आचार की नींव है। सच्चा जैन श्रावक आदर्श गृहस्थ तथा भविष्य का मुनि होता है।

जैन शास्त्रों के अनुसार जैन श्रावकों से ग्यारह प्रकार के आचरण की अपेक्षा की जाती है[264]

(1) न्यायपूर्वक धन कमाएं,
(2) गुणीजनों का आदर करें,
(3) मीठी वाणी बोलें,
(4) धर्म, अर्थ और काम का सेवन इस प्रकार करे कि किसी अन्य के लिए बाधक न हो,
(5) लज्जाशील हो,
(6) आहार और विहार से मुक्त रहे,
(7) सदा सज्जनों की संगति में रहे,
(8) शास्त्रज्ञ हो,
(9) कृतज्ञ हो,
(10) दयालु हो,
(11) जितेन्द्रिय हो।

जैन आचारशास्त्र का समन्वयवादी दृष्टिकोण

आचार शास्त्र की प्रकृति और परिभाषा दोनों ही दृष्टि से जैन परम्परा का दृष्टिकोण समन्वयवादी एवं सर्वांगीण है। जैन विचारणा सिद्धान्त और व्यवहार को परम्पर सापेक्ष मानती है। उसकी दृष्टि में आचार दर्शन का कार्य न केवल नैतिकता की

समस्याओं का बौद्धिक विश्लेषण है वरन् सम्यक् जीवन जीने की कला का निर्देशन भी है। नीतिशास्त्र की अध्ययन विधि के सम्बन्ध में भी दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। वह व्यवहार एवं निश्चय नय के रूप में अनुभवात्मक और अनुभवातीत दोनों ही विधियों को स्वीकार करता है। उसके अनुसार नैतिक साध्य और आचरण के आन्तरिक पक्ष का अध्ययन निश्चय नय के आधार पर और आचरण के बाह्य रूप का अध्ययन व्यवहार नय के आधार पर किया जाता है। जैन दर्शन में आचरण का आन्तरिक पक्ष निरपेक्ष और बाह्य पक्ष देशकाल सापेक्ष माना गया है। कर्म की नैतिकता सापेक्ष है लेकिन चित्त वृत्ति की नैतिकता निरपेक्ष है।

नैतिक निर्णय के विषय के सम्बन्ध में जैन दर्शन कर्म प्रेरक एवं वांछित कर्म परिणाम दोनों को ही नैतिक निर्णय का विषय मानता है। जहां तक निष्पन्न कर्म परिणाम का प्रश्न है वह नैतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना गया है फिर भी व्यावहारिक एवं सामाजिक दृष्टि से उसे उपेक्षित नहीं किया गया है।[265]

नैतिक प्रतिमान के सम्बन्ध में भी जैन परम्परा समन्वयवादी है। उसमें पाश्चात्य परम्परा में विवेचित विभिन्न नैतिक प्रतिमानों को स्वीकार कर लिया गया है। यद्यपि उसका झुकाव वीतरागता निष्काम भाव एवं आत्म पूर्णता के मानक के प्रति अधिक है। नैतिक जीवन का परमश्रेय राग-द्वेष से रहित चेतन की शुद्ध दशा की उपलब्धि को माना गया है जो स्वभावत: आत्मपूर्णता की दिशा में ले जाती है।

जैन चिन्तन एक ऐसा तत्वदर्शन देता है जिसमें आचार दर्शन की स्पष्ट सम्भावना हो। उसकी तत्वमीमांसा की प्रकृति मूलत: नैतिक है। वह परमतत्व की एकान्त कूटस्थ एवं अद्वैतवादी धारणा को इसलिए अस्वीकार करता है क्योंकि उसमें कर्मफल व्यतिक्रम को नहीं समझा जा सकता और मूल प्रणाश एवं अकृतभोग के दोष उपस्थित हो जाते हैं।

नैतिकता की प्रमुख मान्यताओं के रूप में आत्मा की अमरता को स्वीकार किया गया है। नियतिवाद और संकल्प स्वातन्त्र्य की धारणाओं में जैन दर्शन एक सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार आत्मा तात्विक क्षमता की अपेक्षा से ही स्वतन्त्र है। वस्तुत: व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है, व्यक्ति के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता तथ्य नहीं संभावना है। नैतिक जीवन के माध्यम से जीव वासनाओं के आवरण से मुक्त हो कर स्वतन्त्रता का लाभ उठा सकता है जो उसकी आत्मा का सत्य स्वरूप है। जैन दर्शन के अनुसार जीव स्वयं ही अपने बन्धन का सर्जक है और उससे मुक्त होने की क्षमता भी उसी में है।

जैन परम्परा में निर्वाण नैतिक जीवन का साध्य माना गया है। जैन परम्परा में निर्वाण आत्मा की ज्ञानात्मक, मूल्यात्मक और संकल्पनात्मक पक्षों की पूर्णता तथा तनाव और क्षोभ से रहित शाश्वत आनन्द की समत्वपूर्ण अवस्था है। बौद्ध और

वैदिक परम्परा के अनुरूप जैन दर्शन में जीवन मुक्ति का प्रत्यय स्वीकार किया गया है। उसमें जीवन्मुक्ति का तात्पर्य रागद्वेष से रहित अवस्था है।

जैन आचार परम्परा में नैतिक बुराई का आधार आसक्ति या राग को माना गया है। राग की उपस्थिति में द्वेष सहज ही प्रकट हो जाते हैं और इन्हीं अवस्थाओं से क्रोध, मान, माया और माह इन चार कषायों का प्रादुर्भाव होता है। इन कषायों से ऊपर उठकर चारित्रिक प्रगति के लिए जैन परम्परा में समत्व योग के सामायिक को दर्शन परम्परा का केन्द्रीय तत्व माना गया है। समत्व योग की उपलब्धि के लिए सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र के त्रिविध साधना पथ का विधान किया गया है। जैन आचार की यह विशेषता है कि उसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति श्रद्धा में से किसी एक को मोक्ष का साधन नहीं माना गया है वरन् तीनों के समन्वय पर बल दिया गया है।

जैन आचार दर्शन व्यावहारिक एवं सामाजिक जीवन में समत्व के संस्थापन के लिए भी अहिंसा, अनाग्रह अनेकान्त और अनाशक्ति के रूप में एक दूसरा त्रिविध मार्ग प्रस्तुत करता है। आचार में अहिंसा, विचार में अनाग्रह और वृत्ति में अनासक्ति यही जैन आचार का अन्तिम निष्कर्ष है। अनाग्रह अनेकान्त से वैचारिक संघर्ष एवं विषमताओं का निराकरण होता है तथा समन्वय की सृष्टि होती है।

उपसंहार

जैन आचार दर्शन की गीता और बौद्ध आचार दर्शन के साथ तुलना करने पर हमें ज्ञात होता है कि तत्व दर्शन और बाह्य नियमों सम्बन्धी कुछ मतभेदों को छोड़कर सामान्यतया उनमें विलक्षण साम्य परिलक्षित होता है। इन सभी का आचार सम्बन्धी मूलभूत दृष्टिकोण तो समान ही है। यदि आर्हत प्रवचन का अन्तिम निष्कर्ष राग-द्वेष का क्षय है तो गीता के उपदेश का अन्तिम हार्द आसक्ति का त्याग है और बुद्ध की देशना का सार तृष्णा पर प्रहार है। इस प्रकार तीनों ही परम्पराओं के मूल तन्तुओं में कोई दूरी नहीं रह जाती है। अनासक्त, वीततृष्णा या वीतरागी जीवन दृष्टि का उदय ही इन सभी आचार दर्शनों का साध्य है।

जैन आचार शास्त्र में निरूपित आचार संहिता अत्यन्त व्यापक और विस्तृत है। उसमें प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक कोटि के व्यक्ति के अनुकूल आचरण का विधान किया गया है। उद्देश्य यह है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास हो और वह अपने मन के विकारों से क्रमशः निवृत्त होता जाये और संसार के प्रति उपशान्त होकर जीवन व्यतीत करें।

इस आचारशास्त्र की यह अनुपम विशेषता है कि यह कहीं भी कट्टर नहीं है। इसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उसकी व्यक्तिगत दुर्बलताओं का पूरा-पूरा ध्यान

रखा गया है। जिससे व्यक्ति आचार संहिता को बन्धन रूप न मानकर मित्रवत स्वीकार कर सके। विचारक आगस्टाइन की भांति जैन आचार शास्त्री यह कहते है कि तुम केवल प्रेम करना सीख लो, शेष बातों की चिन्ता मत करो। जैन आचार शास्त्र में अहिंसा को धर्म का साधन और साध्य दोनों ही रूपों में स्वीकार किया गया है। इसी से यह सार्वभौम एवं सनातन है।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. उत्तरज्झयणाणि सानु०, 21/11 पृ० 279।
2. वही, 21/12, पृ० 279।
3. सूक्ष्मा न प्रतिपीडयन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः।
   ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः।।- द्र० जैनधर्म, पृ० 16।
4. एस० गोपालन, जैन दर्शन की रूपरेखा, पृ० 145।
5. द्र० टी०जी० कालघटगी, जैन व्यू ऑफ लाइफ, पृ० 163।
6. जैन दर्शन की रूपरेखा, पृ० 146।
7. इन्हें इस प्रकार भी कहा गया है- अनुविचिन्त्य भाषणता, क्रोधविवेक, लोभविवेक, भयविवेक, हास्यविवेक - द्र० उत्तराध्ययन सूत्र साध्वी चन्दना, पृ० 466।
8. उत्तराध्ययन, साध्वी चन्दना, टिप्पण, पृ० 466।
9. वही
10. जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं पियाण सवभावं।
    जदि लं ण हि सवभावं वावारोणत्यि विसयत्थं।।
    —उत्तरज्झयणाणि सानु० 21/13 पृ० 279 तथा 35/3, पृ० 493।
11. उत्तरज्झयणाणि सानु०, अध्य० 16 वम्भचेरसमाहिठाणं, पृ० 199-209।
12. स्थानांगसूत्रम् (ठाणं), लाडनूं संस्करण 9/3-4, पृ० 845-47। स्थानांग वृत्तिकार ने एक के बाद एक आने वाले इन काम विकारों का उल्लेख किया है जिससे उन्माद आदि रोग ही उत्पन्न नहीं होते अपितु व्यक्ति मृत्यु द्वार तक जा पहुंचता है। यह हैं - काम के प्रति अभिलाषा, उसको प्राप्त करने की चिन्ता, उसका सतत् स्मरण, उसका उत्कीर्तन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता या अकर्मण्यता तथा मृत्यु। स्थानांगवृत्ति, पत्र 423-24।
13. समवायांग, समवाय 9/1-8।
14. उत्तराध्ययन में जो दसवां स्थान है वह स्थानांग और समवायांग का आठवां स्थान है। अन्य स्थानों का वर्णन समान है। केवल उत्तराध्ययन का पांचवां स्थान शेष दो में नहीं है।
15. समवायांग में इसके स्थान पर - निर्ग्रन्थ स्त्री समुदाय की उपासना न करे - ऐसा पाठ है।
16. दक्षस्मृति, 7/31-33: द्र० उत्तरज्झयणाणि सानु० अ० 16 आमुख पृ० 197
17. वही।
18. उत्तरज्झयणाणि सानु० 35/4,5,6,7। तु० दीर्घनिकाय महापरिनिवार्ण सुत्त 2/3 जिसके अनुसार बुद्ध से आनन्द ने पूछा - भंते । स्त्रियों के साथ कैसा व्यवहार करेंगे?
    "अदर्शन, आनन्द।"
    "दर्शन होने पर भगवान कैसा वर्ताव करेंगे"?

''आलाप न करना, आनन्द।''
बातें करने वाले को कैसा करना चाहिए?
स्मृति को संभाले रखना चाहिए।

19. उत्तराध्ययन सूत्र साध्वी चन्दना, पृ० 466।
20. श्री जैन सिद्धान्त बल संग्रह, जि० 6, पृ० 228-230 तथा उत्तरज्झयणाणि सानु०, 19/14 तथा 31/18, पृ० 243, 436 तथा उत्तरज्झयणं सटिप्पण, पृ० 298 तु० समवायांग, समवाय 9। वृहद्वृत्ति, पत्र 616 में इस सूची में कुछ अन्तर है :
क्यददक्क मिंदियाणं च, निमाहो भावं करणसच्चं च।
खमयाविरागयाविय, मणमाईणं णिरोहो य।।
तह मारणंतिय हियासणया ए ए णगारगुणा।। - तु० मूलाचार, 1/2-3: प्रवचनसार, 3/8-8, तथा अनागार धर्मामृत, 9/84,85।
21. उत्तराध्ययन, 19/25-30।
22. उत्तरज्झयणाणि सानु० आमुख अ० 24, पृ० 321।
23. मूलाराधना, आश्वास 6, श्लो० 1185।
24. उत्तराध्ययन, 24/3। मन, वाणी और शरीर के गोपन को उत्सर्ग या विसर्जन को गुप्ति तथा सम्यक् गति; भाषा; आहार को एषणा; उपकरणों का ग्रहण निक्षेप और मलमूत्र आदि के उपसर्ग को समिति कहा गया है।
25. उत्तराध्ययन, 24/1, पृ० 325।
26. वही, 24/5।
27. वही, 24/6।
28. वही, 24/8।
29. वही।
30. वही, 24/9।
31. वही, 24/10।
32. उत्तरज्झयणाणि सानु० 24/11 पृ० 326।
33. वही, 24/12, पृ० 327।
34. वही, 24/13।
35. वही, 24/14।
36. वही, 24/15।
37. वही, 24/17।
38. वही, 24/18।
39. मूलाराधना, 6/1200।
40. वही, 6/1202।
41. उत्तरज्झयणाणि, अ० 24, आमुख पृ० 322।
42. मूलाराधना, 6/1185।
43. उत्तराध्ययन, 24/20-21।
44. वही, 24/22-23।
45. वही, 24/24-25।
46. आचारांग सूत्र आत्माराम जी महाराज, द्वि० श्रुत० अ० 11, पृ० 1319।
47. डा० सागरमल जैन, जैन नैतिक दर्शन की मनोवैज्ञानिक समीक्षा, तुलसी प्रज्ञा, द्वितीय

खण्ड अंक 7-8 जुलाई-दिसम्बर, 1976।
48. उत्तराध्ययन, 32/100।
49. उत्तरज्झयणाणि सानु० 32/106, 107, 108 पृ० 460।
50. वही, 32/74-86।
51. वही, 32/61-73।
52. वही, 32/46-60।
53. वही, 32/22-34।
54. वही, 32/35-45।
55. वही, 32/87-99।
56. उत्तराध्ययन, 32/101।
57. वही, 32/101।
58. वही, 32/104।
59. वही, 31/10 : उत्तरज्झयणं टिप्पण 2/26, पृ० 21, तु० स्थानांग, 10/712 तथा समवायांग : समवाय 10, श्वेताम्बरों की विभिन्न सूची के लिए द्रष्टव्य, दी डाक्ट्रिन आफ दी जैनज, पृ० 305-6।
60. भट्ट अकलंक, तत्वार्थसूत्र, 9/6, पृ० 958।
61. मनुस्मृति, 9/6/91।
62. उत्तरज्झयणाणि सानु०, 31/11 पृ० 434: उत्तरज्झयणं सटि० पृ० 291।
63. उत्तराध्ययन सूत्र साध्वी चन्दना, पृ० 461।
64. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा 69।
65. सूत्रकृतांग, 1/2/1/14।
66. उत्तराध्ययन, 30/27 तथा औपपातिक सूत्र, 19।
67. सुत्तनिपात, उरगवग्ग, 3/18।
68. उत्तराध्ययन 2/2-3
69. वही, 2/4-5।
70. उत्तराध्ययन, 2/6-7।
71. वही, 2/8-9।
72. वही, 2/10-11।
73. वही, 2/13।
74. वही, 2/7।
75. वही, 2/17।
76. उत्तराध्ययन, 2/19।
77. वही, 2/20।
78. वही, 2/22।
79. वही, 2/24-25।
80. वही, 2/26-27।
81. वही, 2/30
82. वही, 2/34-35।
83. वही, 2/28-29।
84. वही, 2/33।

85. वही, 2/37।
86. वही, 2/38-39।
87. वही, 2/41।
88. वही, 2/43।
89. वही, 2/45।
90. मूलाचार, 7/15 तथा उत्तराध्ययन, 26/2-4। द्र० दयानन्द भर्गव, जैन इथिक्स, पृ० 166।
91. प्रवचनसार का परिचय कुन्दकुन्दाचार्यकृत, ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित
92. नियमसार, 124 सैक्रेड बुक्स आफ दी जैनज् जि० 9 पृ० 57।
93. मूलाचार, 7/22/32 तथा अनागार धर्मामृत, 8/18।
94. वही, 7/17।
95. वही, 8/19-26।
96. वही, 8/24 द्र० इथिकल डाक्ट्रिन्स इन जैनिज्म, पृ० 139।
97. मूलाचार, 7/59।
98. वही, 7/62।
99. वही, 7/63।
100. वही, 7/64।
101. वही।
102. वही, 7/65।
103. वही, 7/67।
104. वही, 7/69।
105. वही, 7/70।
106. वही, 7/95 तथा अनागार धर्मामृत, 8/52।
107. मूलाचार, 7/106-111।
108. वही, 7/100 तथा अनागार धर्मामृत, 8/53।
109. मूलाचार, 1,26 : द्र० जैन इथिक्स, पृ० 168।
110. वही, 7/116।
111. वही, 7/120।
112. वही, 7/121।
113. वही, 7/125।
114. वही, 7/126।
115. द्र० जैन इथिक्स, पृ० 170।
116. मूलाचार, 7/132-133।
117. मूलाचार, 28 : द्र० इथिकल डाक्ट्रिन्स इन जैनिज्म, पृ० 140।
118. इथिकल डाक्ट्रिन्स इन जैनिज्म, पृ० 650।
119. वही, 651।
120. उत्तरज्झयणाणि सानु०, 26/11, पृ० 351।
121. *वही, 26/12।*
122. वही, 26/17-18 पृ० 352।
123. द्र० जैनधर्म, पृ० 86।

124. उत्तराध्ययन उत्तरज्झयणाणि, 26/11।
125. वही, 26/22, 29।
126. वही, 26/31-34।
127. उत्तरज्झयणाणि सानु०, 26/35, पृ० 356।
128. वही, 26/37-38।
129. वही, 26/38।
130. वही, 26/39-40।
131. वही, 26/44-45।
132. द्र० हिस्ट्री आफ जैन मौनेकिज्म, पृ० 158।
133. आचारांग एस०बी०ई० - 2, 3/1/4-5, पृ० 137।
134. कल्पसूत्र एस०बी०ई० यति के लिए नियम 2/9 पृ० 297 तथा 27/62, पृ० 310।
135. वही, नियम 5/17, पृ० 298।
136. वही, नियम 11, 12/28-30, पृ० 301-302।
137. वही, नियम 22/56-57, पृ० 308।
138. वही, नियम 24/59 पृ० 309।
139. द्र० उत्तरज्झयणं सानु० अध्य० 5, आमुख, पृ० 64।
140. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 57-61।
141. द्र० उत्तरज्झयणाणि सानु०, अध्य० 5 आमुख पृ० 57।
142. भगवती 211, सूत्र 90।
143. वही।
144. ठाणं लाडनूं संस्करण, 4/519 पृ० 255।
145. समवायांग, समवाय 17, पत्र 33।
146. (क) मूलाराधना, आश्वास 1, गाथा 25। (ख) विजयोदयावृत्ति, पत्र 87।
147. समवायांग, समवाय 17 वृत्ति, पत्र 34।
148. विजयोदयावृत्ति, पत्र 87।
149. (क) समवायांग समवाय 17 वृत्ति पत्र 34। (ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा 216। (ग) विजयोदयावृत्ति, पत्र 87।
150. वही।
151. वही।
152. भगवती, 219 सू० 90 वृत्ति पत्र 211।
153. विजयोदयावृत्ति, पत्र 89-90।
154. भगवती 2/1 सू० 90 वृत्ति पत्र 211।
155. वही
156. (क) समवायांग समवाय 17 वृत्ति पत्र 34। (ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा 221। (ग) विजयोदयावृत्ति, पत्र 87।
157. भगवती 2/1, सू० 90 वृत्ति पत्र 211।
158. विजयोदयावृत्ति, पत्र 88।
159. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा 222।
160. विजयोदयावृत्ति, पत्र 88।
161. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा 223 द्र० उत्तरज्झयणं, सानु०, पृ० 61।

162. (क) भगवती, 2/1 सू० 90 वृत्ति पत्र 211, (ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा 224।
163. वही।
164. वही, गाथा 225।
165. (क) भगवती, 2/1 सू० 90 वृत्ति, (ख) समवायांग, समवाय 17 वृत्ति पत्र 35, (ग) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा 225 वृत्ति, पत्र 235।
166. विजयोदयावृत्ति, पत्र 113 द्र० उत्तरज्झयणं सानु०, पृ० 62।
167. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 61, द्र० वही।
168. भगवती, 2/1, सू० 90 वृत्ति पत्र 212।
169. यथा नदी नदा: सर्वेसागरे यान्ति संस्थितिम्।
तेथवाश्रमिण: सर्वेगृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।।
—मनुस्मृति चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला 6/90।
170. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृ० 33।
171. वही, पृ० 35।
172. द्र० जैन इथिक्स, पृ० 102।
173. उपासक दशांग, राजकोट 1961, पृ० 201-244।
174. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृ० 51-66।
175. वही, पृ० 21।
176. छान्दोग्य उपनिषद्, 3/17/4: तैत्तिरीय उपनिषद्, 1-9।
द्र० जैन इथिक्स पृ० 103।
177. आचारांगसूत्र में और भी तीन व्रतों का उल्लेख है। एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 63।
178. बौधायन 2/10/18 एस०बी०ई० जि० 22 भूमिका, पृ० 23 सं उद्धृत।
179. योग सूत्र, 2/30।
180. स्थानांगसूत्र 4/1/266 : द्र० जैन इथिक्स, पृ० 103।
181. उत्तराध्ययन, 23/26-27।
182. मूलाचार, 1/30।
183. मनुस्मृति, 5/45-55।
184. वही, 5/56।
185. जीवो जीवस्य जीवनम्। श्रीमदभागवतपुराण, गीताप्रेस वि० सं० 2010 1/14/46।
186. मुनि नथमल, अहिंसा तत्व दर्शन, चुरु 1960, पृ० 85-86।
187. अमितगति श्रावकाचार, 6/6-7।
188. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 53।
189. अमितगति श्रावकाचार, 6/8।
190. ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म''—तैत्तिरीयोपनिषद, 2/1/1: तथा ऋतंच सत्यंचाभीद्रस्तपसो ध्यजायत—ऋग्वेद, 10/190/1।
191. द्र० दिवाकर पाठक : भारतीय नीतिशास्त्र, पृ० 119।
192. मनुस्मृति, 4/138।
193. द्र० भारतीय नीतिशास्त्र, पृ० 120।
194. जैन दार्शनिक इस बात को भली भांति जानते थे कि अपने दैनिक जीवन में श्रावक कटु वचनों का पूर्ण त्याग नहीं कर सकता। विशेषत: अपने घर में, धन्धे में, और जीवन तथा सुरक्षा के मामले में। अत: इन मामलों में अपवाद बनाये गये थे और अन्य मामलों में

असत्य से बचने के नियम बनाये गये थे। निषेधात्मक रूप में सत्य का यह भी अर्थ है कि व्यक्ति अतिशयोक्ति न दिखाये और अवगुण खोजने तथा असभ्य बातचीत में न उलझे। सत्य का स्पष्ट अर्थ है उपयोगी, सन्तुलित तथा सारगर्भित शब्दों को बोलना।

195. जैन दर्शन की रूपरेखा, पृ० 148।
196. द्र० भारतीय नीतिशास्त्र, पृ० 130।
197. यावद्भ्रियेत जठरं तावस्त्वत्वंहि देहिनाम।
अधिकं यो भिमन्यते स स्तैन: इति कथ्यते।।
198. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, पृ० 103: द्र० जैन दर्शन की रूपरेखा, पृ० 149 तथा जैन इथिक्स, पृ० 119: सागारधर्मामृत, 4/48।
199. द्र० जैन दर्शन की रूपरेखा, पृ० 149।
200. वही, पृ० 150।
201. द्र० भारतीय नीतिशास्त्र, पृ० 122।
202. उत्तराध्ययन, अ० 16।
203. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मिथ्याचार: स उच्यते।। गीता अ० 3/6।
204. अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, पृ० 61।
205. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृ० 66।
206. अमितगति श्रावकाचार, 5/i।
207. वसुनन्दि श्रावकाचार, 59।
208. तत्वार्थसूत्र, 7/16 : द्र० जैन इथिक्स, पृ० 125: श्वेताम्बर परम्परा में नामों में कुछ फेरबदल है। द्र० उपासक दशांग-I, II पृ० 216-26 किन्तु अन्तर मौलिक न होकर केवल आचार्यों का परम्पराभेद दर्शाता है।
209. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृ० 67,70।
210. सागारधर्मामृत, 5/1।
211. उपासक दशांग, 1/50 : तुल० तत्वार्थसूत्र, 7/25।
212. द्र० जैन धर्म, पृ० 88।
213. द्र० पूज्यपादकृत तत्वार्थसूत्र, 7/31।
214. वही।
215. वही।
216. वही।
217. वही।
218. द्र० इथिकल डाक्ट्रिन्स इन जैनिज्म, पृ० 97।
219. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 344 : रत्नकरण्डश्रावकाचार, 78।
220. द्र० जैन इथिक्स, पृ० 128।
221. वही।
222. योगशास्त्र, 5/9, पृ० 171।
223. द्र० जैन इथिक्स, पृ० 129।
224. तत्वार्थसूत्र, 7/27 तथा उपासकदशांग, 1/52।
225. पूज्यपादकृत तत्वार्थसूत्र, 7/21।
226. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृ० 102।

227. इथिकल डाक्ट्रिन्स इन जैनिज्म, पृ० 102।
228. सिद्धसेनगणि कृत तत्वार्थसूत्र, 7/16।
229. तत्वार्थ सूत्र उमास्वाति, 7/16 : द्र० जैन इथिक्स, पृ० 135।
230. तत्वार्थसूत्र पूज्यपाद 7/34।
231. तत्वार्थसूत्र सिद्धसेनगणि, 7/29।
232. वही, 7/34।
233. तत्वार्थसूत्र, पूज्यपाद, 7/28-29।
234. वही।
235. द्र० जैन धर्म, पृ० 88।
236. द्र० जैन इथिक्स, पृ० 130।
237. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 87 तथा सागार धर्मामृत, 5/14 में उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत को यम तथा नियम कहा गया है।
238. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृ० 88-89 : जैन इथिक्स, पृ० 132।
239. द्र० जैन इथिक्स, पृ० 137।
240. वसुनन्दि श्रावकाचार, 220-21: पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 171: अमितगति श्रावकाचार, 10/4 : सागार धर्मामृत, 5/44।
241. एथिक्ल डाक्ट्रिन्स इन जैनिज्म, पृ० 107।
242. द्र० जैन इथिक्स, पृ० 139।
243. द्र० जैन धर्म, पृ० 89।
244. न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादय सन्ति ततौ नात्मवधदोषः।
द्र० तत्वार्थसूत्र पूज्यपाद, 7/22: सागारधर्मामृत, 8/8।
245. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 122।
246. सागारधर्मामृत, 8/20: अमितगति श्रावकाचार, 6/98।
247. सागारधर्मामृत, 8/7।
248. श्रावकः किल सकलस्य श्रावकधर्मस्योद्यपनार्थमिवान्ते संयम प्रतिपद्यते—योगशास्त्र हेमचन्द्र, 3/149 पृ० 272: द्र० जैन इथिक्स, 140।
249. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 127-28: द्र० एथिकल डाक्ट्रिन्स इन जैनिज्म, पृ० 118-19।
250. तत्वार्थसूत्र 7/32, अमितगति श्रावकाचार, 7/15 तथा सागारधर्मामृत, 8/45, द्र० जैन इथिक्स, पृ० 141।
251. उपासकदशांग, 1/57।
252. द्र० जैनधर्म, पृ० 89।
253. उत्तरज्झयणाणि सानु० 31/11, पृ० 434 सटिप्पण पृ० 291: दशवैकालिक उत्तराध्ययन, लाडनूं, पृ० 259: समवायांग, समवाय, 11।
254. वसुनन्दिन श्रावकाचार, पृ० 57, 59।
255. अभयदेव इसके अन्तर्गत केवल अणुव्रत पालन को रखते हैं।
256. उपासकदशांग द्र० इथिकल डाक्ट्रिन्स इन जैनिज्म, पृ० 112।
257. सागार धर्मामृत, 7/27: द्र० जैन इथिक्स, पृ० 144।
258. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 779-80।
259. वसुनन्दिन श्रावकाचार, 299।
260. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचन्द्र, पृ० 386।

261. द्र० जैन इथिक्स, पृ० 145।
262. भवियव्वं भावंतो अणुमण विरओ हवे सो दु। द्र० वही
263. द्र० इथिकल डाक्ट्रिन्स इन जैनिज्म, पृ० 115।
264. द्र० जैन धर्म, पृ० 44।
265. डा० सागरमल जैन, जैन आचार दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, तुलसीप्रज्ञा अंक 5, सन् 1976, पृ० 72।

दिगम्बर परम्परा

	गुणव्रत			शिक्षाव्रत			
आचार्य	1	2	3	1	2	3	4
1. कुन्दकुन्द	दिग्व्रत	अनर्थदण्डव्रत	भोगोपभोग परिमाणव्रत	सामायिक व्रत	प्रौषधोपवास व्रत	अतिथि संविभाग	संलेखना
2. (i) उमास्वाति : (ii) चामुण्डराय (iii) अमृतचन्द्र संविभागव्रत (iv) सोमदेव (v) अमितगति	दिग्व्रत	देशावकाशिक	अनर्थदण्डव्रत	सामायिक व्रत	प्रौषधोपवास व्रत	भोगोपभोग परिमाणव्रत	अतिथि
3. (i) समन्तभद्र (ii) आशाधर	दिग्व्रत	अनर्थदण्डव्रत	भोगोपभोग परिमाणव्रत	देशव्रत	सामायिक व्रत	प्रौषधोपवास	वैयावृत्य
4. कार्तिकेय	दिग्व्रत	अनर्थदण्डव्रत	भोगोपभोग परिमाणव्रत	सामायिक व्रत	प्रौषधोपवास व्रत	अतिथिसंविभाग	देशव्रत
5. वसुनन्दि	दिग्व्रत	देशव्रत	अनर्थदण्डव्रत	भोगविरति	परिभोग निवृत्ति	अतिथिसंविभाग	संल्लेखना

श्वेताम्बर परम्परा

1. उमास्वाति	दिग्व्रत	देशव्रत	अनर्थदण्डव्रत	सामायिक व्रत	प्रौषधोपवास	भोगोपभोग परिमाणव्रत	अतिथिसंविभाग व्रत
2. ग्रन्थ (i) श्रावक प्रज्ञप्ति (ii) उपासकदशा (iii) हरिभद्र (iv) हेमचन्द्र (v) यशोविजय	दिग्व्रत	अनर्थदण्ड व्रत	भोगोपभोग परिमाणव्रत	सामायिक व्रत	देशव्रत	प्रौषधोपवास व्रत	अतिथि संविभागव्रत

अध्याय 5

समाज दर्शन एवं समाज-व्यवस्था

यद्यपि जैन आचार परम्परा निवृत्तिपरक है और इस रूप में वह गृहस्थ जीवन की अपेक्षा श्रमण जीवन को अधिक महत्वपूर्ण मानती है, फिर भी उसमें सामाजिक जीवन एवं लोकहित की उपेक्षा नहीं की गयी है। जैन दर्शन में ऐसे लोकहित या परार्थ का अनुमोदन किया गया है जो हमारे आध्यात्मिक जीवन के विकास में बाधक न हो। जैन मान्यता यह है कि सच्चा लोक हित या परमार्थ तभी संभव होता है जबकि वह हमारे आध्यात्मिक विकास का सहगामी हो। वह स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय उस वीतराग अवस्था में करता है जिसमें मेरे और पराये का भाव ही नहीं होता है। उस अवस्था में जो लोकहित फलित होता है वही सच्चे अर्थों में लोक हित है। जैन परम्परा ऐसे ही लोकमंगल का समर्थन करती है।

जैन परम्परा के गृहस्थ एवं श्रमण आचार के नियम यद्यपि बाह्य रूप से व्यक्तिपरक और निषेधात्मक प्रतीत होते हैं तथापि उनकी मूलात्मा समाजपरक और विधायक ही है। जैन परम्परा की आचार नियमों के संदर्भ में जो गहन एवं विश्लेषणात्मक दृष्टि रही है वह बुराई के मूल कारणों की तह तक पहुंचकर उसका निराकरण करती है। जैन विचरणा सामाजिक एवं वैयक्तिक नैतिक स्वास्थ्य के अनुरक्षण के लिए नियमों का ऐसा सुरक्षित दुर्ग निर्माण करती है जिसमें नैतिक जीवन के घातक शत्रुओं के अल्पतम प्रवेश की अल्पतम ही संभावना रह जाती है। यद्यपि कुछ नियम वर्तमान परिस्थितियों में अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं और उनके प्रचलित वर्तमान रूपों ने उन्हें अधिक हास्यास्पद बना दिया है फिर भी सामान्यतया जैन आचार की नियम व्यवस्था आज भी सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन को शान्त और मधुर बनाने में बहुत कुछ सक्षम है। शर्त यही है कि उन नियमों की मूलात्मा को समझ कर उनका निष्ठापूर्वक पालन किया जाये।

भारतीय सामाजिक संस्थाएं भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतिरूपित करती हैं। ये संस्थाएं भारतीय जीवन की विधि को बताती हैं, भारतीय विचार आदर्श एवं

आकांक्षाओं से परिचित कराती हैं, तथा समाज व्यवस्था के मूलतत्वों का उद्घाटन करती हैं। इन सामाजिक संस्थाओं में वर्ण, जाति, कुटुम्ब, परिवार, स्त्रियों की दशा, सामाजिक संस्कार, विवाह संस्था, सामान्य आर्थिक जीवन, सामाजिक रीति रिवाज आदि प्रमुख विवेच्य विषय हैं।

जैन परम्परा के अनुसार आदिपुरुष भगवान ऋषभदेव की जीवन गाथा कला और संस्कृति, शिक्षा और साहित्य, धर्म और राजनीति का आदि स्रोत हैं। यह महाप्राण व्यक्तित्व दो युगों का संधिकाल है। जब अकर्म से जीवन में जड़ता छा रही थी और भोगासक्ति ने जीवन को नि:सत्व बना रखा था तब ऋषभदेव कर्मयुग के आदि सूत्रधार बने। उन्होंने अधर्म को कर्म की ओर प्रेरित किया, भोग को योग से परिष्कृत करने की कला सिखलाई। पुरुषार्थ जगा, कला का विकास हुआ, समाज की रचना हुई, राज्यशासन का निर्माण हुआ और धर्म एवं संस्कृति की पावन रेखाएं आकार पाने लगीं।[1]

वर्ण व्यवस्था

जैन परम्परा के अनुसार यौगलिकों के समय वर्ण व्यवस्था नहीं थी। सम्राट ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना की।[2] यह वर्णन आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, आवश्यक हरिभद्रीयावृत्ति, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र प्रभृति श्वेताम्बर ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से नहीं है।

यहां यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि वर्ण व्यवस्था की संस्थापना वृत्ति और आजीविका को व्यवस्थित रूप देने के लिए थी, न कि उच्चता व नीचता के कारण।

मनुष्य जाति एक है। केवल आजीविका के भेद से वह चार प्रकार की हो गयी है—व्रत संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्रधारण से क्षत्रिय, न्यायपूर्ण धनार्जन से वैश्य और सेवावृत्ति से शूद्र। कार्य से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते हैं।[3] इस प्रकार जैनागमों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चारों वर्णों का उल्लेख है।[4]

आचार्य जिनसेन के मन्तव्यानुसार ऋषभदेव ने स्वयं अपनी भुजाओं में शस्त्र धारण कर मानवों को यह शिक्षा प्रदान की कि अत्याचारियों से निर्बल मानवों की रक्षा करना शक्ति सम्पन्न व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य है। इन दायित्वों का निर्वाह करने वाले व्यक्ति क्षत्रिय कहलाये।[5]

श्री ऋषभदेव ने दूर दूर तक की यात्रा जंघाबल से कर जन जन के मन में यह विचार ज्योति प्रज्वलित की कि मनुष्य को सतत गतिमान रहना चाहिए। एक स्थान से दूसरे स्थान को वस्तुओं का आयात निर्यात कर प्रजा के जीवन में सुख का

संचार करना चाहिए। जो व्यक्ति प्रस्तुत कार्य के लिए सन्नद्ध हुए वह वैश्य की संज्ञा से अभिहित किये गये।[6] कालान्तर में भूमिपति को क्षत्रिय तथा साहूकारों को गृहपति कहा जाने लगा। तत्पश्चात् अग्नि उत्पन्न होने पर शिल्पी वणिक कहे जाने लगे तथा शिल्प का वाणिज्य से सम्बन्ध होने के कारण वह वैश्य के नाम से ज्ञात हुए। इस प्रकार वैश्य कृषि व पशुपालन भी करते थे।[7]

श्री ऋषभदेव ने मानवों को यह प्रेरणा प्रदान की कि कर्मयुग में एक दूसरे के सहयोग के बिना कार्य नहीं हो सकता। अत: सेवाभावी व्यक्ति शूद्र कहलाये।[8]

भरत के राज्यकाल में श्रावक कर्म उत्पन्न होने पर ब्राह्मणों अर्थात् माहण की उत्पत्ति हुई। यह लोग अत्यन्त सरल स्वभावी और धर्मप्रेमी थे। इसलिए जब वह किसी को मारते पीटते देखते तो कहते मत मारो 'माहण' तभी से यह माहण ब्राह्मण भी कहे जाने लगे।[9] ऋषभपुत्र भरत ने सच्चे श्रावकों की परीक्षा की और जो उस परीक्षण प्रस्तर पर खरे उतरे उन्हें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के प्रतीक के रूप में तीन रेखाओं से चिन्हित कर दिया।[10] यही रेखाएं आगे चलकर यज्ञोपवीत के रूप में प्रचलित हो गयीं।[11] यह स्पष्ट है कि बौद्ध ग्रन्थों के समान प्राचीन जैन ग्रन्थों में भी ब्राह्मण शब्द को एक दार्शनिक रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया गया है जिसमें व्यक्ति के जन्म के स्थान पर उसके अहिंसात्मक गुण को रेखांकित किया गया है। श्रमण परम्परा ने समाज में प्रचलित व्यवस्था का कोई नवीन मौलिक विकल्प प्रस्तुत नहीं किया प्रत्युत् उसकी एक भिन्न व्याख्या ही प्रस्तुत की।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आगमकालीन समाज भी वर्णाश्रम धर्म की चातुर्वर्ण व्यवस्था पर आधारित था।[12] यद्यपि यह समाज व्यवस्था अतिसंकीर्ण नहीं थी। जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण साहित्य इंगित करते हैं कि समाज धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर बंटा हुआ था।[13]

जो कुछ जाति के विरुद्ध बुद्ध या महावीर कर सके वह मात्र इतना था कि उन्होंने इस बात का सम्यक् प्रसार करक दिया कि जाति मुक्ति के मार्ग की बाधा नहीं है। अन्यथा वर्ण और जाति उनके समय भी विद्यमान थी और बाद में भी अस्तित्वशील रही। बुद्ध के अमित आग्रह के बाद भी स्वयं उनके संघ में भिक्षु जाति के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म ने ब्राह्मणों के ऊपर क्षत्रियों का प्रभुत्व घोषित करते हुए भी जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था का विरोध किया। सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन तथा बौद्ध चिन्तकों ने प्रचलित जातिवाद का तीव्रतम विरोध किया और अपने प्रांगण को सभी वर्गों के लिए उन्मुक्त आकाश सा खोल दिया। फलत: उनकी दृष्टि से किसी वर्ग विशेष में मात्र उत्पत्ति ही उसकी श्रेष्ठता का आधार नहीं है बल्कि उसकी श्रेष्ठता का आधार उसके विचार और कर्म हैं। इसलिए उन्होंने कहा

कि कर्मदायादोभवं।[14] किन्तु इस बात की पुष्टि किसी भी ग्रन्थ से नहीं होती कि महावीर और बुद्ध के काल में वर्ण व्यवस्था सर्वथा गौण या नष्ट हो गयी। यही नहीं जातकों से यह भी ज्ञात होता है कि स्वयं बुद्ध के समय जन्म के आधार पर संघ में सर्वश्रेष्ठ आवास, भोजन और जल इस क्रम से देना उचित समझा जाता था : खत्तिय कुलपवज्जितो, ब्राह्मणाकुल पब्जजितो, गहपतिकुल पवज्जितो।[15]

माहण (ब्राह्मण)

जैन सूत्रों में ब्राह्मण के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया गया है तथा अधिकतम बार इस बात की पुनरावृत्ति की है कि ब्राह्मण जैन धर्म के विरोधी थे।[16] किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से विरोधी प्रचार प्रसार के उपरान्त भी ब्राह्मणों की स्थिति निर्विवाद रूप से सर्वोपरि थी। इसका कारण ब्राह्मण वर्ण की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त की मान्यता थी जिसके अनुसार ब्राह्मण विराट पुरुष के मुख से उत्पन्न हुए हैं।[17] इस काल में भी ब्राह्मणों, अग्नि, गंगाजल और गाय को समान रूप से पवित्र माना जाता था।[18]

जैन सूत्रों में ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों को श्रेष्ठता प्रदान की गयी है। उनके सभी तीर्थंकर क्षत्रिय कुल में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण उत्पन्न हुए थे। यहां तक कि स्वयं भगवान महावीर को ब्राह्मणी देवनन्दा को परित्याग कर क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में आना पड़ा।[19] कल्पसूत्र के इस कथन के आधार पर कि अरिहन्त क्षत्रिय कुल में जन्म लेते हैं तथा ब्राह्मण कुल की गणना हेय कुलों से की गयी है विद्वानों का एक वर्ग यह मानता है कि उस समय क्षत्रियों के नेतृत्व में ब्राह्मण विरोधी सामाजिक धार्मिक आन्दोलन हो रहा था।[20] यह वर्ग संघर्ष था जबकि क्षत्रिय वर्ग अपनी प्रभुता के बल पर ब्राह्मण धर्म की सर्वोच्चता को हीन कर स्वयं सर्वोच्च हो जाना चाहता था। ब्राह्मणों की उच्च स्थिति के एक मात्र आधार ब्रह्म ज्ञान पर भी क्षत्रिय अधिकार जमा लेना चाहते थे। यह प्रतिक्रिया ब्राह्मण विरोधी जैन और बौद्ध धर्म द्वारा तो हुई ही स्वयं ब्राह्मण वर्ग में भी उपनिषदों द्वारा परिलक्षित हुई। क्षत्रिय यज्ञ हिंसा, पौरोहित्य और कर्मकाण्ड की आलोचना करने लगे तथा ब्रह्मज्ञानी होने का प्रयास करने लगे।[21] कुछ क्षत्रिय इस युग में बौद्धिक जीवन के सिरमौर भी बन गये थे। उपनिषदों में अनेक ज्ञानी राजाओं का वर्णन है जिनमें पांचाल राज प्रवाहणजैबालि प्रमुख हैं जिसने श्वेतकेतु के पिता उद्दालक को उपदेश दिया।[22] कैकेयराज अश्वपति और काशीराज अजातशत्रु भी ऐसे ही उदाहरण हैं।[23] राजा जनक राजर्षि[24] के रूप में सुख्यात थे ही। महाभारत में कृष्ण क्षत्रियकुल में उत्पन्न होकर भी ज्ञान के आगार थे। बुद्ध और महावीर भी जन्मना क्षत्रिय थे।

डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डे[25] ने इस अवधारण का प्रत्याख्यान किया है। उनके

अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय वर्ग संघर्ष की ऐतिहासिकता स्वीकार करने के लिए कोई वास्तविक आधार नहीं मिलता। क्षत्रियों ने नवीन आध्यात्मिक और बौद्धिक आन्दोलनों में महत्वपूर्ण भाग लिया किन्तु इससे यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि आर्थिक लाभ, सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा राजकीय शक्ति के लिए ब्राह्मणों अथवा क्षत्रियों में जातिबद्ध अथवा वर्गश: संघर्ष था। अवश्य ही नैष्कर्म्य परक आध्यात्मविद्या पौरोहित्य की विरोधिनी थी, पर इसके नेता वास्तव में श्रमण थे जिनकी आध्यात्मिक सांस्कृतिक परम्परा में इस समय क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों ही थे। बुद्ध और महावीर जन्मना क्षत्रिय थे, किन्तु जाति के परित्यागपूर्वक ही वह श्रमण बन सके।

दूसरी ओर उपनिषदों में और गीता में संकेतिक विशुद्ध क्षत्रिय विद्या कर्म का प्रत्याख्यान नहीं करती।

उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर केवल इतना ही स्वीकार किया जा सकता है कि पुरोहितों के कर्मकाण्ड का इस युग में अनेक दिशाओं से विरोध हुआ, जिसका श्रमणों, प्रबुद्ध क्षत्रियों और आध्यात्मवादी ब्राह्मणों ने नेतृत्व किया। विश्वामित्र और वसिष्ठ के संघर्ष की कथा इस प्रसंग में नि:सार है। इसी प्रकार महाभारत में उल्लिखित जामदग्नय के लिए हुए क्षत्रिय संहार की कथा को भी भार्गवों की अतिरंजित कल्पना ही मानना चाहिए।[26]

जैनसूत्रों में ब्राह्मण के लिए धिज्जाई अर्थात् धिक् जाति शब्द का निन्दापरक प्रयोग किया गया है।[27] बौद्धग्रन्थों में उन्हें हीन जच्चको कहा गया है।[28] बौद्धग्रन्थों में विशेषकर जातकों में ब्राह्मणों को हीनकुल में उद्भूत कहना बहुत अप्रत्याशित तथा विस्मयकारी है। विशेष रूप से उनके लिए जो ब्राह्मण परम्परा से परिचित हैं तथा जिन्हें महाभारत और मनुस्मृति का घनिष्ठ परिचय है। राइसडेविडस की इस विषय में यह मान्यता है कि यह अलंकार ब्राह्मणों को क्षत्रियों की अपेक्षा से नहीं अपितु राजा तथा सामन्तों की तुलना में दिया गया है। इस दृष्टि से ब्राह्मण उनकी तुलना में निम्न कुलोत्पन्न थे।

जैनसूत्रों में ब्राह्मणों के कर्मकाण्डीय यज्ञों की आलोचना की गयी है।[29] इन सूत्रों का कथन है कि सिर मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने से तथा कुशचीवर धारण करने से कोई तापस नहीं होता किन्तु हर कोई समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है।[30] यही कारण है कि जन्म से क्षत्रिय वंश में जन्म लेने पर भी जैन साक्ष्यों में महावीर को कर्म से ब्राह्मण कहा गया है। उन्हें माहणेण मतिमाण माहण अर्थात् ब्राह्मण कहा गया है क्योंकि महावीर की साधना, माहण हिंसा नहीं करने की साधना थी। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से जैनों ने वर्ण और जाति की जी भर कर निन्दा की थी लेकिन फिर भी व्यवहार में वह जाति-पांति के बन्धनों

से अपने आपको सर्वथा मुक्त नहीं कर पाये थे।[31] उन्होंने जाति आर्य और जाति जुंगित अर्थात् जुगुप्सित, कर्म आर्य और कर्म जुंगित तथा शिल्प आर्य और शिल्प जुंगित में भेद बताकर ऊंच नीच का संस्तरण किया है।[32]

फिक की तो यह मान्यता है कि बुद्ध सुधारवादी नहीं थे। उन्होंने जाति उन्मूलन के लिए वचन या कर्म किसी से भी प्रयास नहीं किया। वह तो केवल उदारवादी कहे जा सकते हैं। चार्ल्स इलियट के अनुसार बुद्ध ने यद्यपि अन्य जातियों की अपेक्षा ब्राह्मण जन्म से ऊंचे हैं इस बात से इन्कार किया था किन्तु जाति के विरुद्ध कुछ नहीं कहा था।[33]

यद्यपि जैन साहित्य में क्षत्रियों की अपेक्षा ब्राह्मणों को निम्न ठहराया गया है फिर भी समाज में ब्राह्मणों का स्थान ऊंचा था।[34] इसी कारण जैन सूत्रों में ब्राह्मणों सम्बन्धी अवधारणाओं में विरोधाभास पाया जाता है। जैन सूत्रों में समण (श्रमण) तथा माहण (ब्राह्मण) शब्द का कई स्थलों पर साथ साथ उल्लेख यह दर्शाता है कि दोनों का ही समाज में समान रूप से आदर था।[35] यह भी विचारणीय है कि महावीर को जैनसूत्रों में महागोप, महासार्थ माहषेण मइमया : मतिमान माहण, माहण[36] और महामाण[37] कह कर सम्बोधित किया गया है। निशीथ चूर्णि में कथन है कि ब्राह्मण स्वर्ग में देवता के रूप में निवास करते थे। प्रजापति ने इस पृथ्वी पर उन्हें देवता के रूप में ही उत्पन्न किया। अतएव जाति मात्र से सम्पन्न इन ब्रह्म बन्धुओं को दान देने से महान फल की प्राप्ति होती है।[38] जैन आचार्यों ने जन्म की अपेक्षा कर्म पर अधिक बल दिया है।[39] जैन सूत्रों में कर्मनिष्ठ ब्राह्मण का आकलन किया गया है जो चरित्र के सभी उत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न हैं।[40]

ब्राह्मणों के विशेषाधिकार और कर्तव्य

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से महावीर और बुद्ध ने सभी वर्गों को समान स्थान प्रदान किया किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त था।[41] राजा उन्हें अपने आश्रय में रखते थे और उनकी आजीविका का प्रबन्ध करते थे। चौदह विद्याओं में पारंगत काशव नामक ब्राह्मण कौशाम्बी के जितशत्रु नामक राजा की सभा में रहा करता था। उसकी मृत्यु हो जाने पर उसका स्थान दूसरे ब्राह्मण को दे दिया गया।[42]

ब्राह्मणों के पारम्परिक कर्तव्यों पर कल्पसूत्र के इस दृष्टान्त से अच्छा प्रकाश पड़ता है कि जब ब्राह्मणी देवनन्दा ने निद्रा में चौदह शुभ स्वप्न देखे तब उसने पति को इनके विषय में बताया। तब ऋषभदेव ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा कि उनके नौ माह साढ़े सात दिन बाद सर्वांग शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र होगा जो *आठ वर्ष के उपरान्त युवा होने तक चारों वेदों ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और*

अथर्ववेद पंचमवेद इतिहास पुराण तथा षष्टमवेद निघण्टु को अंगों, उपांगों और रहस्य सहित कण्ठस्थ कर लेगा, उनका अर्थ जानेगा और स्मृति में रखेगा। वह साठ पर्यायों के दर्शन, सांख्य का विज्ञ, गणित में निष्णात, भाषा, कल्प, छन्द, रहस्य, निरुक्त और व्याकरण तथा ज्योतिषविद् होगा। वह खगोलशास्त्र का पण्डित साथ ही ब्रह्मविद्या व यति विद्या का ज्ञाता होगा।[43]

धर्मशास्त्र के अनुसार ब्राह्मण के छः प्रधान कर्तव्य थे—यजन याजन, अध्ययन अध्यापन, दान और प्रतिग्रह। किन्तु यथार्थ में अनेक ब्राह्मण न पुरोहित थे न आचार्य। कुछ प्रशासकीय कार्यों में अधिकृत थे और कुछ जमींदार अथवा क्षुद्र किसान और दरिद्र कर्मकार थे।[44]

ब्राह्मणों को अधिकांशतः आध्यात्मिक वृत्ति का समझा जाता था। जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययन ने कर्मनिष्ठ ब्राह्मण का चित्र इस प्रकार किया है कि जो संयोग में प्रसन्न नहीं होता, वियोग से खिन्न नहीं होता, आर्य वचन में रमण करता है, जो पवित्र है, अभय है, अहिंसक है, अचौर्यवृत्ति है, ब्रह्मचारी है, अनासक्त है, गृहत्यागी है, अकिंचन है, वही ब्राह्मण कहलाता है।[45]

जैनागमों की टीकाओं में उल्लेख है कि भरत चक्रवर्ती ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराते थे। काकिणी रत्न से चिन्हित कर उन्हें दूसरी जातियों से पृथक कर दिया था।[46] राजा दानमान से उनके प्रति आदर व्यक्त करते थे। पाटलिपुत्र के नन्दराजाओं ने ब्राह्मणों को बहुतसा धन देकर उनके प्रति आदर व्यक्त किया था।[47] जन सामान्य भी ब्राह्मणों का सम्मान करते थे।[48] जन्म मरण आदि अवसरों पर ब्राह्मणों की पूछ होती थी और भोजन आदि से उनका सत्कार किया जाता था।[49] किन्तु बौद्ध जातकों के युग में संहिता की दृष्टि से ब्राह्मणों को विशेषाधिकार नहीं थे और न ही उनके प्रति सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण प्रचलित था।[50]

ब्राह्मणों में यज्ञ का प्रचलन था। श्रमण दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् अपने विहार के समय महावीर ने चम्पा के एक ब्राह्मण की अग्निहोत्र वसही में चातुर्मास व्यतीत किया था।[51] ब्राह्मण स्वप्न पाठक होते थे।[52] ब्राह्मण शुभ और अशुभ दिन और मुहूर्तों का प्रतिपादन करते थे।

खत्तिय (क्षत्रिय)

जैन सूत्रों में क्षत्रियों की प्रभुता का वर्णन है। कल्पसूत्र[53] के अनुसार शक्र ने ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ से महावीर के भ्रूण को क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में स्थानांतरित कर दिया था। त्रिशला ने शिशु के रूप में महावीर को जन्म दिया।[54]

टी०डब्ल्यू० राइस डेविडस के अनुसार उस समय ब्राह्मणों की उच्च स्थिति स्वीकार नहीं की जाती थी।[55] किन्तु ऐसा उचित प्रतीत नहीं होता।[56] बौद्ध ग्रन्थ

पाचितिय के अनुसार राजा संस्कारपूर्वक क्षत्रिय कुल में से चुना जाता था।[57] राजा पुरुषों में सर्वप्रथम समझा जाता था।[58] अपने भुजबल द्वारा क्षत्रिय देश पर शासन करने का अधिकार रखते थे। राजा और उनके परिवार जन अनेक व्यसन करते थे जैसे मृगया, द्यूत, पान, स्त्रीसंग तथा युद्ध। कुछ क्षत्रिय आध्यात्मिक जीवन की पर्येषणा करने के पश्चात् संसार त्याग कर सिद्ध हो गये थे, जैसे उग्र, भोग, राजन्य, ज्ञातृ और इक्ष्वाकुक्षत्रिय कुल।[59]

उत्तराध्ययन के नमि-शक्र सम्वाद से क्षत्रिय के कर्तव्यों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। नमि के पुत्र को राज्य सौंप कर मुनि बन जाने पर मिथिला में कोलाहल आ जाता है और शक्र उनसे आग्रह करते हैं कि नमि पहले परकोटा, बुर्ज वाले नगरद्वार, खाई और शतध्नी[60] यन्त्र बनवायें फिर मुनि बनें।[61] प्रसाद, वर्धमानगृह[62] और चन्द्रशालाएं बनवायें और फिर मुनि बनें।[63] बटमारों, प्राणहरण करने वाले लुटेरों, गिरहकटों और चोरों का निग्रह कर नगर में शान्ति स्थापित करें। जो राजा समक्ष नहीं झुकते उन्हें वश में करें, प्रचुर यज्ञ करें, श्रमण ब्राह्मण को भोजन कराये, दान दें, भोग करें।[64] चांदी, सोना, मणि-मोती, कांसे के बर्तन, वस्त्र, वाहन और भण्डार की वृद्धि करें फिर मुनि बन जाएं।[65]

गहवइ (वैश्य)

आगमकाल में वैश्यों को गहवइ अर्थात् गृहपति नाम से जाना जाता था। यद्यपि इस शब्द की सार्थकता उतनी नहीं रही थी।[66] वैश्य समाज का सबसे सम्पन्न और समृद्ध अंग थे जिनका अर्थ व्यवस्था पर गहरा नियन्त्रण था।[67] जैनसूत्रों में ऐसे अनेक गृहपतियों का उल्लेख है जो समणोपासक श्रमणोपासक थे।[68]

बुद्ध और महावीर के काल में ही भारतीय संस्कृति सर्वप्रथम द्रव्य के युग में अवतीर्ण हो रही थी।[69] आर्थिक जीवन के द्रुतपरिवर्तन ने नए वर्गों को जन्म तथा गृहपतियों के उत्कर्ष में योगदान दिया। इनमें से कुछ कृषक थे। जो सर्वाधिक सम्पन्न थे वह श्रेष्ठि थे, जिन्हें पूंजीपति भी कहा जा सकता है।[70] छोटे उद्योग-धन्धों के लिए यह पूंजी और श्रम दोनों प्रदान करते थे। उद्योग, कृषि और वाणिज्य तीनों पर इनका अधिकार था। वणियग्राम के धनसंपन्न भूमिपति आनन्द गृहपति के पास अपरिमित हिरण्यसुवर्ण, गाय-बैल, घोड़ा, गाड़ी, वाहन आदि थे। पारासर कृषि कर्म में कुशल होने के कारण *'किसी पारासर' अर्थात् कृषि पाराशर नाम से* विख्यात था। वह छः सौ हलों का स्वामी था।[71] कुइयण्ण या कुविकर्ण के पास *बहुत सी गाएं थी।*[72] *गोसंती कुटुम्बी*[73] *को अमीरों का स्वामी कहा गया है।* उसका पुत्र अपनी गाड़ियों को घी के घड़ों से भरकर चम्पा में बेचने के लिए जाता था।[74] भरत चक्रवर्ती का गृह रत्न सर्वलोग में प्रसिद्ध था। वह विविध धान्यों का उत्पादक

था। उसके घर सब प्रकार के धान्यों के हजारों कुम्भ भरे रहते थे।[75] इस प्रकार यह युग श्रेष्ठियों का युग था।[76] किन्तु स्मरणीय है कि यही श्रेष्ठि उस युग के संन्यास परायण श्रमण सम्प्रदायों के पोषक थे। यह श्रमणों का आदर सम्मान करने के साथ ही उन्हें भोजन, वस्त्र और आवास प्रदान करते थे तथा समय-समय पर उन्हें दान देते थे।[77] जहां समाज अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए श्रमणों का मुखापेक्षी था वहीं यह श्रमण अबाधित साधना के लिए तथा पूर्ण अहिंसा व अपरिग्रह के पालन के लिए धर्म तथा धर्म के सम्यक् प्रचार व प्रसार के लिए इस धनिक श्रावक वर्ग का अपेक्षी था। इस प्रकार समाज की दो विरुद्ध धर्मक प्रवृत्ति तथा निवृत्ति धाराओं में अनूठा तारतम्य दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठी जनोपयोगी कार्य भी करते थे—जैसे पाठशालाओं का निर्माण, उद्यानों का निर्माण आदि। नन्द राजगृह का एक प्रभावशाली श्रेष्ठि था। जिसने बहुत सा धन व्यय करके पुष्करिणी का निर्माण कराया था।[78]

विद्वानों के एक वर्ग का आग्रह है कि जैन धर्म और बौद्ध धर्म के अभ्युदय में श्रेष्ठियों की अनुकूलता एक सहयोगी कारण था। किन्तु यह आग्रह पूर्णतया अप्रामाणिक है। जैन तथा बौद्ध धर्म स्वभावत: निवृत्तिपरक सम्प्रदाय थे जिनकी धन से रागात्मकता अमान्य है। यद्यपि श्रेष्ठियों ने श्रमण सम्प्रदाय की सहायता की किन्तु इन सम्प्रदायों के तत्कालीन उद्भव से श्रेष्ठिवर्ग का उद्भव अनिवार्य सम्बन्ध रखता था यह कहना उचित नहीं है।[79] ब्राह्मण वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत भी वैश्यों की स्थिति तीनों वर्णों के आर्थिक आधार होने के कारण बहुप्रतिष्ठित थी।[80] किन्तु अपनी सम्पन्नता के प्रति सहजात वृत्ति के कारण इन गृहपति वैश्यों की जैनसूत्रों में निन्दा भी की गयी है तथा इन्हें अत्यन्त अधार्मिक स्वभाव, आचरण और चरित्र वाले व्यक्ति कहा गया है।[81] जो अपनी आजीविका रक्तरंजित हाथों से कमाते हैं। हिंसा करते हैं, क्रूर हैं, छल, छद्म, पाखण्ड और आडम्बर से युक्त हैं तथा स्वभावत: रिश्वत लेते देते हैं।[82] तथा गलत माप तोल के बांटों का प्रयोग करते हैं तथा अपने भृतकों और दासों से यातनापूर्ण अमानवीय व्यवहार करते हैं।[83] भौतिक सुखों के अधीन हैं तथा माता-पिता व निकटतम सम्बन्धी पति, पत्नी, पुत्रवधु के भी सगे नहीं हैं।[84]

शूद्र

शूद्र आरम्भ से ही हीन दशा में रहते आये हैं। महावीर और बुद्ध ने उनकी दशा सुधारने का अमित यत्न किया, लेकिन फिर भी वर्ण और जाति सम्बन्धी प्रतिबन्ध दूर नहीं किये जा सके।[85] आगम काल में शूद्रों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। जैन साहित्य में अस्पृश्य समझे जाने वाले मातंग और चाण्डालों की चर्चा मिलती

है। जाति जुगुप्सितों में पाण, डोम्ब और मोरत्तिय का उल्लेख है। मातंगों को जाति का कलंक समझा जाता था।[86] समाज व्यवस्था में न्याय की प्रतिष्ठा सदा ही मूल्यवान है जिसकी मांग है सामाजिक समता किन्तु वर्ण व्यवस्था, समता देने में असमर्थ रही। समता का आदर्श विधानात्मक न होकर अनिवार्य नैतिक मूल्य है और इसीलिए सामाजिक न्याय या धर्म की अर्थवत्ता लिए है किन्तु ब्राह्मण परम्परा ने इस परिप्रेक्ष्य में इसे सार्थक नहीं किया।

उत्तराध्ययन में चित्त और सम्भूत नामक दो मातंग दारकों की कथा आती है। दोनों रूपवान थे तथा गंधर्व विद्या में निपुण्ण थे। एक बार मदनमहोत्सव के अवसर पर दोनों भाइयों की टोली गाती बजाती बनारस में होकर निकली, जिसने सभी को मुग्ध कर दिया। लेकिन ब्राह्मणों को बहुत ईर्ष्या हुई। परिणामत: चित्त और सम्भूत को जातिवाद का सहारा लेकर बहुत यातना दी गई।[87]

पाणों को चाण्डाल भी कहा जाता था। यह गृहविहीन आकाश की छाया में निवास करते थे।[88] यह प्रमुख रूप से श्मशान में मुर्दे ढोने का काम करते थे।[89] जल्लाद प्राय: इसी वर्ग में से होते थे। डोमों के कच्चे घर होते थे, वे गीत गाकर और सूप आदि बनाकर अपनी आजीविका चलाते थे। उन्हें कलहशील, रोष करने वाले और चुगलखोर बताया गया है।[90] यह किषिक वाद्यों के चारों ओर तांत लगाते और वध स्थान को जाने वालों के आगे बाजे बजाते थे। सोवाग श्वपच कुत्तों का मांस पकाकर खाते और तांत की बिक्री करते थे। वरुड़ रस्सी बंटकर आजीविका चलाते थे। जैन ग्रन्थ सूत्रकृतांग में चाण्डाल की गणना शबर, द्रविड़ कलिंग और गन्धारों के साथ की गयी है।[91] हरिकेश और लुहारों की भी जाति जुगुप्सितों में गिनती की गयी है।[92] जाति जुगुप्सितों को अस्पृश्य माना जाता था। क्योंकि यह जातियां मुख्यत: शिकारी और बहेलिये के रूप में जीवन बिता रही थीं और इनकी तुलना में ब्राह्मण समाज के लोग धातुकर्म और कृषि का ज्ञान रखते थे तथा नगर जीवन का विकास कर रहे थे।[93] बौद्ध साहित्य में इन जातियों के हीन संस्कार और तज्जन्य उनकी दुरावस्था का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—"यदि वह मूढ़, मनुष्य की कोख से जन्म लेता है तो वह नीच जाति के घर जाता है, जैसे चाण्डाल, निषाद, वेण, रथकार और पुक्कस। इनका पुनर्जन्म घुमक्कड़ और अकिंचन के रूप में अभावग्रस्त जीवन बिताने के लिए होता है। इन्हें पेटभर भोजन और वस्त्र शायद ही मिल पाता है।"[94]

कर्म और शिल्प से जुगुप्सित स्पृश्य जातियों में मयूर पोषक, कुक्कुट-पोषक, नट, लंख, व्याघ्र, मृगलुब्ध, वागुरिक, शौकरिक, मच्छीमार, रजक आदि कर्मजुगुप्सित तथा चर्मकार, पटवे, नाई, धोबी आदि की शिल्प जुगुप्सितों में गणना की गयी है।[95] बौद्ध ग्रन्थों में बढ़ई और भंगी का कार्य हीन कोटि का समझा *जाता था।[96] नलकार बांस का काम करने वाले कुम्भकार, पेसकार बुनकर चम्मकार*

और नहापित या हज्जाम पांचों व्यवसायों को हीन कोटि का बताया गया है।[97] एक बौद्धग्रन्थ में लुद्धाचार खुद्दाचार ति[98] वाक्यखण्ड का प्रयोग शूद्र कार्यों के निर्धारण के लिए किया गया है। जिसका आशय है कि शूद्र वह है जो शिकार और अन्य हीन कर्म द्वारा जीवन निर्वाह करते हैं। जैन ग्रन्थों में भी वृषल गृहदास जन्मजात दास और हीन कुल में उत्पन्न अधम व्यक्ति जैसे शब्दों का प्रयोग उसी रूप में किया गया है जिस रूप में कुत्ता, चोर, डकैत, ठग, मक्कार आदि को दुत्कारा जाता है।[99]

धर्मसूत्रों से शूद्रवर्ण के रहन-सहन पर प्रकाश पड़ता है। शूद्र से अपेक्षित था कि वह उतार फेंके गये जूते, छाते, वस्त्र और चटाई का इस्तेमाल करे।[100] जातक कथा से ज्ञात होता है कि चूहे द्वारा काट कर चिथड़े बनाये गये वस्त्र इन्हें दिये जाते थे।[101] यह भी ज्ञात होता है कि बुद्धदेव के नेतृत्व में चल रहे एक साधु समाज के पीछे-पीछे पांच सौ व्यक्ति जूठन खाने के उद्देश्य से जाते थे।[102] वसिष्ठ धर्मसूत्र की एक कंडिका में शूद्रों के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं : चुगली खाना, असत्य बोलना, निर्दयी होना, छिद्रान्वेषण करना, ब्राह्मणों की निन्दा करना और उनके प्रति निरन्तर वैर भाव रखना।[103] जिससे संकेत मिलता है कि शूद्र तत्कालीन वर्णव्यवस्था के प्रति और विशेषकर आदर्श वर्ण नेता ब्राह्मणों के प्रति शत्रुता का भाव रखते थे।[104]

अन्ततः विचारणीय विषय है कि इस काल के धार्मिक सुधार आन्दोलन ने शूद्रों की स्थिति को कहां तक प्रभावित किया। जहां तक धार्मिक उद्धार का सम्बन्ध है बौद्ध धर्म ने न केवल चारों वर्णों के लिए अपना दरवाजा खोलकर उन्हें संघ में प्रवेश करके भिक्षु बनने की अनुमति दी[105] अपितु चाण्डालों और पुक्कुसों को भी निर्वाण प्राप्ति के योग्य बनाया।[106] इस प्रकार शूद्रों के संघ प्रवेश से ब्राह्मणों द्वारा छीने गये शिक्षा के अधिकार उन्हें पुनः मिल गए। बुद्धदेव के विचारानुसार कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी भी जाति का क्यों नहीं हो, अध्यापक बन सकता है। कहा गया है कि अध्यापक शूद्र, चण्डाल या पुक्कुस ही क्यों न हो उसका आदर किया जाना चाहिए।[107] बौद्ध धर्म की मनोवृत्ति का एक विशेष उदाहरण जातक कथा में मिलता है, जिसमें कहा गया है कि एक ब्राह्मण ने चण्डाल से जादू सीखा किन्तु लज्जावश उसे गुरु नहीं स्वीकार करने के कारण वह जादू भूल गया।[108]

आरम्भ में जैन धर्म ने भी सभी वर्णों के सदस्यों को संघ प्रवेश की अनुमति दी और चाण्डालों के उत्थान का भी प्रयास किया।[109] महत्वपूर्ण है कि महावीर की प्रथम शिष्या दासी थी जो बन्दी बना कर लाई गई थी।[110] उत्तराध्ययन से ज्ञात होता है कि हरिषेण जो जन्म से सोवाग श्वपाक चण्डाल था, एक ब्राह्मण के यज्ञ परिसर में गया और ब्राह्मण को उसने तपस्या, साधु जीवन, सम्यक् चेष्टा, आत्म निग्रह, शान्ति और ब्रह्मचर्य का उपदेश दिया।[111]

प्राचीन जैन साधु ब्राह्मणों के विपरीत,[112] निम्नवर्ग के परिवारों, जिनमें बुनकर भी सम्मिलित थे[113] का अन्न ग्रहण करते थे। इसी प्रकार बौद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणी चारों वर्णों के परिवारों में अन्न मांगने जाते थे अथवा निमन्त्रण मिलने पर उनके घर जाकर भोजन कर सकते थे।[114] सामान्य धारणा थी कि धन और शक्ति के अतिरेक से जनमानस गृह त्याग करते थे।[115] फलत: निम्नवर्ग के लोग घर नहीं त्यागते थे। किन्तु तथ्य इसके विपरीत हैं। जैनागम के अनुसार संन्यास धारण के कारणों में अकिंचनता, अस्वस्थता, आकस्मिक क्रोध और अपमान आदि भी थे।[116] सूत्रकृतांग से ज्ञात होता है कि बहुधा जैन साधुओं की आलोचना इसी आधार पर की जाती थी कि जो श्रमण हो जाते हैं, वह अधमाधम कोटि के कामगार होते हैं; वे अपने परिवार का भरण पोषण करने में असमर्थ होते हैं; वह हीनजाति और हीनकोटि के तथा अकर्मण्य होते हैं।[117] श्रमणों की निरन्तर बढ़ती संख्या से समाज असन्तुलित होने लगा था तथा गृहस्थों को वह बोझ लगने लगे थे। अत: इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए ऐसे विचारों का प्रसार किया गया कि जो दुखी व्यक्ति दूसरों से भोजन प्राप्त करने के उद्देश्य से साधु बनेगा उसे अगले जन्म में सुअर बनना पड़ेगा जो फेंके गये जूठन की खोज में घूमता फिरेगा।[118] उदार स्वामी दासों को यदा-कदा प्रसन्न होकर मुक्त भी कर देते थे।[119]

बौद्धग्रन्थ के अनुसार बिम्बिसार के राज्य काल में संघ को राजा की ओर से विशेष सुरक्षा प्राप्त थी। यदा कदा बन्दी, चोर, कोड़े से पीटे जाने का दण्ड प्राप्त क्रशाहत व्यक्ति ऋणी और भागे हुए गुलाम बौद्ध धर्म की शरण में चले जाते थे और अभिषिक्त हो जाते थे।[120] जब ऐसे मामलों की ओर बुद्ध का ध्यान आकर्षित किया गया तब ऐसे व्यक्तियों के संघ प्रवेश को रोकने के लिए नियम बनाये गये। कोई दास दासत्व से मुक्त हुए बिना तथा ऋणी ऋणशोधन किये बिना संघ प्रवेश नहीं कर सकता था।[121] जैन संघ में भी डकैत, राजा के शत्रु, ऋणी, अनुचर, सेवक और ऐसे व्यक्ति जिनका बलात धर्म परिवर्तन किया गया हो संघ में प्रव्रज्या नहीं पा सकते थे।[122] कारण स्पष्ट था कि बौद्ध तथा जैन संघ उन तत्वों को प्रश्रय नहीं देना चाहते थे जिनके कारण संघ की मानहानि होती, लोकप्रियता को आघात पहुंचता तथा समाज और राज्य का विरोध सहना पड़ता। यह भी इष्टकर नहीं समझा जाता था कि बहुत बड़े श्रमिक वर्ग को संघ में लेकर सांसारिक कर्तव्यों से विमुख कर दिया जाये।[123] कहा जा सकता है कि इस काल के अत्यन्त शक्ति सम्पन्न राजवंशों में से एक शूद्र उत्पत्ति का था और शूद्रों ने निचली गंगाघाटी में सर्वोच्च सत्ता प्राप्त कर रखी थी।[124] किन्तु यह विवरण उस सीमा तक ही प्रामाणिक माने जा सकते हें जिस सीमा तक नन्दों को हीनकुल का बताया गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि राजनीतिक सत्ता शूद्र समुदाय के हाथ चली गयी थी। क्योंकि कोई भी ऐसा तथ्य नहीं है जो यह प्रमाणित कर सके कि नन्दवंश के

उत्थान से शूद्रों की अशक्तताएं समाप्त हो गयी थीं।[125]

दासों की क्रान्ति का एक मात्र उदाहरण विनयपिटक में मिलता है और यह अतिसामान्य प्रकार की थी।[126] एक बार कपिलवस्तु के शाक्यों के दास नियन्त्रण से बाहर हो गये तथा भिक्षुओं को भोजन अर्पित करने गई उपासिकाओं से छीना-झपटी की तथा सतीत्व भंग किया। यही कारण है कि आपत्तिकाल में भी वहां तीनों द्विज वर्ण शस्त्र धारण कर सकते हैं। शूद्रों को इस विशेषाधिकार से वंचित किया गया है।[127] इससे स्पष्ट है कि नियम बनाने वाले के मन में ऐसी आकस्मिक स्थिति की कल्पना रही होगी जब शूद्र बलपूर्वक वर्ण की सीमाओं को तोड़ने का प्रयास करेंगे।[128] यद्यपि कपिलवस्तु के दासों की सामान्य क्रान्ति के अतिरिक्त इस प्रकार के प्रयास का कोई अन्य दृष्टान्त नहीं है फिर भी वसिष्ठ के नियम से आभास होता है कि उच्च वर्णों के लोगों को आशंका थी कि शूद्रों पर जो अशक्तताएं लादी गयी हैं उनके चलते कहीं वह व्यापक विद्रोह न कर बैठें।[129]

सामाजिक दर्शन

जैन आचार्यों ने यद्यपि जैन श्रमणों को ऐसी आचार संहिता दी थी तथा ऐसा दिशा निर्देश दिया था कि श्रमण या मुनि की समाज पर न्यूनतम निर्भरता रहे फिर भी अपने श्रावकों तथा अन्य गृहस्थों की आध्यात्मिक उत्कृष्टता के आधार पर अवहेलना नहीं की थी। वह श्रावकों का मूल्य भली भांति जानते थे अत: वह इस विषय में भी सतत सजग थे कि श्रमणों को श्रावकों की श्रद्धा व सद्भावना ही प्राप्त हो। उदाहरण के लिए भिक्षाचर्या के निमित्त मुनि को यह आदेश है कि वह श्रमणों, पार्श्वस्थ या अन्य मत के साधुओं के साथ गृहस्थ के यहां भिक्षा लेने न जाये और न ही किसी गृहस्थ के साथ उसी गृहस्थ के या अन्य के घर में जाये। क्योंकि बहुत बार गृहस्थ इतने साधुओं को एक साथ भिक्षा देने की स्थिति में नहीं हो सकता है अथवा वह देने का अनिच्छुक हो तो भी लज्जा या दबाव के कारण उसे देना पड़ता है।[130] इससे साधु को तो असंयम दोष लगता ही है किन्तु गृहस्थ अथवा श्रावक की सद्भावना भी असद्भावना में बदल जाती है। कई बार उस पर अधिक आर्थिक भार पड़ जाता है और साधु का इस प्रकार आगमन अन्तर्मन में खीझ पैदा कर सकता है।

जैन साधु संचित तथा अनेषणीय आहार ग्रहण नहीं करते थे किन्तु अन्य पन्थ के साधु के साथ भिक्षा लेने पर उन्हें पाखण्डी व ढोंगी समझ कर उनकी इस प्रकार निन्दा की जा सकती है, कि यह साधु अन्य साधुओं के साथ मिलकर एकान्त में अनेषणीय व संचित आहार भी मिलबांट कर खा लेते हैं।[131] इससे श्रावकों को साधुओं के आचार पर दु:शंकाएं हो सकती हैं तथा उनके घर में साधुओं के कारण

वाद-विवाद व क्लेश भी हो सकता है।[132]

अपने भोजन को अन्य पन्थ के साथ बैठकर खाने पर गृहस्थों का जैन मुनियों से विश्वास हट सकता है। उल्लेखनीय है कि जैन आचारशास्त्र में इस बात की अत्यन्त सतर्कता रखी गयी है कि मुनि का आचार समाज की तथा गृहस्थ श्रावकों की दृष्टि में असन्दिग्ध रहे तथा उनकी छवि उज्ज्वल बनी रहे।

इसी प्रकार मुनि को आदेश है कि जहां गाय का दोहन हो रहा हो या आहार पक रहा हो तब साधु उस समय भिक्षा के लिए वहां न जाये।[133] क्योंकि यदि गाय दुहने के समय मुनि वहां पहुंचे और गाय साधु के वेश से डर जाये तो दुहने वाले गृहस्थ के चोट लग सकती है और यह सोचकर अब इस मुनि को भी दूध देना पड़ेगा वह झल्ला कर बछड़े के हिस्से का भी दूध निकाल लेगा। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में साधु की उपस्थिति गृहस्थ को हिंसा के लिए उकसायेगी। इसी प्रकार यदि वह आहार पकने के समय पहुंच गया तो गृहस्थ को भोजन पका लेने की आतुरता होगी तथा इससे अग्निकायिक जीवों की विराधना होगी। जैसे भ्रमर एक ही फल से रस न लेकर अनेक पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा लेता है और फूल का सौन्दर्य नहीं बिगाड़ता वैसी ही तृप्ति मुनि को गृहस्थ द्वारा भिक्षा लेकर करनी चाहिए। न तो वह इतना ग्रहण करे कि गृहस्थ का परिवार भूखा रह जाये और न ही इतना कि मुनि के लिए पुनः पकाये।

यदि भिक्षार्थ गया मुनि गृहस्थ का घर कण्टकशाखा से बन्द देखे तो बिना पूर्वानुमति उसमें प्रवेश न करे।[134] क्योंकि—(1) यदि कोई स्त्री अन्दर स्नान कर रही हो तो साधु को देख क्रुद्ध हो सकती है, (2) गृहस्वामी आवेश में मुनि को अपशब्द कह सकता है, (3) किसी वस्तु के खाने का दोषारोपण मुनि पर हो सकता है, एवं (4) पशु आदि अन्दर आकर गृहस्थ की हानि कर सकते हैं।

यदि किसी श्रावक के द्वार पर पहले से ही शाक्यादि भिक्षु अथवा श्रमण खड़े हों तो जैन मुनि उनका उल्लंघन करके आगे न जाये क्योंकि उल्लंघन करके आगे जाने से श्रावक के मन में यह विपरीत भावना आ सकती है कि यह कैसा मुनि है, इसमें इतना भी विवेक नहीं कि पहले खड़े व्यक्ति को लांघ कर खाता है। उसके मन में यह भी आ सकता है कि सबको आने के लिए मेरा घर फालतू लगता है। यदि गृहस्थ भक्तिवश पहले जैन मुनि को देगा तो अन्यधर्मी गृहस्थ को पक्षपाती कहेंगे और गृहस्थ का मन खिन्न हो जायेगा।[135]

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में सभी घरों में सब तरह के भिक्षुओं को दान देने की परम्परा नहीं थी। बहुत से व्यक्ति बहुत से भिक्षुओं को बिना कुछ दिये खाली हाथ भी लौटा देते थे।

भिक्षा के लिए जाने वाला साधु यह ध्यान रखे कि वह घर के द्वार अथवा नवनिर्मित दीवार को न पकड़े। स्नान घर के सम्मुख खड़ा न हो तथा दीवार की

सन्धियों से शरीर को ऊपर-नीचे करके न देखे, न किसी को दिखाये। चंचलता तथा चपलता त्याग कर स्थिर रहे। क्योंकि यदि द्वार या दीवार जीर्ण हुई तो ढह जायेगी और गृहस्थ की आर्थिक क्षति होगी तथा स्थान असुरक्षित हो जायेगा। दीवारों की सन्धि से देखने तथा स्नान घर के सम्मुख खड़े होने से उनके चरित्र पर शंका की जायेगी।[136] यही नहीं यदि उसे गृहस्थ भोजन न दे तो भी वह खिन्न होकर कठोर वचन न कहे क्योंकि इस पर गृहस्थ सामूहिक रूप से सभी श्रमणों का बहिष्कार कर सकते हैं। यदि श्रावक को किसी भी प्रकार का कष्ट हो तो मुनि वहां भिक्षा की याचना न करे।[137]

यदि गृहस्थ के पास साझे का घर हो और मुनि को आश्रय की आवश्यकता हो तो साझे के घर में उसके स्वामियों में से एक की भी आपत्ति हो तो मुनि उस मकान में न ठहरे।[138] क्योंकि इस प्रकार उस गृहस्थ को मुनि द्वारा उसकी सम्पत्ति अधिग्रहीत कर लेने का भय हो जायेगा और वह राजा के समक्ष न्याय के लिए जा सकता है या प्रवाद फैला सकता है। मुनि गृहस्थ से लाये संस्तारक को भी यतनपूर्वक स्वच्छ करके लौटाए ताकि पुनः किसी साधु को देने की दशा में उसे कोई आपत्ति न हो। इसी प्रकार यदि किसी नौका के लिए गृहस्थ को धन देना पड़े या मुनि के लिए नए सिरे से उसे आरम्भ करना पड़े तो मुनि उस नौका में कदापि न बैठे ताकि गृहस्थ कभी भी मुनि को भार स्वरूप न समझे।[139]

यद्यपि जैन मुनि जैन श्रावकों से व्यवहार यतनपूर्वक करते थे ताकि संघ के दोनों घटकों प्रवृत्तिमान और निवृत्तिमान में सौहार्द समन्वय बना रहे किन्तु सत्य तो यह है कि सिद्धान्ततः यह दोनों घटक अविरोधी और परस्पर पूरक थे। प्रश्न उठता है कि श्रावक वैयक्तिक सुखभोग के प्रतीक थे और मुनि नैतिक आदर्श के? एक का मार्ग इन्द्रियमूलक और दूसरे का बुद्धिमूलक फिर वह अविरोधी कैसे हुए? किन्तु इस समस्या का निराकरण ज्ञान मीमांसा से होता है जिसमें ज्ञानगत द्वैत अस्वीकृत है। भोग और नीति का विरोध भी तभी तक रहता है जब तक भोग की व्याख्या व्यक्तिपरक हो। वस्तुतः सामाजिक भोग के लिए कर्म निःस्वार्थ होकर नैतिक बन जाता है। यही नैतिकता का सार है। यही समाज दर्शन है।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. ऋषभदेव एक परिशीलन, पृ० 3।
2. उत्पादितास्त्रयो वर्णाः तदा तेनादिवेधसा।
   क्षत्रियाः वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिमिर्गुणैः। महापुराण, 183/16/362।
   परवर्ती विज्ञों ने अवश्य उस पर कुछ लिखा है —
   अथवा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र भेदात् तत्र-ब्राह्मणा,
   ब्रह्मचर्येण, क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः कृषिकर्मकरा वैश्याः शूद्राप्रेक्षणकारकाः।

—कल्पलता समयसुन्दरगणि, पृ० 199।

3. उत्तराध्ययन, 25/31 (दशवैकालिक: उत्तराध्ययन, लाडनूं), पृ० 177 : तुलनीय - भगवद्गीता जहां गुण और कर्म के आधार पर ही चातुर्वर्णों की उत्पत्ति मानी गई है — चातुर्वर्ण्यमया सृष्टं गुणकर्मविभागश: — भगवद्गीता, 4/13।
4. उत्तराध्ययन, 25/31: विपाकसूत्र 5, पृ० 33: आचारांग निर्युक्ति 19/27: बौद्ध ग्रन्थों में भी चारों वर्ण उल्लिखित हैं।
5. महापुराण, 243/16/368—इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि वर्णों की यह उत्पत्ति आदिपुरुष के अंगों से मानकर जैवीय तथा दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। यही सिद्धान्त ऋग्वेद के पुरुषसूक्त, महाभारत तथा अन्य परवर्ती वैदिक साहित्य से प्राप्त होता है। तुल० —
ब्राह्मणों अस्यमुखमासीद् । बाहु राजन्य: कृत:।
उरु तदस्ययद् वैश्य: शूद्रा: पदम्यां अजायत्।। ऋग्वेद, 10/90/12।
6. महापुराण, 244/16/368 : द्र० ऋषभदेव एक परिशीलन, पृ० 86।
7. वैश्याश्च कृषि वाणिज्य पाशुपाल्योपजीविता: - महापुराण, 184/16/362।
8. वही, 245/16/368।
9. जैन साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 223।
10. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, 1/6/241।
11. ब्राह्मण परम्परा में यज्ञोपवीत उपनयन का प्रतीक था और देव, पितृ और ऋषि की स्मृति दिलाता था।
12. भगवतीसूत्र, 15/1/557 : उत्तराध्ययन सूत्र, 25/31 : विवागसूत्र 5: आचारांग निर्युक्ति 19-27 : ऋग्वेद, पुरुष सूक्त 90 : मनु 1/31 : भगवद्गीता 4/13 : महाभारत शान्तिपर्व, 12/60/2 : द्र० बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 233 : डायलाग्स ऑफ बुद्ध, 1/148: विनयपिटक 11/4/160।
13. स्टडीज इन दी भगवती सूत्र, पृ० 146।
14. बौद्ध संस्कृति का इतिहास, पृ० 398।
तुलनीय - चातुर्वर्ण्य मयासृष्टं गुणकर्मविभागश:। - भगवद्गीता, 4/13।
15. ऐसे अनेक बौद्ध एवं जैन साक्ष्य हैं जिनसे ज्ञात होता है कि बौद्ध एवं जैन संघ में प्रवेश करते समय व्यवहार में उच्च जाति को प्राथमिकता दी जाती थी। द्र० फिक रिचार्ड, सोशल लाइफ आर्गेनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, पृ० 31-32।
16. निशीथ चूर्णि पीठिका 487 की चूर्णि (जिनदासगणि महतर) उपाध्याय कवि अमर मुनि तथा मुनि कन्हैयालाल, आगरा।
17. ब्राह्मणों अस्यमुखमासीद् — ऋग्वेद 10/90/12।
18. ब्राह्मण को साक्षी मानकर अग्नि को, गंगाजल को अथवा गाय के गोबर को हाथ में लेकर साक्षी भी दी जा सकती थी और शपथ या प्रण भी किया जा सकता था। - शामशास्त्री, अर्थशास्त्र-6।
19. आचारांग (एस०बी०ई० जि० 22), 2/17-18 पृ० 189 तथा कल्पसूत्र (एस०बी०ई० जि० 22), 2/17-18 पृ० 225।
तुलनीय बौद्धग्रन्थ, निदानकथा - जहां पर ऐसा ही उल्लेख है कि बुद्ध खत्तिय और माहण *नाम की ऊंची जातियों में ही पैदा होते हैं, नीची जातियों में नहीं। यहां भी चार वर्णों में क्षत्रियों का नाम पहले लिया गया है।* द्र० ललित विस्तार, पृ० 31।

20. राइस डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 31।
21. वाजसनेय संहिता, 38/19: काठक संहिता, 28/5 : में भी क्षत्रियों को, ब्राह्मणों से श्रेष्ठ कहा गया है। वसिष्ठ (ब्राह्मण) और विश्वामित्र (क्षत्रिय) में किसकी जाति श्रेष्ठ है विचारणीय विषय बन गया था। द्र० जी०एस० घुर्ये, कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, पृ० 63 आदि तथा रतिलाल मेहता, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 37-38।
22. बृहदारण्यक उपनिषद्, 6/2 तथा छान्दोग्य उपनिषद्, 5/3।
23. छान्दोग्य उपनिषद, 5/11 तथा वृहदारण्यक उपनिषद्, 2/1
24. भगवद्गीता राजर्षि परम्परा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है - श्री भगवद्गीता, 9/33: उत्तरज्झयणाणि सानुवाद, 18/50, पृ० 232।
25. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 20।
26. द्र० स्टडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ० 313-14 : तथा पादटिप्पण 25।
27. ''एगोधिज्जाइओ पण्डितमाणी सासणं खिंसति''—आवश्यक चूर्णि (जिनदासगणि) पृ० 496 तथा पं० दलसुख मालवणिया, निशीथ एक अध्ययन, पृ० 83।
किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से हम इसके विपरीत ही प्रमाण पाते हैं। यदि ब्राह्मणों को यथार्थ में घृणा और शत्रुता के कारण धिक्जाति समझा जाता तो महावीर उन्हें संघ में गणधर जैसे उच्चपद पर आसीन नहीं करते जबकि उनके प्रमुख ग्यारहों गणधर ब्राह्मण कुलोत्पन्न थे। उदाहरण के लिए—

नाम	जाति	गोत्र	स्थान
इन्द्रभूति	ब्राह्मण	गौतम	गोबरग्राम
अग्निभूति भाई	,,	,,	,,
वायुभूति	,,	,,	,,
क्यिता	,,	भारद्वाज	कोल्लकसंनिवेश
सुहम्मा	,,	अग्नि	वैश्यायन
मन्दिय	,,	वसिष्ठ	मोरिय संनिवेश
मोरियपुत्र	,,	कासव	,,
अकम्पिय	,,	गौतम	मिथिला संनिवेश
अयलमय	,,	हरआयण	कौशल संनिवेश
मेज्जा	,,	कोण्डिण्य	तुंगीय संनिवेश
प्रमाश	,,	,,	राजगृह

जैकोबी एस०बी० ई० जि० 22, पृ० 286-87 तथा हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 77।

28. द्र० राइसडेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 37-38।
29. उत्तराध्ययन, 12/29,44।
उत्तराध्ययन सूत्र के हरिकेशीय नामक इस अध्ययन में हरिकेश नामक चाण्डाल मुनि की कथा है। एक बार वह किसी ब्राह्मण के यज्ञ मण्डप में गए जहां उन्होंने वास्तविक यज्ञ के यह लक्षण बताये हैं—''वास्तविक अग्नि तप है, अग्नि स्थान जीव है, श्रुवा चम्मचनुमा लकड़ी का पात्र जिससे आहुति दी जाती है मन, वचन और काय का योग है, करीष कण्डे

की अग्नि शरीर है, समिधा कर्म है, होम संयम है और योग शान्ति है, सरोवर धर्म है और वास्तविक तीर्थ ब्रह्मचर्य है।

30. वही 25/29 तथा आचारांग आत्मारामजी प्रथम द्र० 9/4/17, पृ० 734-35। बौद्धसाक्ष्यों से तुलना के लिए द्र० दी एज आफ विनय, पृ० 163-64। धम्मपद 393 द्र० भारतीय नीति शास्त्र, पृ० 66।
31. दी सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, पृ० 30-31। हटन का विचार है कि बुद्ध ने जातिप्रथा को लगभग नष्ट कर दिया था। द्र० कास्ट इन इण्डिया, पृ० 117। किन्तु इस विचार को अन्य विद्वानों ने अस्वीकृत किया है। उदाहरणार्थ ई०जे० थामस, हिस्ट्री आफ बुद्धिस्ट थॉट, पृ० 110, इलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, 1, पृ० 22: द्र० दी एज आफ विनय, पृ० 15।
32. बौद्धों में भी अपने ही वंश में विवाह करके रक्त को शुद्ध रखने का प्रयत्न है। द्र० फिक, पूर्वोक्त, पृ० 52। तु० घुर्ये, कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, पृ० 66।
33. द्र० घुर्ये, कास्ट फार क्लास एण्ड आक्यूपेशन, पृ० 70-71।
34. दी एज आफ विनय, पृ० 163।
35. आचारांग चूर्णि जिनदास गणि पृ० 93 : तु० संयुक्तनिकाय, समण ब्राह्मण सुत्त 2 नालन्दा देशी पाठ ग्रन्थमाला, बनारस, 1959 पृ० आदि 4, पृ० 234 तथा 5 पृ० 1।
36. सूत्रकृतांग एस०बी०ई०, जि० 45, 9/1 पृ० 301, तु० मिलिन्द प्रश्न हिन्दी अनु० पृ० 274 में बुद्ध को ब्राह्मण कहा गया है। महावग्ग ना०दे० ग्र० 1956 पृ० 4 तथा उदान एस०बी०ई० जि० 8 पृ० 5: आचारांग आत्माराम जी महाराज लुधियाना 193, प्रथम श्रु० 9/4/17 पृ० 735।
37. उपासकदशांग, 7 पी०एल०बैद्य, पूना 1930 पृ० 55।
38. निशीथ चूर्णि 13, 4423। सूत्रकृतांग एस०बी०ई०, जि० 45, पृ० 417 में उल्लेख है कि वेदान्ती यह मानते थे कि स्नातकों को भोजन कराने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। तु० हजारा, पुराणिक रिकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ० 258।
39. उत्तराध्ययन, 25/29, 33 आदि। बौद्धों ने भी इस प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार जन्म और जाति अहंकार पैदा करते हैं, गुण ही सबसे श्रेष्ठ है। इस लोक में धर्माचरण करने पर सभी वर्ण देवताओं की दुनिया में एक हो जाते हैं। सुत्तनिपात, 1, 7: 3,9 फिक, पूर्वोक्त, पृ० 29, मजूमदार, कारपोरेट लाइफ इन एन्शेन्ट इण्डिया, पृ० 354-63। उत्तराध्ययन, 25/11-45।
40. उत्तराध्ययन एस०बी०ई० जि० 45, अ० 25, 20-29, पृ० 138-39।
41. दी एज आफ विनय, पृ० 163।
42. निशीथभाष्य, 13, 4423 तथा आचारांगचूर्णि, पृ० 182। उत्तराध्ययन 25/6-8 में ब्राह्मणों को शकुनिपारग कहा गया है। शकुनी अर्थात् चौदह विद्यास्थान जो इस प्रकार हैं - चार वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद छः अंग शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छंद और कल्प तथा मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र।
43. कल्पसूत्र (एस०बी०ई०), जि० 22, पृ० 220-21।
44. फिक, पूर्वोक्त कलकत्ता 1920 पृ० 222: द्र० गोविन्द चन्द पाण्डे, बौद्ध धर्म के विकास *का इतिहास, पृ० 22।*
45. उत्तराध्ययन के पच्चीसवें अध्ययन में उन्नीसवें श्लोक से बत्तीसवें श्लोक तक ब्राह्मणों के

लक्षणों का निरूपण है। अट्ठाइस से इक्कीस के अतिरिक्त प्रत्येक श्लोक के अन्त में— तं वयं बूम माहणं, ऐसा पद है। इसकी तुलना धम्मपद के ब्राह्मण वर्ग 36वें, सुत्तनिपात के वासेट्ठसुत्त 35 के 245वें अध्याय से की जा सकती है। धम्मपद के ब्राह्मणवर्ग में नौ श्लोकों के अतिरिक्त सभी श्लोकों का अन्तिम पद तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं, है। इनमें कौन ब्राह्मण होता है और कौन नहीं इसका सुन्दर विवेचन किया गया है। अन्तिम निष्कर्ष यही है कि ब्राह्मण जन्मना नहीं होता कर्मणा होता है। इसी प्रसंग में तुलनीय, महाभारत, शान्तिपर्व, अ०245। इसमें छत्तीस श्लोक हैं। इसमें सात श्लोकों के अन्तिम चरण में तं देवा ब्राह्मणं विद: ऐसा पद है। इस प्रकार जैन, बौद्ध और ब्राह्मण तीनों साक्ष्यों में ब्राह्मण विषयक अवधारणा में आश्चर्यजनक समानता दृष्टिगोचर होती है।

46. आवश्यक चूर्णि, पृ० 213 आदि।
47. उत्तराध्ययन टीका, 3, पृ० 57।
48. दी एज आफ विनय, पृ० 163।
49. उत्तराध्ययन टीका - 13।
50. रतिलाल एन० मेहता, प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 249।
51. उत्तराध्ययन, अध्याय 25।
52. कल्पसूत्र एस०बी०ई०, जि० 45, पृ० 220-21।
53. वही, जि० 22, पृ० 225।
54. इसी विषय में एक दूसरी परम्परा भी है जिसके अनुसार महावीर त्रिशला ही के गर्भ में आये और उन्हीं से जन्म ग्रहण किया। इसकी व्याख्या तीन प्रकार से की जा सकती है—(1) यह घटना ब्राह्मणों को नीचा दिखाने के लिए बाद में जोड़ी गई हो, (2) कृष्ण की तरह महावीर के जीवन को चमत्कारमय बनाने के उद्देश्य से गढ़ी गई हो एवं (3) गर्भापहरण की घटना वास्तविक है।

गर्भ की जैविक प्रक्रिया के स्थूल सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि पुरुष के वीर्य से ही स्त्री में मानव निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ होती है। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि महावीर ऋषभदत्त द्वारा देवनन्दा के गर्भ में आये तो सिद्धार्थ और त्रिशला का महावीर के विषय में मात्र यह दाय रह जाता है कि त्रिशला ने उनका पोषण किया चाहे गर्भ के रूप में या नवजात शिशु के रूप में। सिद्धार्थ का कोई भी दाय इस दृष्टि से महावीर के जन्म देने में नहीं हरता। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि त्रिशला ने देवनन्दा के गर्भ का पोषण क्यों स्वीकार किया। कोई स्त्री यह दायित्व तभी स्वीकार कर सकती है जब वह स्वयं शिशु को जन्म देने में असमर्थ हो।

यदि यह माना जाये कि त्रिशला के सन्तान नहीं होती थी। इसलिए उसने सम्पोषण का दायित्व स्वीकार किया। तब अनुसन्धाता के समक्ष एक अन्य कठिनाई उत्पन्न होती है कि वर्धमान महावीर का बड़ा भाई नन्दिवर्धन कौन था? यदि वह त्रिशला का बेटा था तो उसके बाद महावीर को त्रिशला द्वारा सन्तानहीन होने के कारण पोषण की युक्तिसंगत नहीं रहती। यदि महावीर वय: में नन्दिवर्धन से छोटे नहीं थे तो वह बात समझ में नहीं आ सकती। अर्थात् महावीर के सम्पोषण तक त्रिशला के कोई पुत्र नहीं था इसलिए उन्होंने देवनन्दा के पुत्र को स्वीकार किया। बाद में स्वयं उसके पुत्र उत्पन्न हो गया।

निष्कर्ष रूप में हमें दो में से एक को चुनना होगा —

(1) महावीर यदि देवनन्दा के गर्भ में आये तो वह ऋषभदत्त और देवनन्दा के ही पुत्र थे। त्रिशला और सिद्धार्थ के नहीं।

(2) यदि त्रिशला और सिद्धार्थ के पुत्र थे तो त्रिशला ही के गर्भ में आये थे। द्र० डा० गोकुलचन्द जैन, ''तीर्थंकर महावीर का जीवन और विरासत'', तुलसीप्रज्ञा, अप्रैल-जून 1975, पृ० 31-32। इसके अतिरिक्त भी एक सम्भावना है कि ऋषभदत्त एक कल्पित नाम हो और महावीर की माता देवनन्दा तथा पिता सिद्धार्थ ही हों किन्तु माता के क्षत्राणी न होने से उसे नन्दिवर्धन की अपेक्षादाय कम मिलने की सम्भावना देखते हुए स्वयं सिद्धार्थ ने उसे त्रिशला का पुत्र घोषित करा दिया हो।

55. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 31,37,38। साहित्य में ब्राह्मणों को हीन जच्चको कहा गया है। उदाहरण जातक 5/257।
56. दी एज आफ विनय, पृ० 166-67।
57. पाचित्तिय, पृ० 213।
58. मनु, 8/2/8।
59. द्र० जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 228।
60. एक बार में सौ व्यक्तियों का संहार करने वाला यन्त्र।
61. उत्तराध्ययन एस०बी०ई०, जि० 45, पृ० 37।
62. वृहत्संहिता, 53/36 में उल्लिखित तथाकथित सर्वश्रेष्ठ गृह।
63. उत्तराध्ययन एस०बी०ईग०, जि० 45, पृ० 38।
64. तु० प्रजानांरक्षणं दानमिज्या अध्ययनमेव च। विषयेषवप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासक्त:।। मनुस्मृति, 1/89, प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढना, विषय में आसक्ति नहीं रखना, संक्षेप में इन कर्मों को क्षत्रियों के लिए बताया गया है।
65. उत्तरज्झयाणि सानुवाद, 9/46, पृ० 116।
66. महावग्ग, अध्याय 9, ओल्डनबर्ग की मान्यता थी कि गृहपति वैश्य का पर्याय माना जा सकता है। द्र० हिस्ट्री आफ दी इण्डियन कास्ट सिस्टम अनुवाद एस०जी० चकलादार: इण्डियन एन्टीक्वेरी जि० XLIX, पृ०1920, पृ० 228 तथा एनल्स आफ भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट, पूना 1934, पृ० 68।
67. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 229।
68. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 21।
69. दी एज आफ विनय, पृ० 167।
70. रतिलाल मेहता, पूर्वोक्त, पृ० 221।
71. उत्तराध्ययन टीका शान्तिसूरि, बम्बई 1902, जि० 2, पृ० 45।
72. आवश्यक चूर्णि, पृ० 44।
73. गृहपतियों को इभ्य, श्रेष्ठी और कौटुम्बिक नाम से भी कहा गया है। इन्हें राजपरिवार का अंग माना जाता था। औपपातिक सूत्र, 27, फिक, पूर्वोक्त पृ० 256।
74. वही, पृ० 297।
75. आवश्यक चूर्णि, पृ० 197-98।
76. मलालसेकर, डिक्शनरी आफ पाली प्रोपर नेम्स, जि० 29।
77. सम्पूर्ण जैन आगम उदाहरण के लिए आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन तथा कल्पसूत्र आदि इस बात के उत्कृष्ट प्रमाण हैं कि श्रमणों को भोजन, वस्त्र तथा आवास किस प्रकार गृहपतियों से प्राप्त होता था। *इस विषय में श्रमण तथा श्रमणियों की आचार संहिता मन्थन योग्य है। तु० बोद्धग्रन्थों में उल्लिखित अंग के मेण्डक, कौशल के अनाथपिण्डक तथा कोशाम्बी के घोषक नामक धनाढ्य श्रेष्ठि जिन्होंने संघ को आराम, विहार तथा स्वर्ण*

मुद्राएं दान में दी थीं। जैन श्रावकों के विषय में विस्तार के लिए द्र० जयप्रकाश सिंह, आस्पेक्ट्स आफ अर्ली जैनिज्म एज नोन फ्राम एपीग्राफ्स, पृ० 27।

78. ज्ञातृधर्मकथा, 13 स० एन०वी०वैद्य, पृ० 141।
79. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 21।
80. पशूनां रक्षणं दानमिज्याअध्ययनमेव च।
वणिक्यधं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेवच।। - मनुस्मृति, 1/90।
81. सूत्रकृतांग एस०बी०ई० जि० 45, पृ० 373।
82. वही, 2/2/62।
83. वही, 2/2/62-63।
84. वही, 2/2/64-65।
85. उदाहरण के लिए जैन तथा बौद्ध संघ का द्वार बिना किसी भेदभाव के महावीर स्वामी तथा गौतम बुद्ध ने सबके लिए खोल दिया। किन्तु संघ विस्तार के साथ सैद्धान्तिक आधार तो वही बना रहा किन्तु व्यवहार में संघ प्रवेश के लिए जातीय आधार पर प्राथमिकता दी जाने लगी। कालान्तर में दिगम्बर जैन संघ में श्रमणों को शूद्र जल परित्याग का व्रत दिलाया जाने लगा। इतना अवश्य था कि इनके संघों में प्रवेश करने से पूर्व जाति या कुलीनता अर्थ रखती थी किन्तु संघ प्रविष्ट होने पर जाति अपना अर्थ, मूल्य और स्वरूप खो देती थी। वस्तुत: आज भी जैन संघ में प्रविष्ट व्यक्ति को जाति सम्बन्धी उपाधि से नहीं जाना जाता अपितु उसके आध्यात्मिक पर्याय से उपलब्ध आचार्य, साधक, साध्वी जैसी उपाधि से जाना जाता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन अभी भी यही स्वीकार करते हैं कि संघ में प्रविष्ट सभी सदस्य व्यक्ति या व्यक्तिगत चेतना हैं जाति नहीं किन्तु साथ ही साथ शूद्रों के समानता के अवसर को बाधित करने के लिए उन्होंने ऐसा नियम बना रखा था कि संघ का नियमित सदस्य बनने के लिए साधना की न्यूनतम योग्यता आवश्यक है ताकि संघ आचार को पाल सके। इस न्यूनतम योग्यता के आधार पर ही अधिकांशत: शूद्र अयोग्य मान लिए जाते थे। अधिक विस्तार के लिए द्र० फिक, पूर्वोक्त, पृ० 30-33; घुर्ये, कास्ट क्लास एण्ड आक्यूपेशन, पृ० 70-71: चार्ल्स इलियट, हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म-1, 22।
86. उत्तरज्झयणाणि सानुवाद, पृ० 156 तथा उत्तराध्ययन टीका, 13, पृ० 186, द्र० जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 232।
87. उत्तरज्झयणाणि, अ० 13, आमुख, पृ० 156।
88. अन्त:कृद्दशा, 4, पृ० 22 तु० मनुस्मृति, 10/50 जहां कहा गया है कि इन वर्ण संकर जातियों को चैत्यद्रुम ग्राम के समीप प्रसिद्ध वृक्ष श्मशान, पर्वत और उपवनों में अपनी आजीविका के कार्य करते हुए रहना चाहिए। शूद्रों के लिए प्राय: अनार्य तथा म्लेच्छ शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। जिसमें म्लेच्छ की गणना में वरवर, सरवर और पुलिन्द्र नामक जाति आती थी तथा अनार्य साढ़े छत्तीस प्रदेश से बाहर रहने वाले थे।
89. द्र० आचारांग एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 137-38।
90. अन्त:कृद्दशा, 4, पृ० 22।
91. निशीथचूर्णि, 4/1816 की चूर्णि।
92. सूत्रकृतांग एस०बी०ई०, जि० 45, 2/27।
93. उत्तराध्ययन एस०बी०ई०, जि० 45, अ० 12/1 पृ० 50 यहां हरिकेश को चाण्डाल कहा गया है।

94. फिक, पूर्वोक्त, पृ० 324।
95. मज्झिम निकाय-III न लाभी अन्नरस पाणस्स, पृ० 169-70 तथा अंगुत्तर निकाय-II, पृ० 85।
96. व्यवहारभाष्य, 2/37: 3/92।
97. हार्नर, दी एज आफ डिसिप्लिन-1, अनुवाद सैक्रेड बुक्स आफ दी बुद्धिस्ट में आई बी० हार्नर द्वारा जि० 11, पृ० 175।
98. विनयपिटक, जि० 4,6 सं० एच० ओल्डनवर्ग, अनु० आईबी० हार्नर - सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट बुद्धिस्ट, यद्यपि उपालि नामक हज्जाम भिक्षु बन गया था फिर भी भिक्षुणियां उसे हीनकुल में उत्पन्न कह कर निन्दित करती थीं जिसका पेशा लोगों का सिर दबाना और गंदगी साफ करना था 'कसवतो मलभज्जनो नि हीन जच्चो', पृ० 308।
99. दीर्घनिकाय, 3, 95।
100. आचारांगसूत्र : तु० दीर्घनिकाय, पृ० 92-93।
101. गौतमधर्मसूत्र, 58, जीर्णान्यूनपानच्छत्तवासः कूर्चानि। द्विजाति की सेवा, कृषि, पशुपालन व शिल्प तथा वार्ता शूद्र का पारम्परिक अधिकार था। द्र० अर्थशास्त्र शामाशास्त्री, सं० 6, अ० 3, पृ० 7।
102. जातक, 1, पृ० 372।
103. विनयपिटक ओल्डन वर्ग-1, पृ० 220।
104. वसिष्ठ धर्म सूत्र, 24। दीर्घवेरमसूया चासत्यं ब्राह्मणदूषणं, पैशून्य निर्दयत्वं च जानीयात शूद्रलक्षणम।।
105. द्र० शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० 124।
106. मज्झिम निकाय, 1, पृ० 211: ।।, पृ० 182-84: संयुक्त निकाय,-1, 99, विनयपिटक-II, पृ० 239, अंगुत्तर निकाय, पृ० 202: दीर्घ निकाय-III, पृ० 80-87 उल्लेखनीय है कि महावीर ने भी अपने श्रमणों से कहा कि धर्म का उपदेश जैसा सम्पन्न को दो वैसा ही तुच्छ को दो, जैसा तुच्छ को दो वैसा ही सम्पन्न को दो। आयारो, 2/174: द्र० जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ० 102।
107. जातक,III, पृ० 194, 4, पृ० 303।
108. वही, पृ० 200।
109. वही।
110. उत्तरज्झयणाणि सानु० अ० 11।
111. लाइफ एज डिपिक्डेड इन जैन कैनन्स, पृ० 107।
112. उत्तराध्ययन, अ० 12।
113. आपस्तम्ब धर्मसूत्र-II, 8/18/2 : बौधायन धर्मसूत्र - II, 2/3/1। वसिष्ठधर्मसूत्र 14,2,4।
114. आचारांगसूत्र -II, 1,2,2।
115. विनयपिटक, III, 184-85: पृ० 80, 177।
116. बोस, सोशल एण्ड रुरल इकानॉमी आफ नार्दर्न इण्डिया, 2, पृ० 423।
117. ठाणांग, 10, 712: परिजुना, रोगिणी तीआ, रोसा और अणाढिता पव्वज्जा।
118. सूत्रकृतांग-II, 2/54।
119. वही, 7/25।
120. साल्मस आफ दी ब्रेथरेन, 17, पृ० 21-22।
121. कारभेदको चोरो—चोरो कसाहते कदण्ड कम्मको इणामिको- दासो। - विनयपिटक, 1,

पृ० 74-76।

122. दीर्घ निकाय,1,5।
123. ठाणांग-III, 202: सोशल लाइफ एज डैपिक्टेड इन दी अर्ली जैन कैनन्स, पृ० 194।
124. शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० 120।
125. राय चौधरी, अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सैक्ट, पृ० 71।
126. शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० 97।
127. विनयपिटक, पृ० 181-82। साकियदास का अवरुद्धा होन्ति — साकियनियो अच्छिदिमिसु च।
128. बौधायन धर्मसूत्र-II, 2/4/18 आत्मत्राणे वर्णसंवर्गे — वसिष्ठ धर्मसूत्र,III, 24-25: द्र० फुहरर, वसिष्ठ धर्मसूत्र की प्रस्तावना, पृ० 5।
129. तु० वेस्टरमन्न, दी स्लेव सिस्टम्स आफ ग्रीक एण्ड रोमन एन्टिक्विटी, पृ० 37: ग्रीकों और रोमनों के युद्ध में दासों से योद्धा का काम नहीं लिया जाता था।
130. रामशरण शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० 125।
131. आचारांग सूत्र, आत्माराम जी महाराज,II, 1/1, पृ० 754-56।
132. वही।
133. वही।
134. वही, 1/4, पृ० 812।
135. वही, 1/5, पृ० 829-30।
136. वही, पृ० 839।
137. वही, पृ० 843-44।
138. वही, पृ० 860।
139. वही।

अध्याय 6

राजनीतिक एवं ऐतिहासिक विवरण

प्राचीन भारत में राजनीति शास्त्र को राज धर्म, राज्य शास्त्र, दण्ड नीति आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। इनमें से राज धर्म व राज्य शास्त्र नाम इसलिए दिये गये हैं कि उस समय नृपतन्त्र या राजतन्त्र सामान्यत: प्रचलित था व इसलिए शासन शास्त्र को राज धर्म या राज्य शास्त्र का नाम देना स्वाभाविक था। दण्ड नीति यह नामाभिधान भी समझने में कठिन नहीं है। अनेक राजनीति शास्त्री भी राजसत्ता का अन्तिम आधार दण्ड या बलप्रयोग समझते थे। यदि राज्यसत्ता अपराधियों को दण्ड न देगी तो समाज में मात्स्य न्याय या अराजकता शुरू हो जायेगी, दण्ड के भय से ही लोग न्याय पथ का अनुसरण करते हैं। जब सब लोग सोते हैं तब दण्ड जाग कर उनका रक्षण करता है। दण्ड ही धर्म है ऐसी भारतीय शास्त्रों की धारणा थी।[1] पालि ग्रन्थों में दण्ड शब्द का प्रयोग ठकम्मठ शब्द से हुआ है।[2] जैनसूत्रों में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सूत्रकृतांग में पाप के तेरह कारणों में से प्रथम पांच का अनुवाद जैकोबी ने दण्ड समादान के रूप में किया है।[3] यहां दण्ड तीन प्रकार के बताये गये हैं—देह दण्ड, वाक दण्ड तथा मनोदण्ड।[4] किन्तु आवश्यक यह है कि दंड का प्रयोग सावधानी से किया जाये।[5] सामान्यत: हिन्दू राज्य शास्त्र की यही भावना है।

कौटिल्य के अनुसार यदि राजा कड़ा दण्ड दे तो लोग उससे द्वेष करेंगे। यदि बहुत कम दण्ड दे तो वह उसका आदर नहीं करेंगे।[6] यदि वह उचित मात्रा में दिया जाये तो जनता सुखी रहेगी। समाज की प्रगति होगी व राजा का आसन स्थिर रहेगा।

कौटिल्य के अनुसार यह धारणा उचित नहीं है कि दण्ड से लोगों के मन में

भय उत्पन्न होता है। अपराधी को दण्डित होते देख कानून से चलने की प्रवृत्ति स्वभावत: उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप दण्ड प्रयोग करना भी समाज में आवश्यक हो जाता है। इससे न केवल व्यक्ति का अपितु समाज का भी कल्याण होता है। उशनस के अनुसार सभी नीति राजनीति पर निर्भर हैं।[7] मनु ने दण्ड देने वाले व्यक्ति को राजा नहीं माना किन्तु दण्ड को ही शासक समझा है।[8] ऐसी परिस्थिति में शासकों के कर्तव्य व समाज के कल्याण को बताने वाले शास्त्र को दण्डनीति नाम देना सर्वथा उपयुक्त है। सोमदेव रचित नीति वाक्यामृत तथा हेमचन्द्र रचित लघ्वर्हन्नीति नामक दो परवर्ती जैन ग्रन्थों में राजनीति शास्त्र के विषय में जैन दृष्टिकोण का विवेचन प्राप्त होता है। ये दोनों ग्रन्थ महावीर द्वारा मागध राजा बिम्बिसार को दिये गये उपदेश का सार प्रस्तुत करने का दावा करते हैं। इन ग्रन्थों के अवलोकन से यही प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र के मान्य सिद्धान्त जैन आचार्यों को भी सामान्यत: स्वीकार्य थे और इस प्रसंग में उनका केवल विशेष आग्रह यह था कि राजा जैन धर्म में श्रद्धालु हो तथा यथासंभव निष्पक्ष एवं न्यायी हो और युद्ध से बचने का प्रयास करे। वे भी यह नहीं कहते कि राज्य के नियमों का अनुपालन बिना लोगों को दण्ड दिये चलाया जा सकता है अथवा यह कि युद्ध कदापि नहीं करना चाहिए। इन कार्यों में हिंसा अपरिहार्य है किन्तु राजकार्य के संदर्भ में इनसे सर्वथा बचे रह पाना कठिन है। हिंसा का सर्वथा परिहार केवल मिथकीय युगों में संभव था।[9]

महावीर कालीन राजनीतिक स्थिति

भगवती सूत्र से ज्ञात होता है कि तीर्थंकर महावीर के समय भारत में राजनीतिक स्थिति बिखरी हुई थी। किसी एक शक्तिशाली राजा का आधिपत्य नहीं था। भारतवर्ष बहुत से स्वतन्त्र राजतन्त्रीय अथवा अराजतन्त्रीय राज्यों में बंटा हुआ था।

भगवतीसूत्र में सोलह महाजनपदों की सूची प्राप्त होती है,[10] जो इस प्रकार हैं—अंग, मगध, मलय, मालवक, अच्छ (रिक्ष), वच्छ (वत्स), कोच्छ कच्छ-(कौत्स), पाद पाण्ड्य, लाढ (राढ) (पश्चिम बंगाल), वज्ज वज्जि (विदेह), मोली मल्ल (पावा) तथा कुशीनारा, काशी, कोसल, अवाह अभी तक समीकरण नहीं हो पाया तथा संमुन्तर सुमहोत्तर।[11] लगभग यही सूची किंचित परिवर्तन के साथ बौद्धग्रन्थ अंगुत्तर निकाय में प्राप्त होती है।[12] इस सूची के अनुसार सोलह महाजनपद की गणना इस प्रकार है—काशी, कोसल, अंग, मगध, वज्जि (वृज्जि), मल्ल, चेतिय (चेदि), वंश (वत्स) कुरु, पांचाल, मच्छ (मत्स्य-जयपुर), शूरसेन (मथुरा), अस्सक (अश्मक) अवन्ति, गन्धार तथा कम्बोज।

दोनों ही सूचियों में अंग, मगध, वत्स, काशी तथा कोसल के नाम प्राप्त होते

हैं किन्तु भगवतीसूत्र में उल्लिखित मालवक और मोली भिन्न हैं जिनका समीकरण अंगुत्तर निकाय के अवन्ति और मल्ल से किया जा सकता है।[13]

यह महाजनपद विदेह के पतन के पश्चात् वज्जिसंघ के उत्कर्ष तथा महाकोसल द्वारा कोसल के साम्राज्य में काशी में विलय के पूर्व के हैं।

महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाएं

इस समय की राजनीति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना चतुष्कोणीय[14] संघर्ष है जिसमें काशी, कोसल, मगध तथा वज्जि के महत्वाकांक्षी शासक उत्तरपूर्वी भारत पर अपना राजनीतिक आधिपत्य तथा साम्राज्य की प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहते थे।

वज्जिसंघ की सैन्यशक्ति उत्तर भारत में वैशाली राज चेटक के नेतृत्व में विकसित हो रही थी। राजा चेटक अपने मित्रों के साथ संगठित था जिनमें नौ मल्लकी, नौ लिच्छवी तथा काशी, कोसल व उनके अट्ठारह गणराजा सम्मिलित थे।[15] दूसरी ओर झगड़े में अगुआ रहने वाली मगध की राजशक्ति थी जिसका प्रधान विदेहपुत्र कुणिक अजातशत्रु था जो कि अपनी राजधानी राजगृह से मगध के प्रसार और स्वयं के अभ्युत्थान में निरत था।[16]

जैनग्रन्थ कल्पसूत्र[17] तथा सूत्रकृतांग[18] से ज्ञात होता है कि मगध साम्राज्य का सामना करने के लिए लिच्छवियों ने पूरा प्रयास किया व मित्रराज्यों के साथ मिलकर संगठन बनाया जिससे मगध साम्राज्य का नियन्त्रण किया जा सके किन्तु फिर भी उत्तर पूर्वी भारत में शक्ति संतुलन स्थापित न हो सका। महत्वाकांक्षी साम्राज्यवादी शासकों के बीच दो ऐतिहासिक युद्ध होकर रहे जो महाशिलाकण्टक[19] संग्राम तथा रथमूसल संग्राम[20] के नाम से ज्ञात हैं। यह दोनों युद्ध महावीर भगवान को ज्ञात थे। इन दोनों युद्धों से मगध, वैशाली, काशी तथा कोसल के मध्य अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों तथा युद्ध की प्रकृति व प्रकार पर प्रकाश पड़ता है।

युद्ध के एक दृश्यानुसार कुणिक ने यह जानकर कि वज्जिसंघ से भयानक महाशिलाकण्टक संग्राम शुरू हो गया है अपनी सेना को तुरन्त प्रमुख हाथी उदायिन को सजाने तथा चतुरंगिणी सेना को जिसमें पदाति, हाथी, रथ और घुड़सवार थे सजाने का आदेश दिया। उसके आदेश के साथ ही सेना ने तुरन्त प्रयाण किया व तकनीकी विशेषज्ञों द्वारा तैयार किये व्यूह में सेना बंट गयी व द्रुत गति से सम्पूर्ण सेना के युद्ध में प्रवृत्त होने की सूचना राजा को दे दी गयी।[21] इसके पश्चात राजा कुणिक ने धार्मिक संस्कार किया और चतुरंगिणी सेना तथा अन्य पदाधिकारियों जैसे भाट, चटकार आदि के साथ महाशिलाकंटक संग्राम की ओर

प्रस्थान किया।

राजा कुणिक ने युद्ध बहुत बहादुरी से लड़ा और नौ मल्लकियों, नौ लिच्छवी, काशी-कोसल और उनके अट्ठारह गणराजाओं की संयुक्त सेना को एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर खदेड़ा। इस संग्राम में जितने भी हताहत हुए या कालकवलित हुए उनमें यही नाद किया कि वह महाशिला से मारे गये इसीलिए इस युद्ध को महाशिला कण्टक संग्राम कहा गया। इस युद्ध में चौरासी लाख व्यक्ति मारे गये किन्तु युद्ध में कुणिक की विजय निर्णायक विजय नहीं थी।[22]

महाशिलाकण्टक युद्ध अनिर्णायक रहने के कारण शीघ्र ही दूसरा महायुद्ध रथमूसल संग्राम[23] आरम्भ हो गया जिसे महाश्रमण महावीर ने जाना और याद किया। यह युद्ध मगधराज कुणिक तथा नौ मल्लकी व नौ लिच्छवियों के बीच हुआ जिसमें मल्लकी और लिच्छवियों के संगठन का नेतृत्व वैशाली का प्रतापी राजा चेटक कर रहा था किन्तु इस दूसरे महासंग्राम में काशी कोसल व अट्ठारह गणराजाओं का उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

अब की बार कुणिक युद्ध मैदान में चतुरंगिणी सेना के साथ तो आया ही साथ ही नया विध्वंसक युद्धास्त्र लेकर आया। महाशिलाकंटक के समान ही उसने अपनी कुशल सेना के साथ नौ मल्लकी और नौ लिच्छवियों की सेना को एक दिशा से दूसरी में खदेड़ा। रथमूसल एक ऐसा रथ था जिसमें एक बहुत बड़ा मूसल जुड़ा था। इसे हर दिशा में दौड़ाया जिससे अपार जनहानि हुई तथा एक कल्प[24] तक के लिए उसने शत्रुओं का पूर्ण उन्मूलन कर दिया तथा युद्धभूमि को रक्त की कीच से सींच डाला। इस युद्ध में छियानवें लाख व्यक्तियों ने जान से हाथ धोये और कुणिक ने शत्रुओं को भयानक पराजय दी।

श्रमणोपासक नागपुत्र वरुण जो कि वैशाली का प्रमुख नागरिक था, उसे राजा के आदेश, गण तथा परिषद के आदेश तथा सेना के आदेश मिले कि वह रथमूसल संग्राम में शत्रु के विरुद्ध भाग ले। उसे अपने राज्य के आज्ञापत्र के समक्ष झुकना पड़ा तथा अपनी सशस्त्र सेना जिसमें अनेक गणप्रमुख तथा राजपूत सीमा रक्षक थे, के साथ युद्ध को प्रयाण किया। उसने युद्ध में स्वयं आक्रमण न करने की नीति का पालन किया। शत्रु के तीर से बुरी तरह आहत होने पर उसने तुरन्त युद्ध भूमि को छोड़ दिया तथा अपनी अन्तिम सांस एकान्त भूमि में निर्ग्रन्थमत की शिक्षाओं के अनुसार ली।[25]

किन्तु इन दो महासंग्रामों जिसमें चेटक की अधीनता में इतनी बड़ी युद्ध संधि करके मल्लकी और लिच्छवीगण आये का मूल कारण क्या था इस विषय पर सूत्रकृतांग, कल्पसूत्र और भगवतीसूत्र तीनों मौन हैं।

जैनग्रन्थ निर्यावलिसूत्र[26] के अनुसार इस महान संघर्ष का कारण प्रसिद्ध हाथी सेयांग सेचनक था जो कि बहुत चमकीला था तथा जिसके गले में अट्ठारह लड़

का मुक्ताओं का हार था जो राजा सेणिय बिम्बिसार[27] मगधराज द्वारा अपने छोटे पुत्रों हल्ल और बेहल्ल को जो कि उसकी रानी चेल्लणा के पुत्र थे उपहार में दे देना था। चेल्लणा राजा चेटक की पुत्री थी। कुणिक ने जब पिता की गद्दी पर अधिकार जमा लिया और शक्तिशाली अधिपति बन गया तब पत्नी के उकसाने पर उसने अपने भाइयों से दोनों उपहार वापिस मांगे। छोटे दोनों भाइयों ने पिता के उपहार को वापिस करने से इन्कार कर दिया और उसी समय भागकर अपने नाना चेटक के यहां शरण ले ली। चेटक द्वारा दोनों शरणार्थियों तथा उपहार के शान्तिपूर्वक तरीके से वापिस नहीं लौटाने पर राजा कुणिक ने चेटक से युद्ध की ठान ली।[28] आजीवक सम्प्रदाय के नेता मखलिपुत्त गोशाल ने भी इन युद्धों का उल्लेख किया है। जैन सूत्रों से ज्ञात होता है कि मखलिपुत्त की मृत्यु से सोलह वर्ष पश्चात् जब महावीर का परिनिर्वाण हुआ उस समय भी मगध के विरुद्ध मल्लकी तथा लिच्छवी के गणराज्यों के संघ बने हुए थे। इन संघीय राज्यों ने महावीर के परिनिर्वाण के उपलक्ष्य में दीपक जलाये थे।[29]

गणराज्य व्यवस्था

जैन सूत्रों में प्राय: गण शब्द का उल्लेख हुआ है। प्राय: गण का अभिप्राय गणतान्त्रिक प्रजा से ही है। भगवान महावीर के समय में लिच्छवि एवं शाक्य आदि अनेक शक्तिशाली गणतन्त्र राज्य थे। वज्जि गणतन्त्र में नौ लिच्छवि और नौ मल्लकी तथा काशी और कोसल के अट्ठारह गणराज्य सम्मिलित थे। कल्पसूत्र में इसे ठगणरायाणोठ लिखा है।[30] अतएव वृहदवृत्ति में भी उक्त शब्द की व्याख्या करते हुए शान्त्याचार्य लिखते हैं, गणामल्लादि समूहा:। यों तो राज्यतन्त्र ही प्राचीन भारत की सर्वमान्य संस्था थी किन्तु जहां राज्य तन्त्र नहीं था वहां कुलीनतन्त्र, गणतन्त्र तथा लोकतन्त्र जैसी शासन व्यवस्था थी।[31] कुछ लोगों की मान्यता है कि गणराज्य प्राचीन भारत में थे ही नहीं अपितु वह जनजातीय राज्य थे। उदाहरण के लिए मालवगण व यौधेयगण क्रमश: मालवा तथा यौधेय के गणराज्य नहीं थे अपितु मालव व यौधेय जनजातियां होने पर भी उनके राज्य गणराज्यीय व्यवस्था से शासित थे।[32] गण[33] एक निश्चित प्रकार के शासनतन्त्र थे जो राज्यतन्त्र से भिन्न थे। गण ऐसी शासनसंस्था थे जिसमें सम्प्रभुता व्यक्ति में निहित न होकर गण या समूह में निहित होती थी।[34] गणसभा में केवल क्षत्रिय होते थे जो राजन्य कहे जाते थे।[35]

जैन साधु को आगाह किया गया है कि वह ऐसे देश में जहां राजा न हो, या युवराज शासक के रूप में हो या दो राजा आपस में लड़ रहे हों या जो गणराज्य द्वारा शासित हो में जाने से बचे।[36] जैन साधु के लिए वर्जित क्षेत्रों में गणराज्यों को

भी परिगणित करना आश्चर्यजनक लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि विविध कारणों से गणराज्यों का पतन प्रारम्भ हो गया था और उनमें अराजकता, अव्यवस्था तथा चारित्रिक अपकर्ष की स्थिति आ चुकी थी। श्रमण को ऐसे स्थान से बचना चाहिए जहां राजा न हो या एकाधिक राजा हो, या अमनोनीत राजा हो या द्वैराज्य हो या शासनतन्त्र न हो या दुर्बल तन्त्र हो क्योंकि ऐसे स्थान पर अज्ञानी प्रजा साधु का उत्पीड़न कर सकती है। हिंसा कर सकती है। किसी देश का गुप्तचर समझकर दुर्व्यवहार कर सकती है।

स्पष्ट है कि उस समय भारत में गणराज्यों की भी व्यवस्था थी।[37] काशी और कोसल में मल्ल और लिच्छवियों का शासन था इससे यह सिद्ध है कि उस समय भी भारत कई प्रान्तों में विभक्त था जिनमें अलग-अलग शासकों का शासन था जो सीमाओं की सुरक्षा अथवा विस्तार के लिए परस्पर लड़ते रहते थे। गणों का निश्चित विधान होने के कारण गण का एक निश्चित वैधानिक अर्थ था। बहुसंख्यक मुद्रासाक्ष्य इसे प्रमाणित करते हैं। उदाहरण के लिए मुद्राओं पर यौधेय, मालव और आर्जुनायन राजाओं का नहीं वरन् उनके गण का उल्लेख है जो यह स्पष्ट करता है कि उनका तात्पर्य जन या जाति से नहीं अपितु गण या लोकतन्त्र राज्य व्यवस्था से है जिसकी मुद्राएं चलायी गयीं।

यूनानी लेखकों ने अवश्य ही भारत में प्रजातन्त्रीय राज्यों का उल्लेख किया है। फिक का मत है कि ग्रीक लेखकों द्वारा वर्णित प्रजातन्त्र या स्वयंशासित राज्य छोटी-छोटी रियासतें या नगर राज्य थे जो मगध जैसे साम्राज्य के निकट रह कर भी स्वायत्तता बनाये हुए थे।[38]

कुछ लेखकों का कथन है कि इन राज्यों को प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र कहना उचित नहीं है क्योंकि इनमें सारे अधिकार साधारण जनता के हाथ में नहीं वरन् एक छोटे से उच्चवर्ग के हाथ में थे। यौधेयों में शासनसूत्र 5000 व्यक्तियों की परिषद के हाथ में था जिनमें से प्रत्येक के लिए राज्य को एक हाथी देना जरूरी था।[39] स्पष्ट है कि इस राज्य में उच्चवर्ग के सदस्य ही होते थे जो एक हाथी देने की सामर्थ्य रखते थे। जनसाधारण का राज्य के शासन में कोई हाथ न था। शाक्यों और कोलियों के राज्य में यही स्थिति थी।

इसमें सन्देह नहीं कि आजकल प्रजातन्त्र और लोकतन्त्र का जो अर्थ है इस अर्थ में तो प्राचीन भारत के यौधेय, शाक्य, मालव और लिच्छवि गणराज्य लोकतन्त्र नहीं कहे जा सकते। आधुनिक उन्नतिशील लोकतन्त्र राज्यों की भांति प्राचीन भारत के इन गणराज्यों में शासन की बागडोर सामान्य जनता के हाथ में नहीं थी किन्तु फिर भी इन्हें हम प्रजातन्त्र या गणतन्त्र कह सकते हैं।

राजनीति के प्रमाणभूत ग्रन्थों के अनुसार प्रजातन्त्र राज्य वह है जिसमें सर्वोच्च शासन अधिकार राजतन्त्र की भांति एक व्यक्ति के हाथ में न होकर एक समूह गण

या परिषद के हाथ में हो जिसके सदस्यों की संख्या चाहे कम हो या अधिक। इसी प्रकार प्रचीन रोम, एथेंस, स्पार्टा, कार्थेज आदि प्रजातन्त्र माने गये यद्यपि इनमें प्रजातन्त्र के सब लक्षण विद्यमान नहीं थे।

इस प्रकार शास्त्रीय और ऐतिहासिक दोनों आधारों से प्राचीन भारतीय गणराज्य प्रजातन्त्र कहे जाएंगे। इन राज्यों में शासनाधिकार एक व्यक्ति नहीं अपितु एक वर्ग के हाथ में था। लिच्छवि का गणराज्य अधिक विस्तृत न होने पर भी उसमें 7707 राज्य संस्थापक के वंशजों राजा की पदवी का अधिकार था।[40] धीरे-धीरे राज्य संचालन पर क्षत्रियों एकाधिकार हो गया तब दो प्रकार के गणतन्त्र सामने आये। जहां केवल राज्य संस्थापक क्षत्रिय वंशजों के हाथ में सत्ता थी उस गणतन्त्र को राजक गणतन्त्र कहने लगे। जहां सर्वक्षत्रिय वर्ग के हाथों में सत्ता थी उस गणतन्त्र को राजन्यक गणतन्त्र कहा जाने लगा। यही कारण है कि शान्तिपर्व में एक जगह गणतन्त्रों में सब अधिकारी एक जाति के व एक वंश के रहते हैं ऐसा विधान किया गया है।[41]

गणराज्य अपनी समरशूरता के लिए प्रख्यात थे। उनके मन्त्रिमण्डल के सभासद अवश्य ही संकट से अपने गण के उद्धार की शक्ति रखने वाले धीर वीर सेनानी रहे होंगे। गणनेता के लिए प्रज्ञा, पौरुष, उत्साह, अनुभव, शास्त्र और गणपरम्परा का ज्ञान आदि गुणों की अत्यन्त आवश्यकता थी।[42] गणाध्यक्ष ही मन्त्रिमण्डल का प्रधान और समिति का अध्यक्ष हुआ करता था। शासन कार्य की देखरेख के साथ ही उसका मुख्य कार्य गण की एकता बनाये रखना और झगड़े तथ फूट का निवारण करना था। जो बहुधा गणराज्यों के नाश के कारण होते थे। गणाध्यक्ष के उत्तरदायी पद के कारण ही सम्भवत: जैन संघ ने अपने संघीय प्रशासनिक अधिकारियों में 'गणि' पद सृजित किया जो संघ में एकता बनाये रखने का प्रयास करता था। गणि, गणधर, गणवच्छेदक गणव्यवस्था को आदर्श मानकर सृजित किये गये पद प्रतीत होते हैं। जैन सूत्रों में गणि का सामान्य अर्थ गण के अधिपति के अर्थ में ही हुआ है। जिसका गण हो वही गणि है गणोयस्य अस्तिति।[43] मुनि श्री नथमल के अनुसार छोटे-छोटे गणों का नेतृत्व गणि का कार्य था।[44] गण संघ की सबसे बड़ी इकाई था। इसकी व्याख्या कुलसमुदय: के रूप में की गयी है।[45] भगवती सूत्र के अनुसार गण की रचना तीन कुलों की से की जाती थी।[46]

उल्लेखनीय है कि गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था महावीर के काल में विद्यमान थी और उसी के अनुकरण पर महावीर ने अपने संघ के 11 गणों में गणधर पद पर नियुक्ति की। इस प्रकार जैन धर्मसंघ राजनीतिक गण संघ का अनुकरण भर था। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि बौद्ध संघ के विषय में यही धारणा पाई जाती है।[47] यदि हम यह माल लें कि बौद्ध संघ ने नियम तत्कालीन

गण या संघ राज्यों के आधार पर बनाये थे तो गण की शासन पद्धति को समझने में सहायता मिल सकती है।[48] बौद्ध संघ की गणपूर्ति कोरम के लिए बीस सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक थी। इसी प्रकार का कोई नियम गणतन्त्र की समिति में भी अवश्य रहा होगा। खास कर जब विभिन्न दलों में प्रतिद्वन्द्विता हो। पाणिनि के अनुसार जिस सभासद के आने से गणपूर्ति होती थी उसको 'गणतिथ या संघतिथ' कहते थे।[49] गणपूर्ति जो आवश्यक कार्यवाही करता था, उसे गणपूरक कहते थे।[50] सदस्यों के बैठने का स्थान निर्धारण करने के लिए भी एक कर्मचारी नियुक्त था। सम्भवत: गण-प्रमुख मंच पर बैठते थे और शेष सदस्य दलों के अनुसार उनके सामने रहते थे। गणमुख्य अधिवेशन का अध्यक्ष होता था और मन्त्रणा का नियन्त्रण करता था। किंचित पक्षपात हो जाने पर वह आलोचना का पात्र होता था। पहले प्रस्तावक औपचारिक रूप से प्रस्ताव उपस्थित करता था, तत्पश्चात् उस पर वाद-विवाद होता था। बौद्ध संघ में यह प्रथा थी कि प्रस्ताव के समर्थक मौन रहते थे केवल विरोधी ही असहमति प्रकट करते थे। समितियों में प्रस्ताव पर अवश्य ही वाद-विवाद होता होगा।

बौद्ध संघ में प्रस्ताव तीन बार उपस्थित और स्वीकृत किया जाता था। मतभेद होने पर मतदान की व्यवस्था थी और बहुमत का निर्णय मान्य होता था। यही कारण है कि गणव्यवस्था का आधार प्रजातान्त्रिक माना जाता था।[51] जब शाक्यों को कोसल की सेना द्वारा राजधानी घिर जाने पर कोसल की आखिरी चेतावनी मिली तब उनकी समिति यह निश्चय करने के लिए बुलाई गई कि दुर्ग के फाटक खोले जाएं या नहीं। कुछ सदस्य पक्ष में थे कुछ नहीं थे। अत: मत संग्रह हुआ जिसमें बहुमत आत्मसमर्पण की ओर था। अत: वही किया गया।[52] मतदान कभी-कभी अप्रकट रूप से किया जाता था तब उसे ग़हयक मतदान कहते थे। कभी-कभी सदस्य मतसंग्रह करने वाले के कान में अपना मत रखते थे, तब उसे सकर्णजपक मतदान कहते थे। कभी कभी प्रकट रूप से मतदान होता था तब उसे विवतक मतदान कहते थे।[53] प्रत्येक सदस्य को अनेक रंग की शलाकाएं दी जाती थीं व पूर्वसंकेत के अनुसार विशिष्ट रंग की शलाका विशिष्ट प्रकार के मत के लिए 'शलाकागाहपक' के पास दी जाती थी। मत के लिए छंद शब्द का प्रयोग किया जाता था। जिसका तात्पर्य व्यक्ति के निजी अभिप्राय से था। जैसी मतदान पद्धति बौद्ध संघ में थी निश्चय ही वैसी गणतन्त्रों में भी होगी।[54]

निर्विवाद है कि बुद्ध के जीवनकाल में मल्ल, लिच्छवि और विदेह राज्य गणतन्त्र थे। उनके पड़ोसी मगध और कोसल के राजा उन्हें जीतने का बारम्बार प्रयास करते थे इसलिए अपनी रक्षा के लिए यह गणतन्त्र अपना एक संयुक्त राज्यसंघ बीच-बीच में बनाते रहते थे। कभी लिच्छवी मल्लों से मिल जाते थे तो कभी विदेशों से, पर 500 ई० पू० में मगध ने मल्ल और विदेह राज्यों को जीत

लिया। लिच्छवियों को भी मगध साम्राज्य के आगे नतमस्तक होना पड़ा था, पर 200 ई०पू० तक वह पुन: स्वतन्त्र हो गये। 400 ई० में लिच्छवि राज्य अत्यन्त शक्तिशाली था और चन्द्रगुप्त प्रथम को राज्यविस्तार में लिच्छवियों के जामातृ होने से बहुत सहायता मिली। समुद्र गुप्त अपने आप को 'लिच्छवि दौहित्र' कह कर गौरवान्वित होता था।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि शाक्य लिच्छवि इत्यादि क्षत्रिय गणतन्त्रों में ब्राह्मणों के हाथों में अधिकार थे या नहीं कहना कठिन है। निश्चय ही ब्राह्मणों का सामाजिक स्तर सर्वोच्च था। वह सैनिक व सेनापति के पदों पर भी थे तथा उनके गणतन्त्र सिकन्दर के अभियान के समय सिन्ध में थे अर्थात् वहां उनके ही अधीन सब राज्य रहते थे।[55] गणतन्त्रवासी वाणिज्य व युद्धकला में प्रवीण होते थे ऐसा कथन अर्थशास्त्र में मिलता है जो वैश्यों के सम्मानजनक स्थान की ओर इंगित करता है।[56] किन्तु प्राय: बहुसंख्यक गणतन्त्र क्षत्रियप्रधान थे और यहां राज्य संस्था राजन्यों के हाथ में रहती थी। उत्तराध्ययनसूत्र में राजा को यूथाधिपति व गणाधिपति कहा गया है।[57]

अन्य शासनतन्त्र तथा द्विराज्यशासन

आचारांगसूत्र में जहां छ: प्रकार के तन्त्रों का उल्लेख हुआ है जिसमें द्विराज्य व विरुद्धराज्य की भी चर्चा है।[58]

यदि दो राजा आपस में लड़ रहे हों या विरुद्ध दशा में उखड़े हों तो इसे विरुद्धराज्य कहा जाता था। ऐसा राज्य जो स्वयं अपने विरुद्ध लड़ रहा हो, असन्तुलित हो तो इसे द्विराज्य (दो रज्ज) कहा जाता था। ऐसे उल्लेख मिलते हैं जब दो चचेरे भाइयों ने यदि उनका राज्य पर समान अधिकार बनता हो तो राज्य बांटने की जगह संयुक्त राज्य किया हो या दो युगल भ्राताओं ने ऐसे ही राज्य किया हो। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकतीं उसी प्रकार एक राज्य पर दो राजा असीमित शक्तियों को पाकर राज्य नहीं कर सकते। ऐसे राज्य में समूह बन जाते हैं तथा गुटबन्दी हो जाती है जिससे राज्य की एकता छिन्न-भिन्न हो जाती है। यही कारण है कि ऐसे राज्य में जैन साधु को भिक्षाचर्या या भ्रमण के लिए जाना निषिद्ध है। अर्थशास्त्र भी ऐसे राज्य का समर्थक नहीं है।[59] द्वैराज्य में कई बार राज्य दो राजाओं में बंट जाता था जैसे कि शुंगकाल में विदर्भ राज्य दो राजाओं में बंट गया था।[60] महात्माबुद्ध अराजक वैराज्य समाज की ओर आकृष्ट थे और चाहते थे कि गुणों के आधार पर ''वैराज्य'' का विकास हो।[61] वह कहते थे कि व्यक्ति अपना स्वामी आप है। उसका दूसरा कोई स्वामी कैसे हो सकता है? अपने को अच्छी तरह दमन कर लेने से वह दुर्लभ स्वामित्व को प्राप्त

करता है। वैराज्य की यह आदर्श अवधारणा हमें महाभारत काल में भी देखने को मिलती है।[62] ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि उत्तरमद्र तथा उत्तरकुरु आदि हिमालय के उत्तर के प्रदेशों में वैराज्य व्यवस्था थी तथा यह गणतन्त्र 'विराट' कहलाते थे।[63] विराट सम्बोधन इन वैराज्यों के राजाओं का नहीं अपितु नागरिकों का है और अभिषेक राजा का नहीं जनता का होता था।[64] जब संयुक्त राज्य के दोनों शासकों में मेल रहता था तब उसे द्वैराज्य (संस्कृत) या दो रज्ज (प्राकृत) कहते थे, जब उन राजाओं में झगड़ा रहता था तब उसे विरुद्धराज्य (संस्कृत) या विरुद्धरज्ज (प्राकृत) कहते थे। वैराज्य शब्द से प्राय: गणतन्त्र का निर्देश होता था। विगतो राजा यस्मात्त-राज्यं, अर्थात् जिस शासनसंस्था में राजा नहीं होता था वह वैराज्य कहा जाता था।

राज्यतन्त्र या नृपतन्त्र

मैगस्थनीज के विवरणानुसार चौथी शताब्दी ई०पू० में भारत में एक परम्परा प्रचलित थी। जिसके अनुसार प्रजातन्त्र का विकास राजतन्त्र के बाद माना जाता था।[65] पुराणों में बुद्ध के पूर्व की जो राजवंशावली है उससे प्रकट होता है की छठी शताब्दी के मद्र, कुरु, पांचाल, शिवि और विदेह गणतन्त्र पहले नृपतन्त्र ही थे। यद्यपि महावीर-कालीन शासन व्यवस्था उभयतन्त्री थी जिसमें राज्यतन्त्र के साथ साथ नृपतन्त्र भी दिखाई देता है। जनसामान्य का सहज आकर्षण प्रभावी राजतन्त्र की ओर ही था। यही कारण था कि ऋग्वेद से आरम्भ हुई शासनतन्त्र की यात्रा महाजनपद से जनपद होती हुई पुन: नृपतन्त्र में विलीन हो गयी। यद्यपि जैनसूत्रों में गणतन्त्रात्मक पद्धति के प्रति दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण दिखाई देता है किन्तु यथार्थ में प्रबल आकर्षण सबल राजतन्त्र की ओर उन्मुख था।

यही कारण है कि जैन सूत्रों में राजा विषयक अवधारणा प्रशस्तिपूर्ण है। सूत्रकृतांग में राजा के विषय में लिखा है कि मनुष्यों में एक राजा है जो इतना शक्तिशाली है जैसे महान हिमवन्त, मलय, मन्दार तथा महेन्द्र पर्वत। जिसने अपने राज्य में सारे राजनीतिक तथा सैनिक विप्लव दबा दिये हैं।[66] राजा को शक्ति का प्रतीक समझा जाता था इसलिए उसकी तुलना हथिनियों से घिरे साठ वर्ष के अपराजित बलवान हाथी[67], तीक्ष्ण सींगों व वलिष्ठ कन्धों वाले वृषभ[68] पशुओं में श्रेष्ठ दुष्पराजेय युवा सिंह से[69], तथा अपराजित बल अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित वज्रपाणि पुरन्दर[70] से की गयी है। ऐसे शक्तिमान राजा से अपेक्षित था कि वह दुष्पराक्रमी, शूर वीर योद्धा विजय वाद्यों की जयजयकार से सुशोभित हो।

आदर्श राजा की अवधारणा

यद्यपि जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म की निवृत्ति परक विचारधारा राजनीति जैसे लौकिक विषय को उपेक्षा का ही विषय मानती है किन्तु राजनीति जैसे प्रत्यय को सर्वथा नकारना संभव नहीं था। अत: जैन मनीषियों ने राजनीति जैसे लौकिक विषय को आध्यात्मिकता का बाना पहना दिया। जहां व्यक्ति होंगे वहां समाज होगा, जहां समाज होगा वहां राज्य भी होगा, जहां राज्य होगा वहां राजनीतिक संस्थाएं भी आवश्यक रूप से होंगी। इस व्यावहारिकता की उपेक्षा जैन साहित्य नहीं कर सका। अतएव जैन धार्मिक साहित्य का मूल विषय आध्यात्म केन्द्रित होने पर भी उसमें इतस्तत: राजनीति का भी उल्लेख प्रसंगवश हो गया है।

अन्य भारतीय परम्पराओं के समान ही जैन परम्परा भी राजा के श्रेष्ठवंश की कुल परम्परा को महत्वपूर्ण मानती है। यद्यपि जैन दृष्टि जाति के विरुद्ध थी तथापि ब्राह्मण परम्परा के अनुकूल इसमें भी राजा के क्षत्रिय कुलोत्पन्न होने का विधान है क्योंकि जैन सूत्रों के अनुसार बलभद्र, चक्रवर्ती, वासुदेव तथा अरिहन्त क्षत्रिय कुलों में ही भूत, भविष्य और वर्तमान में होते रहे हैं।[71] स्वयं महावीर ज्ञातृक नामक क्षत्रियकुलोत्पन्न थे।[72] क्षत्रिय राजा का जातिमान होना आवश्यक था।[73] जैन ही क्यों परम्परावादी ब्राह्मणधर्म भी इसे अनिवार्य मानते थे, साथ ही साथ पालि ग्रन्थों का भी इस बात पर विशेष आग्रह है कि राजा क्षत्रिय कुल का व प्रतिष्ठित कुल का हो।[74]

राजा से अपेक्षा थी कि वह पूर्ण ऐश्वर्यमान[75], महान ऋद्धि सम्पन्न, महान यशस्वी[76], लोक में शान्ति स्थापित करने वाला[77], विख्यात कीर्ति, धृतिमान[78], भोगशाली[79], शत्रुओं का मानमर्दन करने वाला[80], श्रेय और सत्य में पराक्रमशील, अमरकीर्ति, महान यशस्वी तथा गुणों से समृद्ध हो।[81] राजा का धृतिमान होना इसलिए आवश्यक था क्योंकि जैनसूत्रों के अनुसार मूर्ख राजा शीघ्र ही राज्य खो देता है।[82] यही कारण है कि राजा से आशा की जाती थी कि वह सहस्रचक्षु हो, उदीयमान सूर्य के समान अन्धकार नाशक हो, पूर्णिमा के परिपूर्ण चन्द्र के समान ज्ञानादि कलाओं से परिपूर्ण हो।[83]

राजा को उत्तम लक्षणों से युक्त होना चाहिए। उसे स्वर से सुस्वर, गम्भीर, एक हजार आठ शुभ लक्षणों का धारक, ऋषिगोत्र का धारक, वज्रऋषभ, नाराच संहनन, समचतुरस्त्रसंस्थान तथा मछली के उदर के समान कोमल उदर वाला होना चाहिए।[84] राजा को यशस्वी, जितेन्द्रिय, श्रेष्ठ और लोकनाथ होना चाहिए।[85] सामान्यत: जैन परम्परा में राजत्व को अतीत के पुण्यों का फल समझा जाता था। राजा को दैवी शक्तियों से युक्त मानने की परम्परा वैदिक साहित्य सें चली आ रही है। राजा में यह दैवत्व अनेक गुह्य यज्ञों के सम्पादन से आता है किन्तु जैन

परम्परा जो हिंसा से घृणा करती है तथा संस्कारों और बलि से जिसे कोई लगाव नहीं है। स्वभावत: राजा की दैवीय शक्ति को यज्ञों से निष्पन्न नहीं मान सकती। वह राजा जो वैदिक यज्ञ सम्पन्न करता है, हिंसा में युक्त होता है, वह स्वयं को भी सन्ताप देता है और दूसरों को भी यातना देने का भागीदार होता है।

जहां बौद्ध धर्म में आदर्श राजा का चित्रण धार्मिक राजा के रूप में हुआ है जिसमें कि कुछ रहस्यमय शक्तियां निहित हैं, जैसे कि चक्रवर्ती राजा में महापुरुष के वह सभी गुण विद्यमान होते हैं जो कि बोधिसत्व में पाये जाते हैं 'महापुरीष लक्खनानि', वहां जैन धर्म में हमें राजर्षि परम्परा के दर्शन वैदिक धर्म के समान ही होते हैं। इस विषय में प्रो० गोविन्द्रचन्द्र पाण्डे का मत है कि राजर्षि की यह परम्परा जिसमें क्षत्रिय ऋषि के समान आचार और विचार रखे समन्वय की परम्परा का उदाहरण है।[86] गीता में श्रीकृष्ण क्षत्रिय कुल के होकर अध्यात्म ज्ञान प्रदान करते हैं।[87] ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरपूर्वी भारत के क्षत्रिय श्रमण परम्परा के समीप थे जबकि पश्चिमोत्तर भारत के क्षत्रिय पौराणिक वैदिक परम्परा के समीप थे जिसमें संसारवाद के विचारों का नैष्कर्म्य से सुन्दर समन्वय किया गया था।[88] इन विचारों के प्रतिनिधि प्रवाहण जैबालि तथा वासुदेव कृष्ण थे। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि एक ही कुल के दो व्यक्ति दो विभिन्न धाराओं श्रमण और ब्राह्मण के प्रतिनिधि बन गये थे क्योंकि उनके विचारों का मूल अध्यात्म होने पर भी अभिव्यक्ति भिन्न थी। यह थे, जैन तीर्थंकर अरिष्टनेमि व योगीश्वर भगवान कृष्ण।[89]

अयोध्याराज सगर जो द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ के छोटे भाई थे, द्वितीय चक्रवर्ती राजा बने, इन्होंने अजितनाथ से प्रव्रज्या ली। रामायण के प्रथम अध्याय में इनका उपाख्यान मिलता है।[90]

श्रावस्तीराज समुद्र विजय के पुत्र मधवन तृतीय चक्रवर्ती सम्राट अपनी पत्नी भद्रा सहित भारतवर्ष का राज्य त्याग कर दीक्षित हुए।[91] हस्तिनापुर नरेश अश्वसेन तथा महारानी सहदेवी के पुत्र चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार राज्य त्याग कर तपस्वी हुए।[92]

सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ, सत्रहवें कुन्थुनाथ जो इक्ष्वाकुवंश के चक्रवर्ती सम्राट थे[93] तथा अट्ठारहवें अर भारतवर्ष का राज्य त्याग कर श्रमण बने।[94] नवें चक्रवर्ती महापद्म हस्तिनापुर के राजा थे जिन्होंने राज्य त्यागा। इनके बड़े भाई विष्णु कुमार ने मुनि सुव्रत से दीक्षा ग्रहण की थी।[95]

हरिषेण काम्पिल्यराज महाहरी के पुत्र थे। यह दसवें चक्रवर्ती थे जिन्होंने राज्य त्याग कर जिन शासन स्वीकार किया।[96]

ग्यारहवें चक्रवर्ती जय समुद्रविजय के पुत्र थे। जिन्होंने हजार राजाओं के साथ राज्य त्यागा।[97]

इन चक्रवर्ती सम्राटों के अतिरिक्त भी अनेक राजाओं के नाम जैनसूत्रों में प्राप्त होते हैं। जिन्होंनें जिनशासन में शरणागति ली, उनमें से प्रमुख हैं—महावीर के समकालीन दशार्ण नरेश दशार्णभद्र,[98] कलिंग के करकण्डु, पंचाल के द्विमुख, विदेह के नमि, गन्धार के नग्गति। चारों राजा अपने पुत्रों को शासन रुढ़ कर श्रमण हो गये।[99]

सिन्धुसौवीर राज उद्रायण (उदयन) ने मुनिधर्म स्वीकार किया।[100] बनारस राज अग्निशिखर के पुत्र सातवें बलदेव काशीराज नन्दन ने मुनिधर्म स्वीकार किया।[101] द्वारकावती के ब्रह्मराज के पुत्र, वासुदेव द्विपृष्ठ के बड़े भाई विजयराजा राज त्याग कर संन्यासी हुए।[102] इससे प्रकट होता है कि पिता द्वारा अपने जीवन काल में उत्तराधिकारी मनोनीत कर देने अथवा पुत्र को राज्य प्रदान करने की परम्परा आगमकाल में थी। यह परम्परा भारत में बाद तक चली। गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम ने भी अपने जीवनकाल में ही समुद्रगुप्त को राज्य का उत्तराधिकारी मनोनीत कर दिया था। हस्तिनापुर के राजा बल के पुत्र महाबल ने जो तेरहवें तीर्थंकर विमल के समकालीन थे। सिर देकर सिर प्राप्त किया अर्थात् संस्कार का विसर्जन कर सिद्धिरूप उच्च पद प्राप्त किया।[103] सुग्रीव नगर के राजा बलभद्र तथा महारानी मृगावती के पुत्र बलश्री ने संसार त्याग कर प्रव्रज्या ली।[104] साकेत राजा मुनिचन्द्र राज्य त्याग कर सागर चन्द्र मुनि के पास दीक्षित हुआ।[105]

वस्तुत: इन चक्रवर्ती सम्राटों तथा अन्य राजाओं के साथ विविध राज्यों की चर्चा भी हो गयी है जैसे दशार्ण, कलिंग, विदेह, सिन्धुसौवीर, बनारस, काशी, पंचाल, हस्तिनापुर, अयोध्या, साकेत, कांपिल्य, द्वारिका, श्रावस्ती आदि।[106] इसके अतिरिक्त कौशाम्बी[107], चम्पानगरी,[108] पिहुण्डनगर[109] तथा सोरियपुर[110] की चर्चा हमें आगमों में मिलती है। आगमकाल में भी भारतीय संस्कृति आध्यात्मोन्मुखी थी। यह इस सामान्य सिद्धान्त से परिपुष्ट होता है कि राजशक्ति ब्रह्मशक्ति से मार्गदर्शन लेती थी। राजा संजय को मृगया का व्यसन था। इसी प्रसंग में एक बार राजा ने मुनि की तपस्या में विघ्न डाल दिया। मुनि के प्रति राजा सामान्यत: श्रद्धाभाव से परिपूर्ण होते थे अत: राजा भयभीत हो मुनि से क्षमायाचना करने लगा तब मुनि ने उसे समझाया कि राजा को तो मुनि का अभयदान है किन्तु राजा भी अभयदाता बने। वह अनित्य लोक में हिंसा में संलग्न न रहे क्योंकि राज्य की आसक्ति व्यर्थ है, त्राणदायी नहीं है। महिमुग्ध जीवन तो विद्युत की चमक के समान अनिश्चित और चंचल है।[111] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म का श्रमण परम्परा से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण राज्य धर्म में भी निवृत्तिवाद की ही प्रमुखता है।

राजा के कर्तव्य

जैन सूत्रों से राजा के कर्तव्यों पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। राजा से अपेक्षा की जाती थी कि वह चांदी, सोना, मणि, मोती, कांसे के पात्र, वस्त्र, वाहन, कोष और भण्डार की अभिवृद्धि करें।[112] यही नहीं वह भूमि का विस्तार करे, पशु और धान्य की भी वृद्धि करे।[113] राजा को पुर, जनपद, राजधानी, सेना और अन्त:पुर का स्वामी तथा रक्षक होना चाहिए।[114] कलिंगराज खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से प्रकट होता है कि जैन धर्म के पालक इस कलिंगाधिपति ने चौबीसवें वर्ष की समाप्ति पर महाराजाभिषेक प्राप्त किया। अभिषेक के प्रथमवर्ष में तूफान से नष्ट हुए कलिंग नगर के प्रमुख द्वार प्राचीर और गृहों का जीर्णोद्धार किया। टूटे हुए शीतल जलाशयों का पुनर्निर्माण किया और उनके सोपान बनवाये तथा पैंतीस लाख मुद्रा व्यय करके प्रजा को प्रसन्न किया। इतिहासकार इस विषय में आश्चर्य प्रकट करते हैं कि जैन धर्म के अनुयायी, अभिलेख के आरम्भ में अर्हतों और सिद्धों को आव्हान करने वाले महाराज खारवेल हिंसाजन्य रक्तपात में संलग्न रहे।[115] राजा को अर्गला, बुर्ज, खाई,[116] नगर का परकोटा, गोपुर नगर का द्वार, अट्टालिकाएं, दुर्ग, दुर्ग की खाई तथा शतघ्नी एक बार में सैकड़ों को मारने वाला दुर्ग विशेष बनाना चाहिए।[117] इस प्रसंग में कलिंगराज खारवेल की स्तुति हाथीगुम्फा अभिलेख में की गयी है। वह नन्दराजा के द्वारा तीन सौ वर्ष पूर्व उद्घाटित तनसुलि नहर को नगर तक ले आया था। इस प्रकार उसने प्रजाहित का कार्य किया। राजा को अपने रहने के लिए प्रासाद, वर्धमानग्रह[118] तथा चन्द्रशालाएं[119] बनाना चाहिए। राजा बटमारों, प्राणघातक डाकुओं, गांठ काटने वालों और चोरों से नगर की रक्षा करे।[120] उसे दण्ड का उचित प्रयोग करना चाहिए ताकि निर्दोष की रक्षा हो और अपराधी को दण्ड मिले।[121] जो राजा उसके समक्ष न झुकते हों, उसका शासन न मानते हों उन्हें अपने अधीन करे।[122] वह अपनी सेना का इतना बल बढ़ाये कि दस लाख योद्धाओं को जीत सके।[123] सम्भवत: यह आशाएं और अपेक्षाएं साम्राज्यवाद की आकांक्षा रखने वाले चक्रवर्ती सम्राट से की गयी प्रतीत होती हैं।

भावी सम्राट को विधिवत शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि आगमों में ऐसी स्पष्ट चर्चा नहीं है तथापि अभिलेखिक साक्ष्य इस विषय पर स्पष्ट कथन करते हैं। हाथीगुम्फा अभिलेख[124] से प्रकट होता है कि जैन शासक कलिंगराज खारवेल पन्द्रह वर्ष की आयु तक शोभायुक्त शरीर द्वारा कुमारोचित क्रीड़ा करते रहे। तदुपरान्त लेख, रूप, गणना, व्यवहार में विशारद और सब कलाओं में निपूर्ण नौ वर्ष तक युवराज रहे।

राजा से यह भी अपेक्षा की गयी है कि वह विपुल दानी हो तथा दस लाख

गायों को दान देने वाला हो।[125] यह अपेक्षा इस बात की ओर इंगित करती है कि राजा को धर्म द्वारा मर्यादित होना चाहिए और लौकिक धार्मिक परम्पराओं का अनुपालक होना चाहिए। राजा को एकछत्र शासक बनने का प्रयास करना चाहिए।[126] इतना शक्तिशाली राजा राजधर्म के प्रति निरपेक्ष भाव रखे तथा मुनि धर्म के पालन का प्रयास करे।[127] राजा को अपनी सैन्य व्यवस्था सुदृढ़ रखनी चाहिए। सेना रहित राजा असहाय होता है।[128] राजा शरीर सौष्ठव से युक्त बलवान होना चाहिए। बल और कान्ति के लिए राजा प्रतिदिन व्यायाम करे।[129] राजा का यह भी कर्तव्य है कि वह अपने राज्य के सारे राजनैतिक व सैनिक विप्लव दबा दे।[130]

राज्य उत्तराधिकारी का जन्मोत्सव

राज्य के उत्तराधिकारी का जन्म अत्यन्त हर्ष का विषय माना जाता था। राज्य की कुल परम्परा के अधिकारी के जन्म के अवसर पर राजकीय उत्सव मनाने की परम्परा थी।[131] यह उत्सव कई दिनों तक मनाया जाता था। पहले दिन जन्म का उत्सव होता। तीसरे दिन बालक को सूर्य और चन्द्र के दर्शन कराये जाने का उत्सव मनाया जाता था। छठे दिन छठी का रात्रि जागरण होता था। ग्यारहवें दिन श्रावक स्नान का उत्सव किया जाता था। बारहवें दिन भोजन, पेय, मसाले, मिष्टान्न के विशाल आयोजन के साथ मित्र व सम्बन्धियों को आमन्त्रित किया जाता था। समस्त सप्रवर व सपिण्ड सम्बन्धी निमन्त्रित किये जाते थे। इसके पश्चात पिता स्नान कर, कुलदेवता को प्रसाद अर्पित कर, राजसी वस्त्र धारण कर, मूल्यवान आभरण पहनकर, मुख शुद्धि कर सभागृह में जाता था अतिथियों को पुष्पहार तथा मूल्यवान वस्त्र उपहार देता था। तब बालक का नामकरण व जाति संस्कार किया जाता था।[132]

राजप्रासाद

राजा राजभवनों या राजप्रासादों में निवास करते थे। देवों के निवास स्थान को प्रासाद और राजाओं के निवास स्थान को भवन कहा जाता था।[133] प्रासाद ऊंचे होते थे, उनकी ऊंचाई चौड़ाई की अपेक्षा दुगुनी और भवन की ऊंचाई चौड़ाई की अपेक्षा कम होती थी। भवन ईट के बने होते थे।[134] जैनसूत्रों में आठ तल वाले प्रासादों का उल्लेख है : यह प्रासाद सुन्दर शिखरों से युक्त तथा ध्वजा, पताका, छत्र और मालाओं से सुशोभित रहते थे। इनके तलों में विविध प्रकार के अमूल्य रत्न जड़े रहते थे।[135] इन भवनों में ऊंचे-ऊंचे गवाक्ष होते थे, जिनसे नगर के दो

राहे, तिराहे और चौराहे दिखाई देते थे।[136] पांचाल नरेश ब्रह्मदत्त के पास उच्चोदय, मधु, कर्क, मध्य और ब्रह्मा नामक राजप्रासाद थे।[137] यह राजप्रासाद विशिष्ट पदार्थों से युक्त विविध और प्रचुर धन से परिपूर्ण थे। यहां स्त्रियों से परिवृत्त राजा नाट्य, गीत और वाद्यों से मनोरंजन करता था।[138] राजा के यह प्रासाद नन्दन प्रासाद कहे जाते थे। इनमें ऐश्वर्य के सभी साधन विद्यमान होते थे। राजप्रासाद में राजा के लिए व्यायामशाला होती थी जहां व्यायाम के पश्चात् सहस्र प्रकार के सुगन्धित तेल राजा की मालिश के लिए होते थे।[139] इस व्यायामशाला में राजा प्रतिदिन व्यायाम करता था। ऊंची कूद, कुश्ती, छलांग और मुक्केबाजी का अभ्यास तथा सन्तुलित व्यायाम राजा शारीरिक सौष्ठव हेतु करता था। चतुर व्यक्ति अपनी हथेलियों से उसके अंगों की मालिश करते थे।[140]

राजप्रासाद में स्नानगृह भी अति रमणीय बनाये जाते थे। जिनमें अनेक मुक्ताओं से अलंकृत गवाक्ष होते थे। इनका कुट्टिमतल बहुमूल्य पत्थरों से निर्मित होता था। स्नान का पटा रत्नजड़ित होता था। स्नान का जल सुगन्धित होता था। अंगप्रोक्षण कोमल और आकर्षक होते थे। शरीराच्छादन के पश्चात राजा चन्दन और गोशीर्ष का आलेपन कराता। पश्चात् बहुमूल्य वस्त्र धारण कर, आभरणों से अलंकृत होता था।[141]

राजप्रासाद में सभा के लिए विशाल प्रांगण तथा सभाकक्ष होते थे जहां राजा पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर प्रजा की बात सुनते थे।[142] राजा के समीप ही पार्श्व में बहुमूल्य, पारदर्शक, स्वर्ण खचित, कोमल और कलात्मक आकृतियों से बुना हुआ आवरण लटकता था जहां राजमहिषी रत्नजटित सिंहासन पर, गावतकिए लगा कर पारिवारिक भृत्य और परिचारिकाओं के बीच बैठती थी।[143] प्रासाद का मुख्य द्वार सिंहद्वार कहलाता था, जहां से नगर के गणमान्य व्यक्ति एवं प्रशासनिक पदाधिकारी प्रवेश करते थे।[144]

राजा की परिषद

राजा को प्रतिदिन राजपरिषद के साथ प्रजा के सम्मुख आना होता था।[145] वह कोरिंथ पुष्पों की माला पहन कर, जय जयकार की ध्वनि के बीच चलता था, जहां उस पर निरन्तर चंवर ढुलाया जाता था। अनेक शासन प्रमुखों, सामन्त राजाओं, युवराजों, जनप्रमुखों, कुटुम्बीजनों, मन्त्रियों, नागरिकों, व्यापारियों, श्रेणिकों, सेनापतियों, दूतों और अंगरक्षकों के साथ राजा आकर सिंहासनासीन होता था।[146] राजा की परिषद में क्षत्रिय, गण, उग्र, राजपुत्र, ब्राह्मण और भोगिक होते थे।[147]

राजपरिषद के सदस्यों को राज्य कहकर पुकारा जाता था।[148] गणसभा और संघसभा दोनों में यही विशेषण सदस्यों के लिए प्रयुक्त होता था।[149] बौद्धग्रन्थ इस

बात की पुष्टि करते हैं कि लिच्छवि गणतन्त्र 7707 राजन्य थे जो एक-दूसरे को छोटा-बड़ा नहीं मानते थे। सब अपने आपको राजा कहते थे जबकि सब का अधिकार बराबर था और वह एक थे।[150]

सूत्रकृतांग[151] से ज्ञात होता है कि उग्र, भोग इक्ष्वाकु तथा कौरवों की गणना ज्ञातृक तथा लिच्छवियों के साथ उसी प्रकार की गयी है मानो वह सब एक ही परिषद के सदस्य हों। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र[152] एक ऐसे शक्तिशाली राजा की चर्चा है जिसने सारे राजनैतिक तथा सैनिक विप्लप दबा दिये हैं। इस राजा की परिषद में उग्र[153] तथा उग्रपुत्र, भोग तथा भोगपुत्र, इक्ष्वाकु तथा इक्ष्वाकुपुत्र, ज्ञातृक तथा ज्ञातृकपुत्र, कौरव तथा कौरवपुत्र, योद्धा तथा योद्धापुत्र, सेनापति तथा सेनापतिपुत्र, ब्राह्मण तथा ब्राह्मणपुत्र और लिच्छवि तथा लिच्छविपुत्र थे।

राजपरिषद में मन्त्रिपद महत्वपूर्ण था क्योंकि राजा मन्त्री की आंखों से देखता है।[154] मन्त्री सारी प्रशासनिक गोपनीयताओं से परिचित होता है। अत: राजा उनसे मतभेद नहीं रखते थे।[155]

सेना रहित राजा को असहाय माना जाता था।[156] स्वाभाविक ही था कि राजा अपनी सेना पर पर्याप्त ध्यान देता। राज्य के अंग के रूप में सेना की चर्चा प्राप्त होती है।[157]

प्रशासनिक इकाइयां

प्रशासनिक इकाइयों में ग्राम, नगर, निगम व राजधानी की चर्चा प्राप्त होती है।[158] इसी प्रकार श्रेणि, मण्डल, द्रोणमुख, पत्तन, आकार, आश्रम, खेट, कर्बट संवाह, सन्निवेश और घोष यह शब्द बस्ती के प्रकार हैं।[159] जिनकी व्याख्या इस प्रकार है—

1. **ग्राम**—जो बुद्धि आदि गुणों को ग्रसित करे अथवा जहां 18 अनेक प्रकार के कर लगते हों।[160] जहां कर लगते हों।[161] जिसके चारों ओर कांटों की बाड़ हो अथवा मिट्टी का परकोटा हो।[162] कृषक आदि का निवास स्थान हो।[163]
2. **नगर**—जिसमें कर लगता हो।[164] जो राजधानी हो।[165] अर्थशास्त्र में राजधानी के लिए नगर या दुर्ग और साधारण कस्बों के लिए ग्राम शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रस्तुत प्रकरण में नगर और राजधानी दोनों का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि नगर बड़ी बस्तियों का नाम है, चाहे वह राजधानी हो या न हो। राजधानी वह होती है जहां से राज्य का संचालन होता है।
3. **निगम**—व्यापारियों का गांव था।[166]
4. **राजधानी**—वह बस्ती जहां राजा रहता हो।[167] जहां राजा का अभिषेक हुआ

हो।[168] जनपद का मुख्य नगर।[169]

5. **खेट**—जिसके चारों ओर धूलि का प्राकार हो।[170]
6. **कर्कट**—पर्वत का ढलान तथा कुनगर,[171] चूर्णिकार ने कुनगर का अर्थ जहां क्रय-विक्रय न होता हो किया है। जिले का छोटा सन्निवेश,[172] प्रमुख नगर[173] अथवा वह नगर जहां बाजार हो।[174]
7. **मण्डव**—ढाई योजन अथवा चारों ओर आधे योजन जिससे एक योजन तक कोई दूसरा गांव न हो।[175]
8. **द्रोणमुख**—जहां जल और स्थल दोनों निर्गम और प्रवेश के मार्ग हों जैसे भृगुकच्छ और ताम्रलिप्ति।[176] 400 गांवों की राजधानी।[177]
9. **पत्तन**[178]—जलमध्यवर्ती द्वीप तथा निर्जल भू-भाग वाला द्वीप।
10. **आकर**--जहां सोने, लोहे आदि की खान हो अथवा जिसके समीप मजदूर बस्ती हो।[179]
11. **आश्रम**—तापसों का निवास स्थान तथा तीर्थस्थान हो।[180]
12. **संवाह**—जहां चारों वर्णों के लोग अति मात्रा में निवास करते हों।[181]
13. **सन्निवेश**—यात्रा से आये मनुष्यों के रहने का स्थान तथा सार्थ और कटक का निवास स्थान।[182]
14. **घोष**—अमीर बस्ती।[183]

आगमों से ज्ञात होता है कि राज्य का भार पुत्र को सौंपने की परम्परा उस समय विद्यमान थी।[184] निर्वशी या प्रवृज्याग्रहण करने वालों की सम्पत्ति राज्याधीन हो जाती थी।[185]

जैन परम्परा में मिथिला के राजा नमि को राजर्षि के सम्बोधन से पुकारा गया है।[186] राजर्षि नाम के अतिरिक्त जैन सूत्रों में ऐसे अनेक राजाओं के उल्लेख हैं जिन्होंने सत्संगत पाकर आध्यात्मिक जीवन की ओर चरण बढ़ाये। राजगृह के मण्डिकुक्षि उद्यान में मगधेश्वर श्रेणिक को मुनि ने अनाथ बताया क्योंकि कर्मजनित पीड़ओं से कोई परिजन, विपुलधन-ऐश्वर्य व्यक्ति को त्राण नहीं दे सकता। यही अनाथता है। यदि श्रामण्यभाव से ममत्व और पीड़ा के बीज आसक्ति को त्याग जाये तो जीवन सार्थक हो सकता है। यह विचार जानकर त्रैणिक सपरिवार धर्मानुरक्त हुआ तथा श्रमण उपासक हुआ।[187]

उत्तराध्ययन के एक अन्य ऐसे ही कुरुक्षेत्र के राजा इषुकार की चर्चा है[188] जिसे यह अध्यात्म प्रेरणा अपनी रानी कमलावती से प्राप्त हुई। काम्पिल्य नगर का राजा संजय भी मुनि उपदेश पाकर मुनि हो गया था।[189]

चक्रवर्ती की अवधारणा

जैनसूत्रों में प्राय: चक्रवर्ती राजा की चर्चा प्राप्त होती है तथा उसे चातुरन्त चक्रवर्ती कहकर सम्बोधित किया गया है। चातुरन्त वह है जिसके उत्तर दिगन्त में हिमवान पर्वत और शेष दिगन्तों में समुद्र हो[190] ऐसे चक्रवर्ती राजा 14 रत्नों का स्वामी होता है। यही क्यों उत्तराध्ययन में शंख, चक्र और गदा धारण करने वाले वासुदेव की भी चर्चा है।[191] राजा को वज्रपाणि कह कर पुकारा गया है।[192] चक्रवर्ती राजा सम्प्रभु होता है। यह सम्प्रभुता उसके अलंकरणों में निवास करती है। उदाहरण के लिए मत्तगन्धहस्ति पर आरोहण, सिर पर चूड़ामनि, ऊंचे छत्र व चामर से सुशोभित, दशार्ह चक्र से परिवृत युगलकुण्डल, सूत्रक, करधनी व आभूषणों से अलंकृत, शिविकारत्न श्रेष्ठ पालखी में आरूढ, वाद्यों का गगनस्पर्शी दिव्यनाद तथा यथाक्रम से सजी चतुरंगिणी सेना।[193] वह नन्दनप्रासाद, जेगल की भूमि, वास्तु, कर, हिरण्य, सोना, अश्व, हाथी, नगर और अन्त:कुल शासन जैसी प्रधान श्रेष्ठ सम्पदा से युक्त होता था।[194] यद्यपि चक्रवर्ती राजा की अवधारणा जैन साहित्य में है किन्तु उसकी अनूठी विशेषता है कि राजपद पर सम्प्रभुशासक के रूप में आसीन होने पर भी चक्रवर्ती राजा पूर्णविश्राम गृहत्याग और राज्यत्याग कर संन्यास जीवन में ही पाते रहे हैं। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि जैनसूत्रों में जिन भी राजाओं का उल्लेख है वह वही हैं जो चक्रवर्ती सम्राट थे किन्तु जो अन्त में दीक्षा लेकर मुनि हो गये।

यह थे—अयोध्या के चक्रवर्ती सम्राट भरत जो तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र थे तथा जो अन्त में पंचमुष्टि लोंच करके मुनि बन गये।[195]

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. दण्ड: शास्ति प्रजा: सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
   दण्ड: सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म विदुर्बुधा।। मनुस्मृति, 8/14।
2. जैन सूत्रज, जि० 45, परिचयात्मक, पृ० 17।
3. सूत्रकृतांग, (एस०बी०ई०), पृ० 357 तथा आगे।
4. स्थानांगसूत्र, तृतीय उद्देशक : इण्डियन एण्टीक्वेरी, जि० 9, पृ० 159।
5. मनुष्यों द्वारा कई बार मिथ्या दण्ड दिया जाता है। निरपराध पकड़े जाते हैं व दोषी छूट जाता है। उत्तराध्ययन, 9/30।
6. तीक्ष्णदंडो हि भूतानामुद्वेजनीय:। मृदुदण्ड: परिभूयते। यथार्हदण्ड: पूज्य:। कौटिल्य अर्थशास्त्र 2/1 तथा मनुस्मृति, 7/19/27।
7. महाभारत, *12/62/28-29*: द्र० *प्राचीन भारतीय शासन पद्धति*, पृ० 2।
8. स राजा पुरुषो दण्ड: स नेता शास्ता च स:।। — मनुस्मृति, 7/7।
9. द्र० जी०सी०पाण्डे, श्री आर० के० जैन मेमोरियल लेक्चर्स आन जैनिज्म, पृ० 28-29।

10. भगवतीसूत्र अभयदेवकृत, प्रथम उद्देशक शतक 15 द्र० स्टडीज इन दी भगवती सूत्र: पृ० 62 तथा उवासगदसाओ (हार्नले) परिशिष्ट।
11. समुंत्तर का समीकरण पश्चिम बंगाल के जिले मिदनापुर तथा बांकुरा से दिया गया है। — द्र० मार्कण्डेय पुराण, पृ० 357।
12. अंगुत्तरनिकाय पालिटेक्स्ट सोसायटी -1ख् 213, 1, 252, 256, 260 तथा दी एज आफ विनय, पृ० 204। महावस्तु 1/34 में भी यही सूची मिलती है किन्तु इसमें गन्धार और कम्बोज के स्थान पर शिवि तथा दशार्ण पंजाब और राजस्थान का उल्लेख मिलता है। जहां तक छठी शताब्दी ई०पू० के राजनीतिक परिवेश का प्रश्न है अंगुत्तर निकाय की सूची को अधिक प्रामाणिक माना जाता है। द्र० एव०सी०राय चौधरी, पौलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शिएंट इण्डिया, पृ० 86।
13. स्टडीज इन दी भगवती सूत्र, पृ० 63।
14. भगवतीसूत्र अभयदेव, 7/9/300-301।
15. उत्तराध्ययन चन्दनाजी 9/15 टिप्पण पृ० 435। कल्पसूत्र में इसे ठगणरायाणोंठ लिखा है अत: वृहद्वृत्ति में भी उक्त शब्द की व्याख्या करते हुए शान्त्याचार्य लिखते हैं— गणामल्लादि समूहा:। - जैन कल्पसूत्र 128।
निर्यावलिसूत्र, पृ० 27 वारेन द्वारा संपादित
16. कुणिक विदेहपुत्र को भगवतीसूत्र में असोगवनचन्द्र या असोगचन्द कहा गया है क्योंकि जन्म के पश्चात् उसे अशोक उद्यान में फेंक दिया गया था। ओवाइय सूत्र 7 पृ० 20 के अनुसार उसे गोबर के ढेर पर फेंक दिया गया था जहां उसकी कनिष्ठा उंगली मुर्गे ने खाली अत: उसका नाम कुणिक पड़ गया। निर्यावलिसूत्र के अनुसार कुणिक वैशाली के राजा चेटक की पुत्री चेल्लणा का पुत्र था। वैशाली विदेह का भाग थी। इसलिए उसे विदेहपुत्र कहा गया है। बौद्ध परम्परा के अनुसार निकायों में भी कुणिक को विदेहपुत्र ही माना है यद्यपि बुद्ध घोष उसे विख्यात राजकुमारी का पुत्र मानते हैं। जातक उनकी मां को कोसल की राजकुमारी महाकोसल की पुत्री तथा राजा प्रसेनजित का भांजा बताते हैं। देखें, थुस्सजातक 338 तथा भूमिका—जातक 373 संयुक्त निकाय बुक आफ काइन्डर्ड सेमिंग्स 110 किन्तु इसी पुस्तक की प्रथम जिल्द में पृ० 38 पर इसे भद्रा का पुत्र कहा है जबकि डिक्शनरी आफ पाली प्रोपरनेम्स में एक तिब्बती लेखक उसकी माता का नाम वासवी बताता है। जो हो, जैन तथा बौद्ध परम्परा दोनों अजातशत्रु को ही कुणिक विदेहपुत्र मानती है।
17. जैनसूत्रज एस०बी०ई०जि० 22, पृ० 266 तथा जि० 45, पृ० 339।
18. वही।
19. भगवती सूत्र, अभयदेव 7/9/300-301।
20. वही।
21. वही, पृ० 300 : स्टडीज इन दी भगवती सूत्र, पृ० 66।
22. भगवती सूत्र, अभयदेव 7/9/300।
23. वही, 7/9/301।
24. कल्प के अन्त में प्रलय हो जाती है व पुन: सृष्टि का आविर्भाव होता है।
25. भगवती सूत्र, अभयदेव, 7/9/303।
26. निर्यावलिसूत्र, 1 द्र० उवासगदसाओ हार्नले परिशिष्ट ।।, पृ० 7।
27. आवश्यक चूर्णि-II, पृ० 158, राजा सेणिय श्रेणिक बिम्बिसार नाम से जाना जाता था

क्योंकि एक बार कुसग्गपुर का प्रसाद रसोइये की लापरवाही से जल गया जो सेणिय ने मात्र एक बम्भा ड्रम पर उठाया था।

28. यद्यपि बौद्ध परम्परा इन युद्धों का कारण आर्थिक व राजनीतिक दोनों ही मानती है जो कि मूलत: गंगाघाटी के पार एक रत्न की खान और बन्दरगाह को लेकर थी जिसे मगध हथियाना चाहता था किन्तु युद्ध की घटनाएं वही हैं जो जैन ग्रन्थों में हैं। देखें दीर्घ निकाय महापरिनिब्बान सुतन्त, अट्ठकथा : दी एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 24।
29. कल्पसूत्र एस०बी०ई०, पृ० 266।
30. वही, तथा विस्तार के लिए देखें दी एज आफ विनय, पृ० 206।
31. केचिद्देशा गणाधीना: के चिद्राजाधीना:। अवदानशतक-2, पृ० 103।
32. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, अल्तेकर, पृ० 109।
33. उत्तराध्ययन, 15/9 टिप्पण चन्दनाजी पृ० 435।
34. आचारांगसूत्र, 1/3/170।
35. अभिषिक्त राजन्य - पाणिनि, 6/2/34।
36. अरायणि का गणरायणि वा जुवरायणि वा
दोरज्जणि वा, वेरज्जणि वा, विरुद्धरज्जणि वा। - आचारांगसूत्र, 2/3/1/9।
37. प्राचीन भारत के गणतन्त्र राज्यों का वृत्तान्त उत्तर पश्चिम में मुख्यत: ग्रीक लेखकों और उत्तरपूर्व में बौद्धग्रन्थों से ज्ञात होता है। पाणिनि, कात्यायन पतंजलि जयादित्य और वामन आदि वैयाकरणों से भी बहुत से शब्दों की व्युत्पत्ति सिद्ध की गयी है। महाभाष्य में भी दो अध्यायों में इन राज्यों के विधान और उनके गुण दोषों की सहानुभूति पूर्वक चर्चा की गई है।—महाभारत, 12/81/107: अर्थशास्त्र में भी मुख्यत: गणों और संघों की शक्ति भंग करने के उपायों पर विचार किया गया है।
38. दी सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, पृ० 137।
39. मैकक्रिंडल, इन्वेजन आफ अलेक्जेंडर दी ग्रेट, पृ० 181।
40. जातक, 1, 504, द्र० स्टडीज इन दी भगवतीसूत्र, पृ० 135।
41. जात्या च सदृशा: सर्वेकुलेन सदृशास्तथा।—महाभारत, 12/107/29।
42. वही, 12/107/20-21।
43. द्र० हिस्ट्री आफ जैन मोनैकिज्म, पृ० 146।
44. द्र० जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ० 33।
45. द्र० जी०एस०पी० मिश्र, ''समरिफलैक्शन्स आफ अर्ली जैन एण्ड बुद्धिस्ट मोनैकिज्म'', जिज्ञासा, अंक 3-4, जुलाई अक्टूबर, 1974।
46. द्र० डाक्ट्रिन आफ दी जैनज, पृ० 252 : स्थानांगवृत्ति, पृ० 252: ठाणं लाडनूं संस्करण, पृ० 1012।
47. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 55 तथा हिन्दू पालिटी, पृ० 40-42।
48. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 94।
49. वही
50. महावग्ग, 3/3/6: दीर्घ निकाय, II एस०बी०ई०, पृ० 82।
51. गोकुलदास डे, डेमोक्रेसी इन अर्ली बुद्धिस्ट संघ, पृ० 28।
52. द्र० प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 95।
53. चुल्लवग्ग, 4/14/24।
54. आर०सी० मजूमदार के०पी० जायवाल के उपरोक्त मत में थोड़ा परिवर्तन व संशोधन

करते हैं। द्र० कारपोरेट लाइफ इन एन्शिएंट इण्डिया, पृ० 118-19 किन्तु बेनी प्रसाद जायसवाल के उपरोक्त मत से असहमत हैं: द्र० दी स्टेट इन एन्शिएंट इण्डिया, पृ० 158: जबकि यू०एन० घोषाल के अनुसार गणतन्त्र में विवाद सुलझाने और संघ में विवाद सुलझाने में परिणाम मात्र का अन्तर था। द्र० स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० 380।

55. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 83।
56. अर्थशास्त्र, 11/1।
57. उत्तराध्ययन, 11/19।
58. अरायणि वा गणरायणिवा जुवरायणि वा।
दोरज्जणि वा, वेरज्जणि वा विरुद्धरज्जणि वा।।
—आचारांग सूत्र एस०बी०ई०,II, 3/1/10 पृ० 138।
59. द्वैराज्यमन्योन्यपक्षद्वेषपुरागाम्यां परस्पर संघर्षेण वा विनयश्यति।—अर्थशास्त्र 8/2।
60. मालविकाग्निमित्र, अं० 5/5/13।
61. अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परोसिया।
अत्तनाव सुदन्तेन नाथं लभति दुब्बलं।।
62. न वैराज्यं न राजास्सीन्न च दण्डो न दण्डिकः।
धर्मेणेव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति एव परस्परम।।—शान्तिपर्व, 59/14।
63. ऐतरेय ब्राह्मण, 7/3/14।
64. सायण प्रजातन्त्र राज्यों के अस्तित्व से अनभिज्ञ थे। अतः उन्होंने वैराज्य का अर्थ ''इतरेभ्यो भूपतिभ्यः श्रेष्ठयम्'' किया है।—महाभारत, 12/67/54 में विराट राजा का एक पर्याय माना गया है। यदि विराट का अर्थ विशेषण राजा हो सकता है तो वि बिना राजा भी हो सकता है। वैदिक इण्डेक्स में वैराज्य भी राजशक्ति का एक प्रकार कहा गया है जिसमें पूरी जनता का अभिषेक होता था व राजशक्ति अनेक हाथों में थी।
65. एरियन, अ० 9: द्र० प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 83।
66. सूत्रकृतांग एस०बी०ई० जि० 45 II, 1/13, पृ० 339।
67. उत्तराध्ययन, 11/18।
68. वही, 11/19।
69. वही, 11/22-23।
70. वही, 11/17।
71. कल्पसूत्र एस०बी०ई०, महावीर का जीवन 1/17-18, पृ० 225।
72. उत्तराध्ययन, 18/24।
73. वही, 11/17।
74. द्र० ''अर्ली बुद्धिस्ट किंगशिप'', दी जनरल आफ एशियन स्टडीज, जि० 26, नं० 1, नवम्बर 1966, पृ० 17।
75. उत्तराध्ययन, 18/35।
76. वही, 11/22: 18/36।
77. वही, 18/38।
78. वही, 39।
79. वही, 41।
80. वही, 42।

81. वही, 50।
82. उत्तराध्ययन, 2/38, सम्भव है कि शास्त्रकार की दृष्टि में अन्तिम मौर्य नरेश बृहद्रथ का उदाहरण समक्ष हो जिसके प्रज्ञादुर्बल होने के कारण सेनापति पुष्यमित्र ने समस्त सेना के समक्ष प्राण भी हरण कर लिए और राज्याधिकार भी।
83. वही, 11/23-24।
84. वही, 22/5-6।
85. वही, 22/4।
86. श्रमण ट्रेडीशन, पृ० 8।
87. भगवद्गीता, 4/2।
88. श्रमण ट्रेडीशन, पृ० 8।
89. उत्तराध्ययन, साध्वी चन्दना, अ० 22, पृ० 223-24।
व्रजमण्डल के सोरियपुर शौर्यपुर में राजा समुद्रविजय राज्य करते थे। जिनके अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि चार पुत्र थे। वासुदेव समुद्रविजय के सबसे छोटे भाई थे जिनके दो पुत्र थे कृष्ण और बलराम। जरासंध के आक्रमण के कारण यादव जाति के यह सब क्षत्रिय सौराष्ट्र पहुंचे और वहां द्वारिका नगरी का निर्माण कर एक विशाल साम्राज्य की नींव डाली। राज्य के प्रमुख श्रीकृष्ण वासुदेव हुए। कृष्ण के आग्रह पर उन्होंने भोगकुल के राजा उग्रसेन की कन्या राजीमती से विवाह करना स्वीकार किया किन्तु बरात में जाते समय वाद्यों के तीव्र निनाद और भोजन में मांस के विविध व्यंजन बनाने के लिए पिंजरों और बाड़ों में अवरुद्ध पशुपक्षियों के करुण क्रन्दन से उनका चित्त करुणा से व्याकुल हो गया। उन्होंने संत्रस्त पशुपक्षियों को मुक्त कराकर बिना विवाह किये ही वैराग्य धारण कर लिया। वाग्दत्ता राजीमती ने भी श्रमण दीक्षा स्वीकार कर ली। मुनि जीवनधारण कर अरिष्टनेमि तीर्थंकर हुए।
90. उत्तराध्ययन, 18/35।
91. वही, 18/36।
92. वही, 18/37।
93. रामायण, 1/17।
94. उत्तराध्ययन, 18/38-40 कुन्थुनाथ शायद काकुस्थ का अपभ्रंश है जो इक्ष्वाकु कुल में 25वें थे। जैकोबी की टिप्पणी, एस०बी०ई०, जि० 45, पृ० 85-86।
95. उत्तराध्ययन, 18/41।
96. वही, 18/42।
97. वही, 18/43।
98. वही, 18/44।
99. वही, 18/46,47
100. वही, 18/48।
101. वही, 18/49।
102. वही, 18/50।
103. वही, 18/51।
104. वही, चन्दनाजी, 19, पृ० 183-84।
105. वही, अ० 13।
106. वही, अ० 18।

107. वही, 20/18।
108. वही, 21/1-3।
109. वही।
110. वही, 22/1।
111. वही, 18/7।
112. वही।
113. वही 9/49।
114. वही, 9/4।
115. द्र० भारत के प्राचीन अभिलेख, पृ० 102-3।
116. उत्तराध्ययन, 9/20।
117. वही, 9/18: द्र० भारत के प्राचीन अभिलेख, पृ० 103।
118. वर्द्धमाणगिहाणी चूर्णि और टीका में इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। मोनियर विलियम्स ने इसका अर्थ वह घर जिसमें दक्षिण की ओर द्वार न हों किया है।—द्र० संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 926: मत्स्यपुराण, पृ० 254 का भी यही मत है। वास्तुसार में घर के 64 प्रकार बताये हें जिसमें तीसरा वर्धमान है। जिसके दक्षिण दिशा में मुखवाली गावीशाला हो।—उत्तरज्झयण सटिप्पण, पृ० 78: डा० हरमन जैकोबी ने वराहमिहिर संहिता 53/36 के आधार पर माना है कि यह गृह समस्तगृहों में सुन्दरतम है। द्र० उत्तराध्ययनसूत्र एस०बी०ई०, पृ० 38 पादटिप्पण 1, वर्धमानगृह धनप्रद होता है। द्र० वाल्मीकि रामायण, 5/8 दक्षिणद्वारहितं वर्धमानं धनप्रदम्।
119. चन्द्रशाला जलाशय में निर्मित लघुप्रासाद है।—द्र० वृहद्वृत्ति, प्रपत्र 312।
120. उत्तराध्ययन, 9/28।
121. वही, 9/30।
122. वही, 9/32।
123. वही, 9/34।
124. भारत के प्राचीन अभिलेख, पृ० 102।
125. उत्तराध्ययन, 9/40।
126. वही, 18/42 यहां एकच्छत्र से अभिप्राय पुन: चक्रवर्ती साम्राज्यवादी राजा से है।
127. पांचाल देश का राजा ब्रह्मदत्त मुनि चित्त के वचनों का पालन नहीं कर सका। अत: अनुत्तर भोग भोग कर सप्तम नर्क में गया।—उत्तराध्ययन, 13/34।
128. वही, 14/30।
129. कल्पसूत्र एस०बी०ई०, पृ० 242 60।
130. सूत्रकृतांग एस०बी०ई०, 2/1/13।
131. उल्लेखनीय है कि उपरोक्त वृत्तान्त महावीर के जन्म के समय का है। जिनका जन्म ज्ञातृक क्षत्रिय कुल में हुआ था। अतएव यह परम्परा ब्राह्मण धर्म सम्मत क्षत्रिय परम्परा है। स्वयं जैन धर्म में क्या ऐसी परम्परा थी प्रमाणित करना कठिन है।—कल्पसूत्र एस०बी०ई०, लाइफ आफ महावीर 103, पृ० 254।
132. कल्पसूत्र एस०बी०ई०, पृ० 254।
133. अभयदेव, व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका, 5/7, पृ० 228 बेचरदास दोषी का अनुवाद।
134. द्र० आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 51।
135. उत्तराध्ययन, 19/4: 21/3: उत्तराध्ययन टीका में सप्तभूमिक प्रासाद का है। जातकों में

वर्णित विषय के लिए द्र० रतिलाल मेहता, प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 107 आदि।

136. वही, 21/4 शान्त्याचार्य ने गवाक्ष का अर्थ सबसे ऊंची चतुरिका किया है—वृहद्वृत्ति, पत्र 451।
137. उत्तराध्ययन, 13/13-14।
138. वही
139. कल्पसूत्र एस०बी०ई० पृ० 242/61।
140. वही, पृ० 242/62।
141. राजा के आभूषणों में गले में लटका 18 लड़ का हार, नौ लड़ का हार, तीन लड़ का हार, मोती का हार, एकावली बाहुल्य, कुण्डल आदि आभूषण थे।
142. कल्पसूत्र एस०बी०ई०, पृ० 242।
143. वही।
144. वही, पृ० 280/64।
145. वही, महावीर का जीवन चरित, 62।
146. उत्तराध्ययन, 15/9: आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 198 के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने चार वर्ग स्थापित किये थे—(1) उग्र आरक्षक सेना, (2) भोग-गुरुस्थानीय, (3) राजन्य समवयस्क अथवा मित्रस्थानीय, तथा (4) क्षत्रिय—अन्य व्यक्ति। भोगिक का अर्थ सामन्त भी होता है। शान्त्याचार्य इसका अर्थ राजमान्य प्रधान पुरुष करते हैं। नेमिचन्द्र ने सुबोधा में विशिष्ट वेशभूषा का भोग करने वाले अमात्य आदि, अर्थ किया है।
147. द्र० उत्तराध्ययन सटिप्पण, पृ० 435।
148. जैन कल्पसूत्र, 128 और निर्यावलि सूत्र, पृ० 27 वारेन द्वारा सम्पादित द्र० मोहनलाल मेहता, जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पृ० 60।
149. अभिषिक्त राजन्य:—पाणिनि, 6/2/34: कौटिल्य ने भी राजशब्दोपजीविन: कह कर उन संघों की ओर इंगित किया है जिसमें राजा उपाधि संघीय संगठन का मूलाधार थी।
150. एकैक एवं मन्यते अहं राजा अहं राजेति—ललित विस्तार, 3/23।
151. द्र० सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, जि० 45, पृ० 339।
152. वही, 2/1/13 पृ० 339।
153. उग्र तथा भोग क्षत्रिय थे। जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव ने जिन्हें कोतवाल के पद पर नियुक्त किया था उनके वंशज उग्र थे जबकि भोग उनके वंशज थे जिन्हें ऋषभदेव ने आदरणीय तथा सम्मान का पात्र माना था। द्र० जैकोबी, सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, पृ० 71। लिच्छवि तथा मल्लकी काशी और कोसल के प्रमुख थे। रामायण में वर्णित इक्ष्वाकु वंश के यह वंशज थे। पूर्वी भारत में इस प्रजाति ने प्रमुख शक्ति बनकर अनेक शताब्दियों तक राज्य किया। ऋषभ को कोसलीय कौशलिक कह कर पुकारा गया है क्योंकि वह कोसल अथवा अयोध्या में उत्पन्न हुए थे। मल्लकी, मल्लीनाथ की सन्तान थे। द्र० कल्पसूत्र एस०बी०ई०, पृ० 280-81। इसी प्रकार काशी और कोसल के अट्ठारह संघीय राजाओं जिनमें नौ मल्लकी व नौ लिच्छवी थे, ने महावीर के प्रयाण दिवस पर पोषध के दिन दीपमालिका की। द्र० कल्पसूत्र, पृ० 266
154. सहस्राक्ष वज्रपाणि, पुरन्दर—उत्तराध्ययन, गाथा 23 चूर्णि के अनुसार इन्द्र के पांच सौ देवमन्त्री होते हैं। राजा मन्त्री रूपी आंखों से देखता है अर्थात् उनकी दृष्टि से अपनी नीति निर्धारित करता है, इसलिए इन्द्र सहस्राक्ष है।
155. उत्तराध्ययन, गाथा 13, पृ० 117-18।

156. वही, 14/37।
157. पुर और जनपद, राजधानी, सेना और अन्त:पुर राज्य के महत्वपूर्ण अंग हैं—उत्तराध्ययन, 9/4।
158. वही, 2/18।
159. ठाणं, 2/390।
160. उत्तराध्ययन, वृहद्वृत्ति पत्र 605 : दशवैकालिक हरिभद्रीय टीका, पत्र 147।
161. निशीथचूर्णि, भा०-3, पृ० 346 स्थानांगवृत्ति, पत्र 82।
162. दशवैकालिक एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० 220।
163. उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति, पत्र 605।
164. ठाणं लाडनूं संस्करण, पृ० 143।
165. वही।
166. उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति, पत्र 605।
167. निशीथचूर्णि भाग-3, पृ० 346।
168. स्थानांगवृत्ति, पत्र 82-83।
169. उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति, पत्र 605।
170. वही।
171. मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 259।
172. उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति, पत्र 605।
173. दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० 220: इसमें कर्बट का मूल अर्थ कूटसाक्षी अथवा जहां अनैतिक व्यवसाय होता है, से किया है।
174. ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृ० 259।
175. उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति, पत्र 605।
176. स्थानांग वृत्ति पत्र 83: निशीथचूर्णि, भाग 3।
177. वही।
178. वही।
179. वही।
180. वही।
181. वही।
182. वही।
183. वही।
184. उत्तराध्ययन, 9/3।
185. वही, 14/37।
186. मिथिलाराज नमि सब कुछ त्यागकर निर्ग्रन्थ मुनि हो गये। उन्हें विवेकमूलक वैराग्य का उदात्त जागरण हुआ। नमिराज यकायक मुनि हो गये हें—इस त्याग की ज्ञान चेतना स्थिर है अथवा यह कोई क्षणिक उबाल है यह जानने व क्षात्र धर्म की याद दिलाने के लिए देवेन्द्र ब्राह्मण वेश में उनके पास आया किन्तु नमि का उत्तर था कि मिथिला जल रही है तो उसमें मेरा क्या है? मेरा तो कुछ भी नहीं जल रहा है। नमि के इस उत्तर में अध्यात्मभावना के प्राण भेद विज्ञान की चर्चा प्राप्त होती है। यदि नमि की देह भी जलती तो वह यह ही कहते। राज्य रक्षा, राज्य विस्तार, शत्रु और चोर लुटेरों के दमन की अपेक्षा अन्तर का राज्य, आत्मदमन, आत्मरक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। बाहर की दुनिया को बचा लेने पर भी

अन्तर्जीवन अगर असुरक्षित है तो बाहर की सुरक्षा का कोई अर्थ नहीं है। बाहर के हजारों शत्रुओं को जीतने की अपेक्षा आन्तरिक शत्रुओं पर प्राप्त की जाने वाली विजय ही वास्तविक विजय है। नमिराज पूर्ण अनासक्त हुए—उत्तराध्ययन एस०बी०ई०, अ० 9, पृ० 35-41।

187. वही, 20 : महानिर्ग्रन्थीय।

188. कुरुक्षेत्र के इषुकार नगर में भृगुराजपुरोहित अपनी पत्नी यशा के साथ रहते थे जिनके दो सुन्दर अल्पवयस्क पुत्रों ने दीक्षा ग्रहण कर ली। यह देख माता-पिता ने भी श्रमण संयम ग्रहण कर लिया। इस सम्पन्न पुरोहित का त्यक्त धन परम्परानुसार राज्यकोष में आने लगा। यह सूचना पाकर रानी कमलावती ने राजा को समझाया "जीवन क्षणिक है।" इस क्षणिक जीवन के लिए तुम धन संग्रह क्यों कर रहे हो? जिसे पुरोहित छोड़ रहा है उसे तुम क्यों स्वीकार कर रहे हो? यह तो दूसरों का वमन चाटने के समान है। जिस प्रकार मांस खण्ड पर चील, कौए और गीध झपटते हैं, उसी प्रकार धन लोलुप धन पर झपटते हैं। अत: इस क्षण नश्वर धन को त्याग कर शाश्वतधन को खोजें। इस प्रकार राजा रानी ने श्रमण दीक्षा स्वीकार कर ली।—उत्तराध्ययन, एस०बी०ई०, अ० 14, पृ० 61-69।

189. काम्पिल्य नगर का राजा संजय शिकार के लिए गया हुआ था। उसकी सेना ने जंगल के हिरणों को एक एक कर बींधा। उनका पीछा करते हुए राजा लता मण्डप में गया जहां मुनि गर्दभालि तपस्यारत थे। मुनि ने भयभीत राजा से कहा—"राजन! मेरी ओर से तुम्हें अभय है। पर तुम भी अभय देने वाले बनो। जिनके लिए तुम यह अनर्थ कर रहे हो, वह स्वजन एवं परिजन कोई भी तुम्हें बचा नहीं सकेंगे।" यह उपदेश पाकर राजा मुनि बन गया।—वही, अ० 18, पृ० 80।

190. वही, पृ० 48।

191. उत्तरज्झयणाणि 11/21—वृहद्वृत्ति के अनुसार वासुदेव के शंख का नाम पांचजन्य, चक्र का सुदर्शन और गदा का नाम कौमुदकी है। लोहे के दण्ड विशेष को गदा कहते हैं।

192. उत्तराध्ययन, 11/23।

193. वही, 22/10-24।

194. उत्तरज्झयणाणि, सटिप्पण, पृ० 432। यह रत्न हैं (1) सेनापति, (2) पुरोहित, (3) गाथापति, (4) गज, (5) अश्व, (6) मनचाहा भवन निर्माण करने वाला वर्द्धकि बढ़ई, स्त्री, (8) चक्र, (9) छत्र, (10) चम, (11) मणि, (12) जिससे पर्वत शिलाओं पर लेख या मण्डल अंकित किये जाते हैं वह काकिणी, (13) खड्ग, तथा (14) दण्ड।

195. उत्तराध्ययन, अध्या. 11, 18, 21 तथा 22।

अध्याय 7

आर्थिक दशा एवं अर्थव्यवस्था

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस पुरुषार्थ चतुष्टय के आधार पर भारतीय मनीषियों ने सम्पूर्ण मानव अस्तित्व को नियमित करने का उपक्रम किया है और इनके बीच सन्तुलन रखने की दिशा भी प्रस्तुत की है। किन्तु, फिर भी भारतीय मनीषा का झुकाव मोक्ष की ओर रहा। समाज में दरिद्रता है, विपन्नता है इसका चिन्तन तो हुआ किन्तु इस आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में कि वह व्यक्ति के किये हुए कर्मों का फल है। इस कर्मफल सूत्र में हेतु की खोज भी हुई है। उसे परिवर्तित किया जा सकता है, इस पर्याय की दिशा का उद्घाटन नहीं हुआ है। इसका कारण रहा कर्मसिद्धान्त का एकांगी दृष्टिकोण। यदि अनेकान्त दृष्टि से समाजशास्त्री व अर्थशास्त्री देखते तो व्यवस्था परिवर्तन के द्वारा दरिद्रता समाप्त करने का मार्ग दुर्लभ नहीं था।

जैन दृष्टि के अनुसार सम्पन्नता या विपन्नता कर्म हेतुक भी होती है किन्तु कर्महेतुक ही नहीं होती। किसी भी कार्य की निष्पत्ति एक हेतु से नहीं होती, हेतु समवाय से होती है। कर्म का विपाक भी अपने आप नहीं होता अपितु वस्तु, क्षेत्र, काल, भाव आदि की युति से होता है। समाज-व्यवस्था का भाव पर्याय समुचित होता है तो विपन्नता को फलित करने वाले कर्म का विपाक ही न होता। समाज के समक्ष विषमता, दरिद्रता, शस्त्रीकरण, युद्ध, जातीयता, पूंजीवाद, साम्प्रदायिकता आदि अनेक समस्याएं हैं किन्तु चिन्तन के धरातल पर इन भौतिक समस्याओं का समाधान दार्शनिकों ने पारमार्थिक आधार पर करने का प्रयास किया है, व्यावहारिक समाधान की दशा में उनका स्वर मुखर नहीं है।

शाश्वत और अशाश्वत दोनों एक ही सत्य के दो पहलू हैं। इन दोनों को विभक्त नहीं किया जा सकता। इस स्थिति में दर्शन को केवल शाश्वत की व्याख्या तक सीमित नहीं किया जा सकता है। परिवर्तन, जीवन व्यवहार और सामयिक समस्याओं की व्याख्या करना भी दर्शन का ही कार्य है।[1]

यद्यपि जैन आगम प्रमुख रूप से धर्म और दर्शन से सम्बन्धित हैं तथापि

आर्थिक संस्थाओं के विषय में भी प्रसंगवश सूचनाएं प्राप्त होती हैं।

कृषि व्यवस्था तथा प्रमुख पैदावार

जैन धर्म यद्यपि विशेष रूप से अपने अनुयायियों को कृषि कर्म न करने का आदेश देता है ताकि हिंसा का पूर्ण परित्याग हो सके किन्तु कृषि कर्म की उपेक्षा सम्भव नहीं थी। सम्भवत: जैनेत्तर सम्प्रदाय के व्यक्ति प्रमुख रूप से कृषि कर्म अंगीकार करते थे और जैन अपवाद स्वरूप। जैनसूत्रों से ज्ञात होता है कि आगम काल में कृषि कार्य अति विकसित था।[2]

जैनसूत्रों में सत्रह प्रकार के धान्यों का उल्लेख प्राप्त होता है—वीहि (चावल),[3] यव (जौ),[4] मसूर,[5] गोधूम (गेहूं), मुद्ग (मूंग),[6] माष (उड़द)[7] तिल[8], चणक (चना),[9] अणु (चावल की एक किस्म), प्रियंगु (कंगन),[10] काद्रव (कोदों)[11], अकुष्टक (कुटटु), शालि (चावल), आढकी, कलाय (मटर), कुलत्थ (कुलथी),[12] और सण (सन)।

चावल शालि की खेती बहुतायत से होती थी। कलम शालि पूर्वीय प्रान्तों में उत्पन्न होता था। रक्तशक्ति महाशालि और गन्धशालि इसकी बढिया किस्में थीं।[13] कुल्माष, उड़द, बुक्कस, पुलाक तथा मंथु,[14] जौ और चावल[15] प्रमुख पैदावार थीं। बैंगन तथा ककड़ी[16] सब्जियों में उत्पन्न होती थीं। केला, ईख, कुकुरमुत्ता, जौ, चना,[17] आलू, मूली, श्रृंगबेर, अदरक की पैदावार के विषय में उत्तराध्ययन से ज्ञात होता है।

अनेक प्रकार के कन्दमूल फल उस समय उत्पन्न होते थे जैसे हिरिलीकन्द, सिरिलीकन्द, जावईकन्द, केद, कदलीकन्द, कुस्तुम्बक।[18] लोही, स्निहु, कुहक, वज्रकन्द, सूरणकन्द, अश्वकर्णी, सिंहकर्णी,[19] मुसुढ़ी हरिद्रा आदि जमीकन्द थे।[19] प्याज तथा लहसन की भी खेती होती थी।[21] आलू, मूली, अदरक भूमि के अन्दर उत्पन्न होने वाली अन्य सब्जी थीं।[22]

नारियल,[23] ईख,[24] कुकुरमुत्ता[25] अन्य पैदावार थीं। इन्हें क्रमश: लतावलय, पर्वज और कुहण श्रेणी के अन्तर्गत रखा गया है।

कच्चे आम, पके आम,[26] कच्चे कपित्थ, पके कपित्थ,[27] खजूर तथा द्राक्षा[28] का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

तिल्ली, तिल, जिगरफली, निष्पाव, कुलट्ठ, आल्सिन, एलामिच्छ,[29] (इलायची), सरसों,[30] सफेद सरसों,[31] प्रमुख तिलहनें थी।

अन्न भण्डारों में भर कर रखा जाता था।[32] मसालों में कालीमिर्च,[33] हरिद्रा (हल्दी),[34] सरसों, हरिताल, त्रिकटु, गजपीपल का उल्लेख प्राप्त होता है। गन्ना प्रमुख फसलों में से था। इसे कोल्हुओं महाजन्त कोल्लुक[35] में पेरा जाता था।

फसल पकने पर धान्य घड़ों में भरकर रखा जाता था फिर यह घड़े सुरक्षा की दृष्टि से लीप-पोत कर, मोहर लगा कर कोठार में रख दिये जाते थे।[36] सूत्रकृतांग में ओखली तथा मूसली की चर्चा आती है जिसका प्रयोग सम्भवत: धान्य कूटने के लिए भी किया जाता होगा।[37] गंजशाला[38] में धान्य कूटे जाने की पुष्टि जैन ग्रन्थ निशीथसूत्र से भी होती है।

सेब, अंगूर, खजूर, नारियल, इमली, चकोतरा, उन्नाव, तिन्दुक, बिल्व, श्रीपर्णी तथा किंपाक फलों के साथ फलों में आम,[39] अनार,[40] तथा बेर[41] की चर्चा मिलती है। विभिन्न प्रकार की सब्जियों[42] में आंवला,[43] आलू, मूली, अदरक, प्याज, लहसुन तथा लौकी[44] के विषय में ज्ञात होता है।

पुष्पों में मन्दार, चम्पक, अशोक, नाग, पुन्नाग, प्रियंगु, शिरीष, मुद्गर, मल्लिका, यूथिका, अंकोला, कोरान्तक, दमनक, नवमालिका, बकुल, तिलक, वारान्तिका, नूफर, पाटल, कुन्द, अतिमुक्त, आम्रबेर आदि की चर्चा प्राप्त होती है।[45] यह सभी पुष्प सुगन्धियुक्त थे तथा इन्हें आभरण बनाकर शरीर पर धारण किया जाता था तथा इनकी सुगन्ध इत्र के रूप में भी प्रचलित थी। ऐसा लोक विश्वास था कि अशोक की कली तभी चटकती है जब सजी धजी युवती का पांव छू जाये[46] तथा बकुल तभी परिपूर्ण यौवन से सराबोर होता है जब मदिरा से सींचा जाता है।[47] केतकी,[48] अलसी के पुष्प,[49] कुन्द पुष्प,[50] कमल,[51] शिरीष,[52] कुमुद रक्त कमल[53] लोध्रपुष्प[54] आदि का तथा जल कुमुदनी[55] का नाम भी जैन सूत्रों में प्राप्त होता है।

अन्य वनस्पति

जैन ग्रन्थों में अनेक वृक्ष, पौधे, गुच्द, घास, झाड़ी तथा तृणों के नाम मिलते हैं जिनमें कुछ की पहचान नहीं हो पायी है किन्तु उनके प्राकृत नाम ज्ञात हैं। इस सूची में लता, गुल्म, वल्लि, जड़ी बूटियां तथा झाड़ियां भी सम्मिलित हैं :

काकजंघा[56]—घुंघची या गुंजा का वृक्ष,
सुदर्शना[57]—जंबुवृक्ष का नाम,
शाल्मलि वृक्ष[58]—सेमल का वृक्ष,
अशोक[59],
तेल कण्टक[60],
अलसी[61],
कुन्द[62],
सण[63],

असण[64],
कड़वा तूम्बा[65],
नीम[66],
कटुक रोहिणी[67],
पाम वृक्ष[68],
चन्दन[69],
पद्मम[70],
बांस[71],
पीपल[72],
अमरात[73],
जिधिरा[74],
शतगु[75],
अम्बर[76],
पिलांखु[77],
न्यग्रोध[78],
नियूर[79],
अश्वत्थ[80],
सल्लकी[81],
धातकी[82],
शाल[83],

इसके अतिरिक्त इक्षुमेरु, अंककरेलु, कसेरु, संघाटिक तथा पुटियाल[84] नामक पौधों के नाम प्राप्त होते हैं।

विभिन्न घासों में इक्कटा, जन्तुक, कुशा, पारा या पराग[85], कुक्खा जल कुमुदनी, मोराग मयूर पंख या मोरपांखी,[86] पापक तथा रालग व कुक्कक नाम प्राप्त होते हैं।[87]

जल में उत्पन्न विभिन्न वनस्पतियां जिनमें जलतत्व निहित हैं उनके नाम इस प्रकार मिलते हैं—उदग, आवग, पानग, शैवाल, कलम्बुय कदम्ब कसेस, चक्खमाणिय, उप्पल, पौम, कुमुद, नलिन, सुभागसेणिय, पौण्डरीय, महापौण्डरीय, सयावत्ता, सहसावत्ता, कलहार, कोकन्द, तामरस, पुक्खल तथा पुक्खलदिठी।[88]

भूमिज वनस्पतियों इस प्रकार हैं—आय, काय, कुहण, कंदु, उत्वेहलिय, निव्वेहलियां ऐषव, सक्ख, खटग्ग, वासानिय।[89]

व्यवसाय तथा उद्योग

जैन साहित्य से तत्कालीन भारतीय व्यवसायिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। आगम काल में व्यवसाय और उद्योगों की बड़ी उन्नति हुई थी। इस समय भारत में संगठित राज्य स्थापित हुए तथा नगर सभ्यता का विकास आरम्भ हुआ। इस युग से इन व्यवसायों की यह विशेषता देखने को मिलती है कि पुत्र अपने पिता के व्यवसाय में दक्ष होने का प्रयत्न करता है। वंशानुगत प्रवृत्ति के साथ शिल्प के स्थानीकरण की भावना भी पायी जाती है।

शिल्पियों ने अपनी शालाएं बना रखी थीं। शिल्पशालाओं[90] में कुम्भकारशाला, लोहकारशाला, पण्यशाला आदि नाम प्राप्त होते हैं। बढ़ई और लोहार[91] का व्यवसाय अति उन्नत था। नाई,[92] रंगरेज,[93] धोबी,[94] और मालाकार[95] भी अपने व्यवसायों में प्रतिष्ठित थे। दर्जी,[96], शीशे के रोगन का काम करने वाला,[97] गोपाल, भाण्डपाल, गायों और किराने के स्वामी,[98] का उल्लेख मिलता है। लकड़ी की नाव बनाने का भी व्यवसाय होता था।[99] चमड़े के जूते,[100] नशीले द्रव्य[101] भी बनाये और बेचे जाते थे। प्रशासनिक व्यवसायों में निगम शब्द व्यापारिक केन्द्र के लिय प्रयुक्त होता था।[102] ग्वाला, गड़रिया, शिकारी, मछुआरा, कसाई,[103] तथा बहेलिया[104] जैसे कर्मकारों का उल्लेख भी जैन सूत्रों में प्राप्त होता है। बांस की टोकरी बनाने वाले, सींकों का कार्य[105] करने वाले, पंखे बुनने वाले हीन शिल्पियों की चर्चा भी प्राप्त होती है। बाजे बनाने वाले, कपड़े की गेंद बनाने वाले, कुर्सी बुनने वाले, लकड़ी की कुर्सी बनाने वाले, चन्दन की खड़ाऊ बनाने वाले,[106] तथा धागे से वस्त्र बुनने बाले[107] तभाग या तन्तुवाय भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

चोर,[108] उचक्के और सेंधमार,[109] जुआरी[110] अपनी आजीविका अनुचित साधनों से प्राप्त करते थे।

कल्पसूत्र से हमें सूंघनी बनाने बनाने वाले, खिलाड़ी, नर्तक, रस्सी पर नाचने वाले, कुश्तीबाज, कथावाचक, चारण, अभिनेता, संदेशवाहक, लंख, शहनाई-वादक तथा बांसुरी वादक के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।[111]

कुम्हार, लुहार, चित्रकार, तन्तुवाय, नाई प्रत्येक की व्यासायिक शाखाएं थीं, जहां इन व्यवसायों का प्रशिक्षण दिया जाता था।[112] कृषि, वाणिज्य और व्यवसाय स्वयं विकसित थे। स्त्रियां नृत्य तथा संगीत से भी आजीविका चलाती थीं।[113]

आचारांगसूत्र में दुकानों, कारखानों और पलाल मण्डपों के विषय में ज्ञान प्रापत होता है।[114] गाड़ीवान[115] गाड़ियों में सामान भरकर विक्रय हेतु ले जाते थे। ग्राम रक्षक[116] इन सबकी सुरक्षा का प्रबन्ध करते थे। गोपाल और भाण्डपाल[115] गाय तथा अन्य पशुओं व बर्तनों का व्यापार करते थे।

जैन ग्रन्थ कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि व्यापार तथा उद्योग की सुविधा के लिए तिराहे, चौराहे, सड़क और बाजार बने हुए थे। व्यापारियों के कारवां का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[118]

समाज का एक वर्ग उच्च विद्याओं के द्वारा आजीविका प्राप्त करता था। यह विद्याएं इस प्रकार थीं—छिन्न-छिद्र विद्या, स्वर सप्त-स्वर विद्या, मौन, अन्तरिक्ष, स्वप्न, तक्षण, दण्ड, वास्तुविद्या, अंगविकार, स्वर विज्ञान, आयुर्वेद ज्ञान तथा मन्त्रज्ञान।[117] शुभाशुभ बताकर[118] तथा अध्यापन[119] के द्वारा भी व्यक्ति धनार्जन करते थे। मन्त्र और विद्या द्वारा चिकित्सा[120] तथा औषधि निर्माण[121] से भी आजीविका चलाई जाती थी।

लुहार, कुम्हार आदि कर्मकार

लुहारों कम्मारों, कर्मार, का व्यापार उन्नति पर था। यह लोग खेती बारी के लिए हल और कुदाली तथा लकड़ी काटने के लिए फरसा, वसूला, आदि बनाकर बेचा करते थे।[124] यह करपत्र, करबत, कवच, आरा आदि शस्त्र, तलवार, भाले और लोहे के डण्डे, जुए वाले जलते लोहे के रथ, तेजधार वाले छुरे - छुरियां, कैंची, कुल्हाड़ी, फरसा,[125] कुंदकुंभी पकने के लोह पात्र आदि का निर्माण करते थे।[126] लोहे, त्रपुस, ताम्र, जस्ते, सीसे, कांसे, चांदी, सोने, गणि, दन्त, सींग, शंख, बज्र आदि से बहुमूल्य पात्र बनाये जाते थे।[127] ताम्बे के बरतन को चन्दालग कहते थे।[128] इस्पात से साधुओं के उपयोग में आने वाले क्षुर पिप्पलग सुई[129] आरा, नहनी आदि बनाये जाते थे। लुहार की दुकान समर कहलाती थी।[130] लोहे के हथौड़े से कूटते, पीटते, काटते और उससे उपयोगी वस्तुओं को तैयार करते थे।[131] गन्धी और चित्रकार मनोहर गन्ध[132] तथा मनोहर चित्र[133] तैयार करते थे।

अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य उपकरण

जैन सूत्रों में प्रसंगवश अनेक उपकरणों तथा अस्त्र शस्त्रों का उल्लेख हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि इन शस्त्रों का निर्माण कारखानों में विशाल पैमाने पर होता था। ढाल तथा कवच[134] सेना की आवश्यकता पूर्ति हेतु बनते थे। चक्र, अंकुश[135] तथा गदा[136] अन्य उपकरण थे जो युद्ध में काम आते थे। वज्र[137] तलवार, मल्लि, लोहदण्ड युद्ध में तथा आततायियों से निपटने में काम आते थे।[138] युद्ध के लिए लौह रथों का निर्माण होता था।[139] अपराधियों, दासों और कर्मकरों पर चाबुक[140] से मार लगाई जाती थी अतः चाबुकों का निर्माण और विक्रय होता था। मुगदर, भुंसुण्डी, शूल तथा मूसल[141] का प्रयोग अपराधियों को

त्रास देने के लिए होता था।

छुरे, छुरी, कैंची[142] कंटी[143] मछली पकड़ने की कुल्हाड़ी और फरसे का निर्माण घरेलू उपयोग तथा धन्धे पालन की सुविधा के लिए होता था। छत्र तथा चामरा[144] का निर्माण देवता तथा राजन्यों के लिए होता था। वर्दी, त्रिशूल, उस्तरे तथा चाकू का उल्लेख सूत्रकृतांग से प्राप्त होता है।[145] सुई का निर्माण कपड़े सीने के लिए किया जाता था।[146] यान, झूले, पालकी, शिविका विशेष तथा घोड़े की काठी का निर्माण होता था।[147] व्यापारी सार्थ[148] बनाकर व्यापार हेतु दूर देशों को जाते थे।

करछियां,[149] करवत,[150] पगहा कुएं का फांसी, मुश्क, तीर और कोड़ा[151] तथा तलवार, ढाल[152] और उस्तरा[153] जैसे घरेलु और सैनिक उपकरणों का निर्माण किया जाता था। छोटे शिल्पी और कर्मकर दैनिक उपयोग की अनेक वस्तुओं का निर्माण करते थे। लुहार बाल उखाड़ने की चिमटी[154] सौन्दर्य प्रिय महिलाओं के लिए, सुई, हंसिया, मूसल तथा इमामदस्ते[155] तथा सलाखों[156] का निर्माण करते थे, बढ़ई लकड़ी की खड़ाऊं,[157] चौकी, पर्थक, शैया,[158] हत्थे वाली कुर्सी और बैठने की चौकी[159] बनाते थे। घोड़े की काठी[160] भी यही बनाते थे। बांस के सूप[161] बनाये जाते थे। बर्तन वाले ड्रम, रामझारे,[162] हुक्के[163] बनाते थे। मिट्टी के कमोड़ भी बनाये जाते थे।[164] भाण्ड और उपकरणों[165] में भिक्षापात्र[166] तथा चिमटा[167] के निर्माण के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।

कुछ लोग जन-सामान्य के मनोरंजन से सम्बन्धित व्यवसाय भी करते थे। यह नर्तक, वादक, अभिनेता और कवि के रूप में विख्यात थे। कुछ व्यक्ति इनकी कला के उपकरण जैसे प्रसाधन सामग्री, घुंघरु तथा वाद्य आदि के निर्माण का कार्य करते थे।

आगम कालीन जन जीवन सुरुचि और सम्पन्नता की दृष्टि से अतिविकसित था। यह प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है। नाट्य, गीत और वाद्य मनोरंजन के साधन थे।[168] अनेक प्रकार के वाद्य बनाए जाते थे तथा उन पर स्वर, राग और रागिनियां बजाई जाती थीं। वीणा, तूर्य, नगाड़ा तथा पातृपतह,[169] वेणु, सितार[170] तथा वीण एवं बांसुरी[171] जैसे वाद्य बजाने की चर्चा जैन ग्रन्थ सूत्रकृतांग में आई है।

वीणा, विपांकी वदवीसक, तुन्नाक, पन्नाक, तुम्ब, विनिका, घंकुण ताल, लट्टिय, मृदंग, नन्दी-मृदंग तथा झल्लरी जैसे वाद्य भी लोकप्रिय थे।[172]

दुंदभि, तुरही, नगाड़ा, तबले, मुरग, मृदंग, सामागा-गामागा, तूरिय, झांझ, मंजीरा, बिगुल आदि वाद्यों का उल्लेख उस समय की कला प्रिय परिष्कृत संस्कृति को प्रतिबिम्बित करता है।[173]

वस्त्र व्यवसाय

वस्त्र उद्योग तथा वस्त्र व्यवसाय आगम काल में अतिविकसित दशा में थे। फर के बने वस्त्र स्वर्ण से कसीदे किये, अलंकृत और विभिन्न जीवों की खालों के बने वस्त्र[174] सम्पन्न व्यक्तियों की शोभा द्विगुणित करते थे। राजसी वस्त्र बहुमूल्य नगों से अलंकृत होते थे। इन वस्त्रों की बनावट अनेक प्रकार की होती थी तथा उन पर हजारों नमूने कढाई किये जाते थे।[175] बहुमूल्य वस्त्र मुलायम तथा कसीदा किये हुए होते थे तथा इन पर पशु, पक्षी, यक्ष, किन्नर, पेड़, पौधे, काढ़े जाते थे।[176]

कुछ नगर वस्त्र निर्माण के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध थे तथा आशातीत वस्त्रों का भी उपयोग होता था।[177]

ऊनी, रेशमी, पटुवा, ताड़ के पत्तों से बने सूती वस्त्र तथा अर्कतूल के रेशे से बने वस्त्र अत्यन्त लोकप्रिय थे।[178] कर के उत्कृष्ट वस्त्र बकरी के बालों से बने बस्त्र, नीले सूत से बने वस्त्र, साधारण सूत के बने तांत पट्ट, मलय वस्त्र, कलकल, मलमल, तेजाब, रेशम, देशराग, अमिल, जग्गल, फालिम, प्रचलित वस्त्रों की अन्य किस्में थीं।[179] जूट के रेशों से रस्सी बुनी जाती थी।[180]

धनिक विविध प्रकार के बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे जिनमें स्वर्णतार से विभूषित वस्त्र[181] आईणग[182] अजिन, पशुओं की खाल से बने वस्त्र, सहिण सूक्ष्म बारीक वस्त्र, सहिणकल्लाण पारदर्शी वस्त्र, आय[183] बकरे के बालों के बने वस्त्र काय[184] नीली कपास के बने वस्त्र, खोमिय क्षौमिक—कपास के बने वस्त्र दुगुल्ल[185] (दकुल), पौधे के तन्तुओं से बने वस्त्र, मलय, पतुन्न,[186] पत्रौर्ण, वृक्ष की छाल से बने अंसुय (अंशुक), चीणांसुय चीनांशुक के देसराग रंगीन वस्त्र, अमिल[187] स्वच्छ वसत्र गज्जफल[188] पहनते समय कड़ कड़ शब्द करने वाला वस्त्र, फालिय स्फटिक के समान उज्ज्वल वसत्र, कोयव[189] रुएंदार कम्बल, पावार प्रावरण वस्त्रों का उल्लेख किया गया है।

अन्य वस्त्रों में उड़द[190] (उद्र), सिन्धु देश में उत्पन्न होने वाले उद्र नामक मत्स्य के चर्म से निष्पन्न पेस[191] सिन्धु देश में होने वाले पशु विशेष के चर्म से निष्पन्न पैसल जिस पर पेस चर्म के बेलबूटे कढ़े हों, कनककान्त[192] जिसकी किनारियां सुनहरी हों विवध अर्थात् चीते की चर्म से निष्पन्न आभरण विचित्र[193] पत्र, चन्द्रलेखा, स्वस्तिक, घंटिका और मौक्तिक आदि अनेक नमूनों से निष्पन्न आदि वस्त्रों का उल्लेख जैनसूत्रों में प्राप्त होता है।[194] पट्ट[195] तथा इष्य का मूल्य एक सहस्त्र आंका जाता था।[196] विजय दूष्य ऐसा वस्त्र था जो शंख, कुंद, जलधारा और समुद्रफेन के समान श्वेतवर्ण का होता था।[197]

आभूषण व्यवसाय

इस काल में सुनार तथा सर्राफा प्रगति के शिखर पर था। जैनसूत्रों से ज्ञात होता है कि स्त्रियां तथा पुरुष आभूषण धारण करते थे। चौदह प्रकार के आभूषणों का उल्लेख जैनसूत्रों में मिलता है—हार अट्ठारह लड़ी वाला[198] अर्धहार—नौ लड़ी का हार एकावलि एक लड़ी का हार, कनकावलि, रत्नावलि, मुक्तावलि, केयूर, कडय, कड़ा, तुडिय बाजूबन्द मुद्रा अंगूठी, कुण्डल, उरसूत्र, चूड़ामणि और तिलक।[199] इस प्रकार हार, अर्धहार त्रिसरय तीन लड़ी का हार प्रलंब नाभि तक लटकने वाला हार कटिसूत्र करधौनी, ग्रैवेयक गले का हार, अंगुलियक अंगूठी का कचाभरण केश में लगाने के अलंकरण मुद्रिका, कुण्डल, मुकुट, वलय वीरत्वसूचक कंगण[200], अंगद बाजूबन्द, पादप्रलंब पैर तक लटकने वाला हार[201] मुरवि कान की वाली,[202] आदि आभूषण पुरुषों द्वारा धारण किये जाते थे। नुपूर, मेखला, हार, कडग खुद्दय अंगूठी वलय, कुण्डल, रत्न तथा दीनारमाला[203] स्त्रियों के आभूषण थे।

अन्य आभूषणों में कुण्डल,[204] मुकुट,[205] चूड़ामणि,[206] करधनी,[207] मुक्ताहार,[208] कर्णफूल[209] थे। बाहुवलय, कदग, तुदिय, कैडूर केयुर कंकण, त्रुटिका, बाहुरक्षिता तथा अंगद जैसे आभरण[210] पहनने का चलन था।[211]

हार कर्णाभरण, बालियां, बाजूबन्द तथा मुकुट प्रचलित थे।[212] मोतियों के हार तथा कानों में हिलते झुमके पहने जाते थे जो कन्धों को छूते थे।[213]

धनिक वर्ग आभूषण धारण करने के अतिरिक्त चांदी के प्यालों,[214] का उपभोग करते थे। मणि और रत्नजटित तलों वाले प्रासाद और गवाक्षों से युक्त अट्टालिकाओं से नगर के तिराहों और चौराहों का अवलोकन किया करते थे।[215] उनके पलंग स्वर्णजटित होते थे तथा सोने के भृंगार झारी से जल पीते थे।[216]

खनिज उद्योग

आगम काल में खानों में लोहा, रांगा, ताम्बा, जस्ता, सीसा, कांसा, चांदी, हिरण्य अथवा रुप्य, सोना सुवर्ण मणि और रत्न उपलब्ध थे।[217] भारत के व्यापारी कलियद्वीप से हिरण्य, सुवर्ण, रत्न, वज्र तथा बहुमूल्य धातुएं नाविक मार्गों से भर कर भारत में लाते थे।[218]

खनिज पदार्थों में लवण (नमक) ऊस (साजी) माटी गेरु, हरताल, हिंगलुक सिंगरफ मणसिल (मनसिल), सासग संडिय (सफेद मिटटी), सारट्ठिय और अंजन के नाम ज्ञात होते हैं।[219] चन्दन, सोड़ा, मसारगल्ल, लाल खड़िया, हंसगर्भ, पुलाक तथा गन्धक अन्य धातुएं थीं।[220] सिन्दूर, लाल हरताल, सुरमा, अभ्रपटल

तथा अभ्रबालुक की भी चर्चा मिलती है।[221] प्रवाल, पांड, भूरी मिट्टी और पनक अन्य खनिज थे।[222] निश्चय ही यह खनिज सम्पदा अपने बहु उपयोगों के लिए ज्ञात थी और व्यापार को समृद्ध बनाने में योगदान दे रही थी। कोयले[223] की खानें बहुतायत से थीं।

धातुएं

चांदी, सोना, कांसा, प्रसिद्ध धातुएं थीं।[224] चांदी, सोना, जेवर बनाने के काम आता था जब कि कांसा बर्तन बनाने के काम आता था।[225] ताम्बा, लोहा, रांगा, टिन और सीसा जैसी धातुएं आगम काल में सुविख्यात थीं।[226]

बहुमूल्य रत्न तथा मणियां

हीरा,[227] मूंगा,[228] लोहिताक्ष, पन्ना, भूज, मांचक, नीलम, बिल्लौर, स्फटिक, हंसगर्म, पुलाक, चन्द्रप्रभ, बैदूर्य, जलकान्त तथा सूर्यकान्त[229] बहुमूल्य रत्नों में परिगणित होते थे जिनके अलंकरण स्वर्ण तथा हिरण्य से संयुक्त बनते थे। गोमेदक, रुचक, अंक[230] तथा मुक्ता[231] अन्य बहुमूल्य रत्न तथा मोती थे। कल्पसूत्र में भी मूंगा, माणिक, लाल, शंख और कौड़ी का उल्लेख प्राप्त होता है।[232] इन्द्रनील, सस्यक, मरकत, प्रवाल तथा अंकमणि की भी चर्चा मिलती है।[233]

मुद्रा विनिमय

मुद्रा विनिमय का प्रमुख साधन है। जैन सूत्रों में अनेक प्रकार की मुद्राओं एवं सिक्कों का उल्लेख होता है। आचारांग सूत्र में हिरण्य सुवर्ण का उल्लेख प्राप्त होता है।[234] सुवर्ण का पृथक उल्लेख भी प्राप्त होता है।[235] अन्य मुद्राओं में कार्षापण (काहावण),[236] माष,[237] अर्धमाष तथा रूपक[238] का उल्लेख प्राप्त होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में सुवण्ण मासय स्वर्णमाषक शब्द प्राप्त होता है।[239]

चांदी के सिक्कों में द्रख्म[240] तथा स्वर्ण में दीनार[241] का प्रचलन था। ताम्बे के सिक्के में काकिणी प्रचलित था।[242] छोटे सिक्कों का भी काफी प्रचलन था।[243] काकिणी दक्षिणापथ में प्रचलित था। यह ताम्बे के कार्षापण का चौथा भाग होता था।

वणिक सम्भवत: महाजनी बैंक का कार्य भी करते थे तथा ब्याज व सूद पर रूपया उधार देते थे। इस अनुमान का आधार उत्तराध्ययन सूत्र में प्राप्त मूलपूंजी शब्द है।[244] इसी प्रकार आचारांग सूत्र में उपभोग के बाद बचा धन, अर्जित धन

और संरक्षित अर्थराशि की चर्चा पुनः इसी ओर इंगित करती प्रतीत होती है।[245] प्रतीत होता है कि सुदूर देशों से जलमार्ग से व्यापार होता था।[246] यद्यपि समसामयिक बौद्ध तथा ब्राह्मण साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि व्यापारी श्रेणियों में संगठित थे किन्तु जैन ग्रन्थों से ऐसी कोई सूचना प्राप्त नहीं होती।

पशु सम्पदा

भारत सदा से कृषि प्रधान देश रहा है। स्वाभाविक ही है कि कृषि कर्म की आवश्यकता को ध्यान में रखकर पशु-सम्पदा का भी संरक्षण किया गया हो। पशु न केवल कृषि कार्य के लिए प्रत्यक्ष सहायक थे जैसे बैल जुताई के लिए, कुत्ता रखवाली के लिए, गाय दूध और गोबर के लिए अपितु बहुउपयोगी थे। उनके चर्म से वस्त्र बनते, ढोलक और मषक बनतीं, उनसे दूध मिलता, खाद मिलती, मांस मिलता, उनकी अस्थियों से कंघी आदि बनती, उनके गोबर की खाद बनती, उनके बालों से धागे तथा ऊन बनती तथा अनेक रसायन बनते थे। पशु भारवाही का भी कार्य करते थे जैसे ऊंट और बैल आदि सवारी के कार्य आते थे। जैसे हाथी घोड़ा आदि।

जैनागमों में अनेक पालतू तथा जंगली जानवरों के नाम प्राप्त होते हैं जो इस प्रकार हैं—गाय,[247] बैल,[248] बकरा,[249] मेमना[250] बहुउपयोगी घरेलू जानवर थे। ऊंट, गाय, भैंस, घोड़ा, गधा आर सुअर जैसे जानवर बहुतायत से पाले जाते थे।[251] जिनसे अनेक काम लिये जाते थे। ऊंट और गधा सामान ढोते थे। घोड़ा सवारी के काम आता था। गाय और भैंस दूध देती थी। सूअर मैला खाते थे तथा उनके बालों से झाड़न बनाये जाते थे। गाय-भैंस के सींगों से कंघी तथा खिलौने बनाये जाते थे। इनका गोबर खाद के काम, मांस खाने के काम तथा चर्म वस्त्र व जूते बनाने के काम आते थे। जैन ग्रन्थों में अनेक पशुओं की चर्चा हुई है जैसे कुत्ता, नेवला,[152] उद्र तथा पैस[253] भैंस तथा जंगली सुअर,[254] घोड़ा,[255] हाथी,[256] हिरण,[257] बिल्ली तथा चूहे[258] आदि की।

स्थल चर जीवों की चर्चा करते हुए उत्तराध्ययन में एक खुर बाले घोड़े, दो खुर वाले बैल, गंडीपद हाथी तथा सनखपद सिंह आदि की चर्चा हुई है।[259] वर्गीकरण की यह परिष्कृति प्रवृत्ति दर्शाती है कि आगमकाल में विश्लेषण तथा तार्किक क्रमबद्धता तथा नियोजन की प्रवृत्ति का पर्याप्त विकास हो गया था।

पशुओं की विशेषता बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में अन्यत्र जातिमान अश्व कम्बोज देश के कंथक, घोड़े, हथिनियों, तीक्ष्णसींग तथा पुष्ट स्कन्ध बाले बैल, मृग, तीक्ष्ण दाढ़ के युवा दुष्पराजेय सिंह का उल्लेख हुआ है।[260] गैंडा,[261] सांड,[262] सुअर,[263] जल मार्जार तथा ऊद बिलाव[264] के नाम भी प्राप्त होते हैं। आचारांग सूत्र[265] में काले, नीले, पीले हिरण तथा चीते का उल्लेख हुआ है।

भेड़िया, सांड, घोड़ा, हाथी, हिरण[266] तथा शिंशुमार थूथन वाला स्तनपायी की चर्चा कल्पसूत्र में प्राप्त होती है।

पक्षी

आचारांग सूत्र में उड़ने वाले जीवों के लिए सम्पातिम शब्द मिलता है।[267] उत्तराध्ययन सूत्र में खेचर जीवों को (1) चर्मपक्षी, (2) रोमपक्षी, (3) समुदग पक्षी, तथा (4) वितत पक्षी के अन्तर्गत रखा गया है।[268]।

हंस, कौंच, गरुड़ तथा गीध,[269] संडसी जैसी चोंच वाले ढंकू,[270] बाज,[271] बलाका,[272] खंजन,[273] चाप पक्षी,[274] कबूतर,[275] तोता,[276] आदि की चर्चा उत्तराध्ययन सूत्र में प्राप्त होती है। बतख, तीतर, चकोर और बटेर,[277] मुर्गा,[278] कौआ,[279] तथा भारुण्ड[280] अन्य पक्षी हैं। पिंगला (फ्रेंकोलिन पाटिज),[281] कठोर चोंच वाले पक्षी[282] की चर्चा भी प्राप्त होती है। बगुला, कुर्री, मछली खाने वाले पक्षी, बड़ी चिड़िया और तीतर मांसाहारी पक्षी के अन्तर्गत आते थे।[283] बिहग, पोत[284] राजहंस,[285] कोयल,[286] मोर, सारस और चक्रवाक[287] जैसे पक्षी मौसम विशेष में नृत्य और गायन से मन मोहते थे।[288]

अन्य जीव जन्तु

जैन सूत्रों में अनेक जीव जन्तुओं का उल्लेख हुआ है। जीव जन्तु यों तो फसल को नुकसान पहुंचाते थे जैसे चूहे अनाज खा जाते थे किन्तु जहां कुछ हानिकारक थे वहीं अन्य लाभकारक भी थे। उदाहरण के लिए सांप चूहों को खा जाते थे, बिल्ली चूहे खाती थी, चिड़ियां छोटे जीवों को खा लेती थीं तो गिरगिट आदि अन्य कृमियों को खा जाते थे। मधुमक्खी आदि से शहद प्राप्त होता था। टिड्डी फसल खाती तो बाज सांप, टिड्डी आदि को पकड़ लेते थे। रेशम के कीड़ों से रेशम के वस्त्र बनते थे। सीप, शंख, कौड़ी भी जीवों से ही प्राप्त होती थीं। जिनके गहने बनाये जाते थे। शंख बजाने के काम आता था तो कौड़ी खेल के पांसे के रूप में। जीव जन्तु औषध निर्माण के काम भी आते थे। विशेष रूप से विषैले जन्तु।

घुन, दीमक,[289] चींटी,[290] डांस, मच्छर, मक्खी,[291] मधुमक्खी,[292] मकड़ी,[293] कीट, पतंगा और बोक्कस,[294] ऐसे ही छोटे जीव थे।

कृमि, सौमंगल, अलस, मातृवाहक, वासीमुख, सीप, शंख, शंखनक, पल्लीय, अणुल्लक, कौड़ी, जौंक, जलौक, चंदनियां, इन्द्रिय जीव थे।[295]

कुंथु, चींटी, खटमल, मकड़ी, दीमक, तृणहारक, काष्ठाहारक, घुन मालुक, पत्राहारक, कर्प्पासास्थि, भिंजक, तिन्दुक, त्रपुषभिंजक, शतावरी, कानखजूरी,

द्वीन्द्रिय तथा त्रीन्द्रिय जीवों के अन्तर्गत आते हैं।[296]

अन्धिका, पौत्तिका, मक्षिका, भ्रमर, कीट, पतंग, दिंकुण, कुंकुण, गिरीट, कुक्कुड़, नन्दावर्त, बिच्छु, डोल, भृंगरीटक, बिरली, अक्षिवेधक, अपक्षल, मागघ, अक्षिरोड़क, विचित्र-पत्रक, चित्र-पत्तक, ओहिंजलिया, जलकारी, नीजक तथा तन्तक की चर्चा चतुरीन्द्रिय जीवों के अन्तर्गत की गयी है।[297]

मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मकर और सुंसुमार, पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव हैं।[298]

छिपकली, नेवला, साही, मेढक, गिरगिट, खोरस, गृहकोकिका छिपकली, चूहे, विश्वम्भरा, बिच्छू, पाइलिय, गाह, चौपइया[299] तथा कछुआ[300] पंचेन्द्रिय लौकिक जीवों के अन्तर्गत आते हैं।

मछलियों[301] के अनेक प्रकारों की चर्चा जैनसूत्र में हुई है जैसे रोहित,[302] समुद्री मछली,[303] तिमिंगला व्हेल निरुद्ध और तितिलिका।[304] मगरमच्छ,[305] छिपकली और कछुआ[306] तथा मेढक[307] का भी उल्लेख प्राप्त होता है। सांप[308] भी दो प्रकार के बताये गये हैं—(1) सर्प तथा (2) परिसर्प।

परिमर्प भी दो प्रकार के बताये गये हैं—(1) भुज परिसर्प—हाथों के बल चलने वाले गोह आदि। (2) उर: परिसर्प—पेट के बल चलने वाले सांप आदि। सर्पों की श्रेणी में महोरग का भी नामोल्लेख हुआ है जिसकी लम्बाई एक हजार योजन होती है।[309]

जीव जन्तुओं का वर्गीकरण इस काल की पर्यावलोकन की सहजवृत्ति को दर्शाता है जिसके लिए महावीर और बुद्ध का काल बुद्धिवादी (विभिज्जावाद) तार्किकता के लिए सुख्यात हो गया था। यह वृत्ति छठी शताब्दी की देन है क्योंकि इससे पूर्व ऐसी प्रवृत्ति हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध नहीं होती।

उपभोग

औत्पादनिक क्रान्तिशीलता समाज की प्रवर्धनशीलता का आधार है। वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास पर आधारित समृद्धता उपभोग की सुविधाओं को सर्वसुलभ बनाने की दिशा में चरणनिक्षेप करती है। इस क्रान्ति का मूलाधार है ऐसे ज्ञान की खोज जो भौतिक प्रवृत्ति को स्वायत्त कर भौतिक उपादानों के द्वारा भोग सम्पादन में समर्थ है। विज्ञान, प्राविधि और औद्योगिक उत्पादन मानवीय भोगों को आशातीत वैचित्र्य, प्राचुर्य और सौलभ्य प्रदान करते हैं। ऐसी स्थिति में मानवीय कर्मों का लक्ष्य सामाजिक अभ्युदय और सामाजिक अभ्युदय का अर्थ भौतिक साधनों और सुखों की वृद्धिशीलता पर स्थिर होना है।

भौतिक विकास केवल उपभोग का विकास नहीं है अपितु मानवीय ऐश्वर्य, अवकाश और सुविधाओं का भी विकास है और इस प्रकार वह मनुष्य को स्थूल

अपेक्षाओं और कर्मों की दासता से मुक्त कर उसे इस बात का अवकाश प्रदान करता है कि वह आत्मोचित जीवन की प्राप्ति के लिए प्रयास कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी आर्थिक स्थिति जो मनुष्य को दासता, कृषि दासता और मजदूरी की घोर दरिद्रता और सिर्फ दूसरे के लिए कमरतोड़ परिश्रम में नाथे हुए पशु जीवन से उबारती है और उसे आराम, अवकाश, स्वच्छन्दतां और सामाजिक बराबरी देती है अवश्य ही मानवीय हित की अवस्था मानी जानी चाहिए।

खाद्य पदार्थ

सुख की खोज मानव का शाश्वत लक्ष्य है। जीवित रहने और सुखी रहने में अभेदात्मक सम्बन्ध है। दोनों ही प्रवृत्तिशील मनुष्य के समवेत लक्ष्य हैं। न तो मानव क्षणिक सुख में जीना चाहता है और न ही चिरकाल तक दुख में। सुख संवेदन का एक आयाम है जिव्हा सुख। वैचित्र्य संवलित आस्वाद सुख का अनुसन्धान सामाजिक जीवन की आधार पीठिका पर अलंकरण है।

जैनसूत्रों में चार प्रकार के भोजन का उल्लेख उपलब्ध है—अशन, पान, खाद्य तथा स्वाद्य।[310] जैनसूत्रों में एक ओर नीरस और रुक्ष[311] भोजन की चर्चा है तो दूसरी ओर विविध स्वादमय जैसे तीते, कडुवे, कसैले, खट्टे, मीठे और नमकीन[312] भोजन की चर्चा है। भोज्य पदार्थों में दूध, दही, मक्खन,[313] घी; तेल,[314] मधु, मांस, मदिरा[315] शक्कर, बूरा[316] आदि की चर्चा प्राप्त होती है।

पकवान्नों के अन्तर्गत शुष्कुली,[317] (संकुली), जलेबी अथवा लूची, पुए[318] और श्रीखण्ड (शिखरिणी)[319] तथा तिलपपड़ी के नाम मिलते हैं।

अन्य व्यंजनों में ओदानपाक[320] (मीठे चावलों से तैयार किया भोजन), क्षीर[321] (खीर) शर्बत,[322] (शक्कर का रस) मुद्गमाशादि[323] मांसाहारी व्यंजन थे।

सत्तू[324] ठण्डा भात,[325] मन्थु (बेर का चूर्ण),[326] दलिया[327], ओसामन[328] अन्य लोकप्रिय आहार थे।

नारियल,[329] गन्ना,[330] खजूर और दाख[331] प्राय: खाये जाते थे। भोजन सुस्वाद बनाने के लिए विविध मसालों का प्रयोग किया जाता था।[332] लहसन[333] और मक्खन[334] भी इस हेतु से प्रयुक्त होते थे।

जौ का पानी,[335] कांजी का पानी[336] तथा पान-सुपारी[337] भोजन पचाने के लिए पीये और खाये जाते थे।

विविध आसव और प्रधान सुराओं के अन्तर्गत सुरा, सीधु, मधु, और मैरेयक आती थीं जो अति कसैली होती थीं।[338] जैन साधु के लिए मांस भक्षण व मद्यपान सर्वथा निषिद्ध था। जैनाचार में मदिरापान हेय दृष्टि से देखा जाता था। कर्मफल के प्रसंग में मृगापुत्र बताता है कि पूर्व जन्म में उसे मदिराएं प्रिय थीं यह याद दिला

कर उसे खून पिलाया गया था।[339]

जैन सूत्रों के संखासूत्रों में संखड़ियों (भोजों) का उल्लेख है जहां जीवों को मारकर उनके मांस को अतिथियों को परोसा जाता था।[340]

उत्तराध्ययनसूत्र[341] से ज्ञात होता है कि उस समय विवाह, प्रीतिभोज आदि पर मांस के विविध व्यंजन बनाये जाते थे। भगवान अरिष्टनेमि उग्रसेन की कन्या राजीमति से विवाह करने गये तो पाकशाला से आने वाले पशुक्रन्दन सुनकर वैरागी हो गये।

सूत्रकृतांग से ज्ञात होता है कि बौद्धों और हस्तितापसों के साथ शास्त्रार्थ करते हुए आर्द्रकुमार ने मांस-भक्षण को निन्दनीय बताया था।[342] जैन साधु के लिए मांस भक्षण सर्वथा निषिद्ध था। मांस-भक्षण की गणना उस पाप से की गयी है जिसके फल जन्म-जन्मानतर तक भोगने पड़ते हैं। अपने पूर्वजन्म के कर्मों का स्मरण करते हुए मृगापुत्र कहता है कि उसे शूल में पिरोया हुआ, टुकड़े-टुकड़े मांस प्रिय था यह याद दिलाकर उसके ही शरीर का मांस काटकर और लाल तपाकर उसे खिलाया गया। जलती हुई चर्बी खिलाई गयी।[343] यद्यपि ब्राह्मण परम्परा में मांस-भक्षण शास्त्रसम्मत था किन्तु यहां भी अन्य जीवों के प्रति इसे अपराध मानकर इसके प्राश्यचित का विधान था।[344]

सामान्य अवस्था

आगम काल में जनसामान्य की दशा सन्तोषजनक कही जा सकती है। सम्भवत: समाज में वर्गभेद विद्यमान था। जहां एक ओर धनिक विविध सुविधाओं और आनन्दों का उपभोग कर रहे थे वहीं निम्नवर्ग, जिसमें हीन शिल्पकार तथा कर्मकर थे, की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। समाज के वर्गों में ब्राह्मण, राजा, व्यापारी तथा जनसामान्य को पृथक दर्शाया गया है।[345] राजा वेणि के व्यक्ति व्यापारियों द्वारा आयातित बहुमूल्य वस्त्र पहनते थे।[346] गाड़ी, यान, झूले, पालकी, कोच, शिविका आदि का वह उपभोग करते थे।[347] शयन, आसन, पान, भोजन विभिन्न प्रकार के खाद्य और स्वाद्य पदार्थ जीवन की अतृप्ति को बढ़ा रहे थे।[348]

धनिक अपने आवासों को बहुमूल्य सुन्दर वस्त्रों के पर्दों[349] से सजाते थे तथा उनके गृह मनोहर स्त्रियों से आकीर्ण, माल्य और धूप से सुवासित होते थे तथा उनके किवाड़ श्वेत चन्दोवा से युकत बनाते थे।[350]

स्त्रियां अत्यन्त श्रृंगार प्रिय थीं। बाल उखाड़ने की चिमटी, कंघा, बालों को बांधने के फीते तथा दर्पण की चर्चा हमें जैन सूत्र में प्राप्त होती है।[351] दांतुन तथा झामों का उल्लेख वह अंगों को कान्तिमान बनाने के लिए करती थीं।[352] तैल मर्दन और दन्त प्रक्षालन का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[353]

विभिन्न आभूषण धारण करने के अतिरिक्त वह सिन्दूर, लाल, हरताल तथा सुरमे का प्रयोग सौन्दर्य प्रसाधन में करती थीं।[354] अंजन के लिए विशेष रूप से छोटी छोटी डिब्बी बनती थीं।[355]

बिछौने, पाट, पीड, आसन, पैर पौंछन के कम्बल, शैया, संस्तारक, बांहों की कुर्सी और बैठने वाली चौकी, पर्यंक आदि उनके आवासों को सजाने और जीवन को सुविधामय बनाने के उपकरण थे।[350] धनिकों की स्त्रियां आवागमन पालकी अथवा शिविका में करती थीं।[357] गाड़ी का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[358] नौका विहार[359] तथा रथ यात्रा[360] की भी चर्चा प्राप्त होती है। चमड़े के जूते पहनने[361] और धूम्रपान से भी समाज परिचित था।[362]

गन्ध और सुगन्ध का प्रयोग बहुतायत से होता था।[363] मनोरंजन के लिए नाट्य, गीत और वाद्य प्रमुख साधन थे।[364] उसके अतिरिक्त आख्यायिका, दण्डयुद्ध और मुष्टियुद्ध से भी जी बहलाया जाता था।[365] विविध उपहारों का आदान-प्रदान किया जाता था।[366]

सामान्यत: लोगों के पास चल और अचल दोनों प्रकार की सम्पत्ति होती थी।[367] यद्यपि जैन और बौद्ध धर्म अपरिग्रह और अहिंसा का वातावरण बना रहे थे किन्तु समाज में निवृत्ति के साथ-साथ प्रवृत्ति लक्षण भी विद्यमान था। संसार त्याग और नैष्यकर्म के उदात्त आदर्श यद्यपि चरितार्थ होने लगे थे किन्तु सृजन और उपयोग की प्रवृत्ति लक्षण परम्परा क्षीण नहीं हुई थी। समाज में अब भी यज्ञों की परम्परा थी जिसमें यूप, यज्ञ स्तम्भ, काण्ड[368] और कण्डे[369] की अग्नि का उपयोग होता था। ऐसे धनिक भी समाज में विद्यमान थे जो दस लाख गायों को दान में देते थे।[370] वहीं दूसरी ओर जुआरी, चोर, शठ, गिरहकट, लुटेरे और बटमार मार्गों में लूट करते थे।[371] अत: यात्रा सुरक्षित न थीं।

पुरुष तथा स्त्री दास रखना समाज में सम्पन्नता का चिन्ह माना जाता था।[372] नैतिकता की बारम्बार दुहाई देने पर भी समाज में रिश्वत, धोखा, छल, कपट, षड्यन्त्र और बेईमानी का उतना ही बोलबाला था।[373]

समाज के निम्नवर्ग की दशा उल्लेखनीय रूप से शोचनीय थी। यद्यपि महावीर और बुद्ध ने बड़ी सहानुभूतिपूर्वक इनके उत्थान का प्रयास किया था।

चाण्डालों को बड़ी घृणा से देखा जाता था और उनकी बस्ती नगर से बाहर बनाई जाती थी।[374] चण्डाल और बोक्कस श्मशान पर कार्य करते थे।[375] दासों की दशा भी बहुत खराब थी। समाज का एक बड़ा धनिक वर्ग अपने ही समान मानव को दास[376] बनाकर उसका शोषण कर रहा था।

दास और कार्मिक खेतों पर काम करते थे। दास को कोई वेतन नहीं मिलता था जबकि भोगिल्ल अर्थात् कर्मकार को वेतन के रूप में उपज का छठा भाग मिलता था। दास और भाड़े के श्रमिक खेतों के छोटे-छोटे टुकड़ों में कार्य करते

थे।[377] आगम काल में गंगा के निचले मैदानों में लोहे के फाल के कारण बड़े बड़े खेत बने। एक एक परिवार के पास इतनी भूमि आ गई जिसे वह स्वयं नहीं जोत सकता था। अत: सम्पन्न घरों की खेती चलाने के लिए दासों और कम्मकरों की आवश्यकता पड़ी। किन्तु इन दासों और कम्मकरों की दशा बड़ी हेय थी। जैनग्रन्थों में दासों, नौकरों पेस्स और भारवाहक पशुओं को एक ही कोटि में रखा गया है।[378]

जैन स्रोतों से ज्ञात होता है कि भृतक चार प्रकार के होते थे[379]—

(1) **दिवसभयग**—जो दैनिक मजदूरी पर काम करते थे।
(2) **जातभयग**—जो यात्रा भर के लिए रखे जाते थे।
(3) **उच्चताभयग**—निर्णीत समय पर काम पूरा करने के लिए घण्टों के हिसाब से ठेके पर रखे जाते थे।
(4) **कबाल भयग**—भूमि खोदने वाले जिन्हें किये काम के अनुपात में भुगतान किया जाता था।

जैनग्रन्थों से ज्ञात होता हे कि प्रेष्यों, दूत या नौकर को छड़ी मार-मार कर काम करने के लिए कहा जाता था।[380] जब निर्दोष कामगारों की यह दशा थी तब अपराधियों की दशा कैसी रही होगी? सूत्रकृतांग से ज्ञात होता है कि श्रमजीवियों के छोटे-छोटे अपराध के लिए भी उन्हें अत्यन्त कठोर दण्ड दिये जाते थे। कोई व्यक्ति अपने आश्रितों को छोटे-छोटे अपराध के लिए भी कठोर दण्ड दे सकेगा अर्थात् उसके बाल नोचेगा, उसे पीटेगा या लोहे के शिकंजों में और बेड़ियों में जकड़ देगा। काठ में उसके पांव ठोक देगा, उसे कारा में बन्द कर देगा। उसके हाथ पांव को कड़ी में जकड़ देगा, उन्हें तोड़ देगा या शरीर के किसी भी अंग को काट देगा।[381] उसकी टांगें चीर देगा, आंखें और दांत निकाल लेगा, उसे रस्सी से लटका देगा।[382] उसके ऊपर घोड़े दौड़ा देगा, चाक पर घुमा देगा, सूली पर चढ़ा देगा, उसे चीर देगा, उसके घावों पर तेजाब उंडेल देगा, गंडासे से काट देगा, किसी भी प्रकार की भीषण मृत्यु का शिकार बना देगा।[383]

खेती में श्रम की आवश्यकता केवल बड़े-बड़े कृषकों और गृहपतियों को ही नहीं थी बल्कि साधारण गृहस्थों को भी एकाध दास अथवा कर्मकर की जरूरत होती थी। कृषकों के कर देने के कारण महाजनपदों अथवा बड़े राज्यों का जन्म हुआ जिनकी सेवा और घरेलू काम के लिए भी दासों और कर्मकरों की आवश्यकता थी। राजाओं के हथियार बनाने के लिए और कृषकों के हथियार बनाने के लिए खेतिहर मजदूर और शिल्पी लगाये जाने लगे। उन्हें अपने श्रम के अनुरूप पारिश्रमिक नहीं मिलता था और उनके श्रम का प्रतिफल विशेष रूप से

स्वामी को मिलता था। अब प्रश्न उठता है कि क्या उत्पादन वृद्धि ही हित वृद्धि है। पहले तो उत्पादित पण्यों का वितरण कैसा है यह प्रश्न प्रासंगिक है। विभिन्न व्यक्तियों, वर्गों और समाजों में किस अनुपात से धन का वितरण होना चाहिए इसका निर्णय केवल आर्थिक निर्णय नहीं है। वितरण का प्रश्न सामाजिक न्याय के साथ उतना ही बंधा है जितना कि उत्पादकों के कार्यकौशल के साथ। प्रविधि का विकास तथा उपभोग मानव श्रम से सिक्त और प्रकृति के गर्भ के सीमित उपादानों का व्यय करके ही सम्पन्न होता है।

निष्कर्षत: आगमकाल में जनसामान्य की आर्थिक स्थिति खराब नहीं कही जा सकती। देश धनधान्य से समृद्ध था। व्यापार विकसित थे। विलासिता के सभी साधन उपलब्ध थे। उच्चवर्ग का जीवन आनन्दमय था। मध्यमवर्ग की जीवनशैली भी सुखमय थी किन्तु निम्न वर्ग की अवस्था शोचनीय कही जा सकती है। अनेक प्रकार के शिल्प करके भी उनका जीवन शोषण का शिकार था। इस दृष्टि से विचारणीय है कि भौतिक विकास केवल उपभोग का विकास नहीं है अपितु मानवीय ऐश्वर्य, अवकाश और सुविधाओं का भी विकास है। इस प्रकार यह मनुष्य को स्थूल अपेक्षाओं और कर्मों की दासता से मुक्त कर उसे इस बात का अवकाश प्रदान करता है कि वह आत्मोचित जीवन की प्राप्ति के लिए प्रयास कर सके। इसमें स्नदेह नहीं कि ऐसी आर्थिक स्थिति जो मनुष्य को दासता, कृषि दासता और मजदूरी की घोर दरिद्रता और सिर्फ दूसरे के लिए कमर तोड़ परिश्रम में नाथे हुए पशुजीवन से उबारती है और उसे आराम, अवकाश, स्वतन्त्रता और सामाजिक समानता देती है। अवश्य ही अमानवीय हित की अवस्था मानी जानी चाहिए।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. मुनि नथमल, जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ० 9।
2. उत्तराध्ययन, 7/1: सूत्रकृतांग, 2/2/63: उत्तराध्ययन, 9/49।
3. उत्तराध्ययन, 15/13।
4. सूत्रकृतांग, 2/2/63।
5. उत्तराध्ययन, 7/7।
6. वही, 12/43-44: 7/1: आयारो, 9/4/4।
7. सूत्रकृतांग, 2/2/63।
8. आयारो, 9/4/13।
9. कल्पसूत्र, 1/4/63।
10. आयारो, 9/4/4 : सूत्रकृतांग, 2/2/11।
11. सूत्रकृतांग, 2/2/63।
12. वही।

13. उत्तराध्ययन, चन्दनाजी, 36/97-99।
14. वही, 8/2 पृ० 67।
15. वही, 9/49, पृ० 81।
16. वही, 36/94, पृ० 394।
17. वही, 36/95।
18. वही, 36/97।
19. वही, 36/98।
20. वही, 39/99।
21. आचारांग, 2/7/2/6 एस०बी०ई०, पृ० 175।
22. उत्तराध्ययन, 36/96।
23. सूत्रकृतांग, 1/2/1/6 : उत्तराध्ययन, 36/95।
24. वही, 36/94-95 : आयारो, 1/6/19-20।
25. उत्तराध्ययन, 36/95।
26. वही, 34/12।
27. वही, 34/13।
28. वही, 34/19।
29. सूत्रकृतांग, 2/2/63।
30. आचारांग, 2/5/1।
31. कल्पसूत्र, 1/4/63।
32. सूत्रकृतांग, 2/6/27।
33. वही, 2/6/37।
34. उत्तराध्ययन, 34/12/13।
35. उत्तराध्ययन सूत्र, 19/53।
36. वही, 11/18।
37. सूत्रकृतांग, 1/4/2/12।
38. निशीथसूत्र, 9/7।
39. आचारांग, 2/1/8: 1-4: 2/1/9, 14, 15: उत्तराध्ययन, 19/17।
40. आचारांग, 2/1/8/5।
41. उत्तराध्ययन, 12/43-44 मंथु की चर्चा बेर के विरचन चूर्ण के रूप में हुई है।
42. कल्पसूत्र एस०बी०ई०, 1/4/2/5।
43. सूत्रकृतांग, 1/4/2/10।
44. उत्तराध्ययन, 36/95-99।
45. कल्पसूत्र, 1/4/63।
46. आचारांग, एस०बी०ई० 1/1।6, पृ० 10।
47. वही, 2/2/21।
48. उत्तराध्ययन, 34/6।
49. वही, 34/9 : कल्पसूत्र, पृ० 235।
50. सूत्रकृतांग, 2/2/70 : 1/6/22।
51. उत्तराध्ययन, 34/19।
52. वही, 10/28।

53. सूत्रकृतांग, 1/4/2/7।
54. वही, 2/2/7।
55. उत्तराध्ययन, 2/1।
56. वही, 10/27।
57. वही, 19/52।
58. वही, 34/4।
59. वही, 34/6।
60. वही।
61. वही, 34/9।
62. वही, 34/8।
63. वही।
64. वही, 34/10।
65. वही।
66. वही।
67. सूत्रकृतांग, 1/5/2/23।
68. वही, 1/6/19।
69. आयारो, 1/6/1/6।
70. सूत्रकृतांग, 1/3/3/15।
71. आचारांग, 2/1/8/6।
72. वही, 2/1/8/3
73. वही।
74. वही, 2/1/8/3।
75. वही, 2/1/8/6।
76. वही, 2/1/8/7।
77. वही।
78. वही, 2/1/8/5।
79. वही।
80. वही।
81. वही, 2/2/29।
82. कल्पसूत्र एस०बी०ई० पृ० 263 120।
83. आचारांग, 2/1/8/9।
84. इसके नकली फूल बनाये जाते थे। आचारांग, 2/2/3/18।
85. सूत्रकृतांग, 2/2/7। आचारांग में इसे मोक्ष वृक्ष या मुष्काक कहा गया है।
86. वही, 2/2/7-11।
87. वही, 2/3/18। इनके नाम प्राकृत में दिये गये हैं।
88. वही, 2/3/16। यह नाम भी प्राकृत में ही हैं।
89. आयारो, 9/2/2।
90. उत्तराध्ययन, 19/66, 67।
91. सूत्रकृतांग, 1/4/2/6।
92. वही, 1/4/2/9।

93. वही, 1/4/2/17।
94. वही, 1/7/13।
95. वही, 1/4/2/12।
96. कल्पसूत्र, 1/3/6/8।
97. उत्तराध्ययन, 20/45।
98. सूत्रकृतांग, 1/5/1/9।
99. वही, 2/2/48।
100. वही, 2/2/76।
101. उत्तराध्ययन, 30/16।
102. सूत्रकृतांग, 2/2/28।
103. वही, : उत्तराध्ययन, 14/36।
104. सूत्रकृतांग, 1/4/2/8 : 10।
105. वही, 1/4/2/14-15।
106. उत्तराध्ययन, 2/35।
107. आयारो, 9/2/8
108. सूत्रकृतांग, 2/2/28।
109. वही, 1/5/2/4
110. कल्पसूत्र एस०बी०ई०, पृ० 253।
111. वही, पृ. 282 211। जैकोबी की टिप्पणी नं. 2।
112. वही।
113. आयारो, 2/2/9।
114. उत्तराध्ययन, 5/14।
115. आयारो, 9/2/8
116. उत्तराध्ययन, 20/45।
117. कल्पसूत्र, पृ० 248 8/9।
118. वही, 15/7,8।
119. वही, 17/18।
120. सूत्रकृतांग, 2/2/79।
121. उत्तराध्ययन, 20/22।
122. वही, 19/79: 20/23: सूत्रकृतांग, 2/1/49।
123. आयारो, पृ० 57 तथा 64।
124. उत्तराध्ययन, चन्दनाजी, 19/52, 54, 56, 62, 66।
125. वही, 19/50।
126. वही, 36/73: औपपातिक सूत्र, 38, पृ० 173।
127. सूत्रकृतांग, 4/2/63।
128. आयारो, पृ० 241।
129. उत्तराध्ययन, 1/26।
130. वही, 19/67।
131. वही, 35/4।
132. वही, 32/52।

133. वही, 9/22।
134. वही, 9/60।
135. वही, 10/21।
136. वही, 11/23।
137. वही, 19/55।
138. वही, 19/56।
139. वही।
140. वही, 19/61।
141. वही, 19/62।
142. वही, 19/64।
143. वही, 19/66।
144. वही, 22/11।
145. सूत्रकृतांग, 1/5/1/8, 9 : 1/5/2/2, 3।
146. उत्तराध्ययन, 29/59।
147. सूत्रकृतांग, 2/2 : 62।
148. उत्तराध्ययन, 30/17।
149. वही, 12/44।
150. वही, 34/18।
151. सूत्रकृतांग, 2/2/18।
152. वही, 2/2/26।
153. वही, 2/2/66।
154. वही, 1/4/2/11।
155. वही, 1/4/2/12।
156. वही, 2/2/76।
157. वही, 1/4/2/15।
158. वही, 2/2/76।
159. वही, 2/2/72।
160. वही, 2/2/62।
161. वही, 1/4/2/12।
162. वही, 1/4/2/13,14।
163. उत्तराध्ययन, 15/8।
164. सूत्रकृतांग, 1/4/2/12।
165. उत्तराध्ययन, 26/21।
166. सूत्रकृतांग, 2/2/76।
167. वही, 2/2/80।
168. उत्तराध्ययन, 13/14।
169. सूत्रकृतांग, 2/2/55।
170. वही, 1/4/2/7।
171. वही, 2/2।
172. आचारांग एस०बी०ई०, 2/2/1/1/2 पृ० 183।

173. कल्पसूत्र एस०बी०ई०, पृ० 253-54 102।
174. आचारांग, 2/5/1/5।
175. कल्पसूत्र, 1/4/63।
176. वही।
177. वही।
178. आचारांग, 2/5/1/6।
179. वही, 2/5/1/4।
180. उत्तराध्ययन, 19/56।
181. आचारांग, II 25 आत्मारामजी पृ० 13388 दीक्षा के पूर्व भगवान श्रमण महावीर को नासिका की वायु से हिलने वाले विशिष्ट नगरों में निर्मित, कुशल कारीगरों से स्वर्णतार के बने हुए हंस के समान श्वेत वस्त्र पहनाये गये।
182. शेर, चीता, तेंन्दुआ, गाय और हरिण की खाल से बने वस्त्र द्र० आचारांग सूत्र एस०बी०ई० जि० 22, II 5/1/3-6 पृ० 157-58।
183. निशीथसूत्र, 7/12 की चूर्णि के अनुसार तोसाली देश में बकरों के खुरों में लगी हुई शैवाल से वस्त्र बनाये जाते थे।
184. निशीथ चूर्णि के अनुसार काक देश में होने वाले काकजंघा नामक पौधे के तन्तुओं से बनाये जाते थे।
185. आचारांग के टीकाकार के अनुसार यह वस्त्र गौड़ देश में उत्पन्न एक विशेष प्रकार की कपास से बनते थे।
186. अर्थशास्त्र, 2/11/29/112 के अनुसार यह मगध पुण्ड्रक तथा सुवर्ण कुड्यक इन तीन देशों में उत्पन्न होता था।
187. आचारांग के टीकाकार शीलांक ने इसका अर्थ ऊंट की खाल से बने वस्त्र से किया है।
188. परिमुज्जमाणा कड-कडेंति, निशीथ चूर्णि, 7।
189. यह वस्त्र बकरे अथवा चूहे के बालों से बनता था।
190. आचारांगसूत्र एस०बी०ई० जि० 22, II 5/1 पृ० 158।
191. वही।
192. आचारांग आत्माराम जी, ii पृ० 1388।
193. वही, एस०बी०ई० जि० 22, ii 5/1/5।
पत्रिक चंदलेहिकस्वस्तिकघंटिकमौक्तिक मादी हि मंडिता—निशीथ चूर्णि।
194. निशीथचूर्णि
195. वही, अनुयोगद्वार सूत्र 37 में कौटज वस्त्रों के पांच भेद बताये गये हैं—पट्ट, मलय, अंसुग, चीनांसुय और किमिराग। टीकाकार के अनुसार किसी जंगल में संचित किये हुए मांस के चारों ओर एकत्रित कीड़ों से पट्ट वस्त्र बनाये जाते थे। मलय वस्त्र मलयदेश में होता है। अंशुक चीन के बाहर तथा चीनांशुंक चीन में होता है। अंशुक कोमल तंतुओं से बना रेशम है जबकि चीनांशुक कोआ रेशम या चीनी रेशम से बनता है। रेशम को महाभारत में कीटज कहा गया गया है जो चीन या बाहलीक से आता है। मैकन्डल के अनुसार कच्चा रेशम एशिया के आन्तरिक मार्गों में तैयार किया जाता था। द्र० ए०एन० उपाध्ये, बृहत्कथा कोष की प्रस्तावना, पृ० 88।
196. आचारांग सूत्र, ii, 15/20।
197. राजप्रश्नीय 43 पृ० 100। द्र० कल्पसूत्र एस०बी०ई० जि० 22, पृ० 252-56।

198. राजा श्रेणिक के पास अट्ठारह लड़ीवाला सुन्दर हार था।—आवश्यकचूर्णि-2, पृ० 170: आचारांग आत्माराम जी, ii 2/170, कन्या के विवाह अवसर के अलंकरण।
199. वही, निशीथ सूत्र, 7/7।
200. कल्पसूत्र एस०बी०ई० जि० 22, 4/62 पृ० 243 औपपातिक सूत्र 31।
201. आयारो, पृ० 83।
202. ज्ञातृधर्म कथा, 1, पृ० 30।
203. राजप्रश्नीय सूत्र, 137।
204. कल्पसूत्र, एस०बी०ई० जि० 22, 3/36 पृ० 233।
उत्तराध्ययन, चन्दना, 6/5 : 9/60, पृ० 83।
205. उत्तराध्ययन, 9/60।
206. वही।
207. वही, 20/10।
208. वही, 20/20।
209. वही, 34/9।
210. सूत्रकृतांग, 2/2/52।
211. वही, 1/4/2/7।
212. कल्पसूत्र एस०बी०ई०, पृ० 223 15।
213. सूत्रकृतांग, 2/2/74।
214. कल्पसूत्र, 4/36, पृ० 232।
215. वही, 1/3/38।
216. उत्तराध्ययन, 19/4।
217. वही चन्दना जी, 9/46।
218. वही, 6/5: 8/17: 9/46, 49, 60: 19/68 आयारो, पृ० 83।
219. ज्ञातृधर्मकथा, 17 पृ० 202।
220. उत्तराध्ययन सूत्र 36/74 : सूत्रकृतांग 2/4/61 : 1/4/2/7 : 1/7/13।
221. सूत्रकृतांग, 2/3/36: उत्तराध्ययन, 36/76।
222. सूत्रकृतांग, 2/3/35/2।
223. उत्तराध्ययन 34/7: 36/72-74।
224. सूत्रकृतांग, 2/8/80।
225. उत्तराध्ययन, 9/46, 48 : सूत्रकृतांग, 2/2/68: कल्पसूत्र, पृ० 252, 98
226. उत्तराध्ययन, 19/68: सूत्रकृतांग, 2/3/36: 2/2/70,80।
227. सूत्रकृतांग, 2/3/36, पृ० 397।
228. वही, 2/3/35/2।
229. वही, 2/3/36।
230. उत्तराध्ययन, 36/75।
231. सूत्रकृतांग, 2/2/47, 62 : उत्तराध्ययन, 34/9।
232. कल्पसूत्र, पृ० 249, 90।
233. वही, पृ० 235, 238 व 241।
234. आचारांग एस०बी०ई०, 2/2/1, पृ० 123 जैकोबी इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि टीकाकार हिरण्य का अर्थ अपरिष्कृत स्वर्ण से लेते हैं जबकि सुवर्ण परिष्कृत स्वर्ण था।

जैकोबी हिरण्य का अर्थ सोने चांदी की धातु से तथा सुवर्ण गहने या सिक्कों से लगाते हैं। —तुल० उपासकदशांग, वैद्य 1, पृ० 6।

235. निशीथसूत्र, 5/35।
236. उत्तराध्ययन, 20/42 कार्षापण को कूट भी कहा गया है। यह राजा बिम्बसार के समय से राजगृह में प्रचलित था। अपने संघ के नियम बनाते समय बुद्ध ने इसे मानक रूप में स्वीकार किया था। यह सोने चांदी और ताम्बे का होता था। द्र० बौद्धग्रन्थ सामन्तपासादिका, 2, पृ० 297।
237. उत्तराध्ययन, 8/17।
238. सूत्रकृतांग एस०बी०ई०, 2/2/62 पृ० 374 रूपक रूपये के लिए प्रयुक्त होता था।
239. उत्तराध्ययन, 8/17।
240. यह यूनान की मुद्रा थी जिसे यूनानी भाषा में द्रख्म कहा जाता था। उल्लेखनीय है कि यूनानियों का भारत के कुछ प्रदेशों पर ई० पू० दो सौ से लेकर दो सौ ई० तक शासन रहा था।
241. ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में कुषाण काल में प्रचलित रोम के डिरेनियस नामक सिक्के से यह शब्द लिया गया प्रतीत होता है। कल्पसूत्र एस०बी०ई०, पृ० 233।
4/36 की व्याख्या करते हुए जैकोबी अनुमान लगाते हैं कि दीनार शब्द का प्रयोग यूनानी शब्द के अनुकरण पर ही है जो यह इंगित करता है कि कल्पसूत्र के इस भाग का संकलन बहुत बाद में किया गया था।
242. ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में कुषाण काल में प्रचलित रोम के डिरेनियस नामक सिक्के से यह शब्द लिया गया प्रतीत होता है। कल्पसूत्र एस०बी०ई०, पृ० 233 4/36।
243. उत्तराध्ययन, 7/11 यह एक प्रकार का छोटा सिक्का था जिसे रूपये का आठवां भाग कहते हैं।
244. वही, 7/14।
245. आयारो, 2/18।
246. जलपोत पर व्यापारी—उत्तराध्ययन, 14/37।
247. उत्तराध्ययन, 6/5, 34/16: सूत्रकृतांग, 2/2/26, 1/3/2।
248. उत्तराध्ययन, 27/4: 10/20: सूत्रकृतांग, 2/2/70: कल्पसूत्र, पृ० 235।
249. उत्तराध्ययन, 7/7।
250. वही, 7/1।
251. सूत्रकृतांग, 2/2/45।
252. उत्तराध्ययन, 34/16: आयारो, 9/2/7।
253. यह सिन्ध के जानवर थे जिनकी खाल से फर बनता था—द्र० आचारांग एस०बी०ई०, 2/5/1/5।
254. वही, 1/1/7/5।
255. उत्तराध्ययन, 6/5, 18/2: सूत्रकृतांग, 2/2/26।
256. वही, 6/5: 18/2 : वही, 2/2/10।
257. वही, 13/6 : वही, 2/2/10।
258. वही, 32/13: वही, 2/6/43।
259. उत्तराध्ययन, 36/108।
260. वही, 10/16/18, 20-21: 19/63: 32/89।

261. सूत्रकृतांग, 2/2/70।
262. वही, 1/2/3/5।
263. वही, 1/3/3/19 : 1/5/2/10।
264. वही, 1/7/15।
265. आचारांग, 2/5/1/5।
266. कल्पसूत्र, 1/4/63 पृ० 236।
267. आयारो, 1/1/7/164।
268. उत्तराध्ययन, 36/188।
269. उत्तराध्ययन, 13/6: 14/26: 14/36, 46, 47: 19/58।
270. वही, 19/58 : सूत्रकृतांग 1/12/27।
271. उत्तराध्ययन, 19/65।
272. वही, 32/6।
273. वही, 34/4।
274. वही।
275. वही, 34/6।
276. वही, 34/7।
277. सूत्रकृतांग, 2/2/10।
278. वही, 2/2/26।
279. उत्तराध्ययन, 19/5: सूत्रकृतांग 2/12/26 : 1/5/2/7।
280. सूत्रकृतांग, 2/2/70।
281. वही, 1/4/1/12।
282. वही, 1/5/2/9।
283. वही, 1/12/27-28।
284. आयारो, 1/5/1/74।
285. कल्पसूत्र एस०बी०ई०, पृ० 239।
286. वही, पृ० 241।
287. वही।
288. वही, पृ० 235-36।
289. आयारो, 8/8/17।
290. उत्तराध्ययन, 3/4: आयारो, 9/2/7 : 1/6/1/106।
291. आयारो, 9/2/7।
292. सूत्रकृतांग, 2/2/56।
293. कल्पसूत्र एस०बी०ई०, पृ० 305: आयारो, 1/6/1/106।
294. उत्तराध्ययन, 3/4।
295. वही, 36/128, 129।
296. वही, 36/137, 138।
297. वही, 36/146-148।
298. वही, 36, 172।
299. सूत्रकृतांग, 2/3/25।
300. आयारो, 1/6/1/6।

301. उत्तराध्ययन, 19/64, 22/6।
302. वही, 14/35।
303. कल्पसूत्र, 1/4/63।
304. वही, पृ० 237।
305. उत्तराध्ययन, 14/35: 19/64।
306. सूत्रकृतांग, 2/2/63।
307. वही, 1/6/1/12।
308. उत्तराध्ययन, 36/181।
309. सूत्रकृतांग, 2/3/24: जैकोबी की टिप्पणी नं० 4, पृ० 394 एस०बी०ई०।
310. ठाणं, लाडनूं संस्करण, 4/288 पृ० 365 : निशीथसूत्र, 1/6।
311. सूत्रकृतांग, 1/2/5/164।
312. वही, तुल० दशवैकालिक, 5/1/97।
313. आयारो, 1/2/18: तुल० उत्तराध्ययन, 30/26।
314. उत्तराध्ययन, 13/18: 12/43-44: 17/15।
315. वही, 7/7: 19/69-70: सूत्रकृतांग 2/2/72।
316. उत्तराध्ययन, 34/15, 19।
317. आचारांग एस०बी०ई० 2/1/5/4।
318. वही।
319. वही।
320. वही, 2/1/2/5 पृ० 93।
321. उत्तराध्ययन, 34/15।
322. वही।
323. भेड़िये के मांस से बना मटन, उत्तराध्ययन, 7/3।
324. आयारो, 9/4/4।
325. वही, 9/4/13।
326. वही, 12/43-44।
327. सूत्रकृतांग, 2/2/72 : 2/3/21।
328. उत्तराध्ययन, 15/13।
329. वही, 36/96: सूत्रकृतांग, 1/2/1/6।
330. आचारांग, 2/7/2/6 पृ० 175।
331. उत्तराध्ययन, 34/15।
332. सूत्रकृतांग, 2/1/55।
333. आचारांग, 2/7/2/6।
334. उत्तराध्ययन, 34/19।
335. वही, 15/13।
336. वही।
337. सूत्रकृतांग, 1/4/2/12।
338. उत्तराध्ययन, 19/34/14।
339. वही, द्र० कल्पसूत्र, 9/17।
340. संखण्डयन्ते विराधयन्ते प्राणिनो यत्र सा संखडि—अर्थात् जहां अनेक जीवों के प्राणों का

नाश करके भोजन तैयार किया जाता है। आचारांग आत्माराम जी महाराज द्वि० श्रु० अ०-1, उद्देशक 2, पृ० 780-82।

341. उत्तराध्ययन एस०बी०ई०, 22/14-22, पृ० 114-15।
342. सूत्रकृतांग एस०बी०ई० भाग-2, 2/6/37-41, पृ० 416।
343. उत्तराध्ययन साध्वी चन्दना जी, 19/69-70 पृ० 195।
344. आपस्तम्बधर्मसूत्र, 9/25/13: बौधायनधर्मसूत्र, 10/19/6।
345. सूत्रकृतांग, 1/2/1/5।
346. वही, 1//3/2/3।
347. वही, 2/2/62।
348. वही, 15/11।
349. वही, 15/8।
350. वही, 35/4।
351. वही, 1/4/2/11: उत्तराध्ययन, 20/30 यह चिमटी सम्भवत: स्त्रियों द्वारा अपनी भौंहों को सुन्दर आकार देने के काम में आती थी।
352. सूत्रकृतांग, 1/4/2/10-11।
353. आयारो, 9/4/2।
354. सूत्रकृतांग, 2/3/352: 2/1/49।
355. वही, 1/4/2/7।
356. उत्तराध्ययन, 17/7, 23/4: सूत्रकृतांग, 2/2/72-74।
357. वही, 2/2/62।
358. वही, 1/5/2/3।
359. उत्तराध्ययन, 23/70।
360. सूत्रकृतांग, 2/2/48।
361. वही, 18/2।
362. उत्तराध्ययन, 15/8।
363. वही, 32/52, 12/36: सूत्रकृतांग, 1/4/2/6।
364. वही, 13/14।
365. आयारो, 9/1/9।
366. वही, 2/5/104।
367. उत्तराध्ययन, 6/5।
368. वही, 12/39।
369. वही, 12/43।
370. वही, 9/47।
371. वही, 5/16, 7/5, 9/28।
372. सूत्रकृतांग, 2/7/2।
373. वही, 2/2/62।
374. उत्तराध्ययन, 13/18।
375. वही, 3/4।
376. वही, 3/17, 6/5।
377. सूत्रकृतांग, 2/2/72।

378. सूयगडम्, पी०एल०वैद्य, ii, 1/13।
379. वही-i, 4/2/18।
380. ठाणांग, 4/147।
381. सूयगडम्, 5/2/5।
382. सूत्रकृतांग एस०बी०ई० पृ० 374-75 की पाद टिप्पणी।
383. सूयगडम् ii, 2/20 द्र० शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० 100-101।

आधारभूत ग्रन्थ

मूल जैन ग्रंथ

आयारांग (आचारंग)

निर्युक्ति, भद्रबाहु

चूर्णी, जिनदासगणि, रतलाम, 1941।

टीका, शीलांक, सूरत 1935।

अंग्रेजी अनुवाद, हर्मन जैकोबी, सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, जि० 22, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1973।

आयारो, वाचनाप्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक विवेचक मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूं, राजस्थान वि. सं० 2031।

श्री आचारांग सूत्र, आत्माराम जी महाराज, जैनागम प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना, भाग-1, 1963 भाग-2, 1964।

आचारांगसूत्र, संयोजक एवं प्रधान सम्पादक युवाचार्य श्री मधुकरमुनि, मूल, अनुवाद, विवेचन, टिप्पण और परिशिष्ट युक्त श्री आगम प्रकाशन समिति, जैन स्थानक पीपलिया बाजार, ब्यावर, राजस्थान।

सूत्रकृतांग (सूयगडंग)

निर्युक्ति, भद्रबाहु।

चूर्णि, जिनदासगणि, रतलाम, 1941।

टीका, शीलांक, आगमोदय समिति. बम्बई 1917।

अंग्रेजी अनुवाद, हर्मन जैकोबी, सैक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, जि० 45, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली 1973।

सूत्रकृतांग, व्याख्याकार हेमचन्द्र जी महाराज, सम्पादक अमरमुनि, आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी, पंजाब, 1981।

उत्तराध्ययन—(उत्तरज्झयण)

निर्युक्ति, भद्रबाहु

चूर्णी, जिनदासगणि, रतलाम 1933।

टीका, शान्तिसूरि, बम्बई, 1916।

टीका, नेमिचन्द्र, बम्बई, 1937।

अंग्रेजी अनुवाद हरमन जैकोबी, सैक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट जि० 45, मोतीलाल बनारसी

दास, नई दिल्ली, 1974।
उत्तराध्ययन सूत्र, सम्पादन, जार्ल शार्पेन्टियर, अजय बुक सर्विस, दिल्ली, 1980।
दशवैकालिक उत्तराध्ययन, सम्पादक मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूं, राजस्थान वि०स० 2031।
उत्तराध्ययन सूत्र, साध्वी श्री चन्दना, वीरायतन प्रकाशन, आगरा-2, 1972।
उत्तरज्झयणाणि सानुवाद
(ii) उत्तरज्झयणं सटिप्पण वाचनाप्रमुख आचार्य श्री तुलसी सम्पादक, मुनि नथमल, आगम अनुसंधान ग्रन्थमाला भाग-2, 3 जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता-1, 1963।
उत्तराध्ययन सूत्र, के०सी० ललवाणी, कलकत्ता-6।

अन्य जैनागम

अनुयोगद्वार सूत्र, आर्यरक्षितकृत
चूर्णी, जिनदासगणि, रतलाम, 1928।
टीका, हरिभद्र, रतलाम, 1928।
टीका, मलधारी हेमचन्द्र, भावनगर, 1939।

अन्तःकृद्दशा (अन्तगडदसाओ)
सम्पादन, पी०एल० जैन, पूना, 1932।
टीका, अभयदेव, एम०सी० मोदी, अहमदाबाद, 1932।
अंग्रेजी अनुवाद, एल० डी० बार्नेट, लन्दन, 1907।

आवश्यक (आवस्सय)
निर्युक्ति, भद्रबाहु।
भाष्य
चूर्णी, जिनदासगणि, रतलाम, 1928।
टीका, हरिभद्र, आगमोदय समिति, बम्बई, 1916।
टीका, मलयगिरि, बम्बई, 1928।

उपासकदशा (उवासगदसाओ)
सम्पादन, पी०एल० वैद्य, पूना, 1930।
टीका, अभयदेव।
अंग्रेजी अनुवाद, होर्नेल, कलकत्ता, 1888।

कल्पसूत्र
अंग्रेजी अनुवाद, हरमन जैकोबी, सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट जि० 22, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1973।

ज्ञातृधर्मकथा (नायाधम्मकहा)
टीका, अभयदेव आगमोदय समिति, बम्बई, 1919।
सम्पादन, पी०एल०वैद्य, पूना, 1940।

दशवैकालिक उत्तराध्ययन
सम्पादक मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूं, विक्रम सम्वत् 2031।

निशीथ (निसीह)
निशीथ एक अध्ययन, उपाध्याय कवि अमरमुनि और मुनि कन्हैयालाल, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1957-1960।

प्रज्ञापना (पण्णवणा)

टीका, मलयगिरि, बम्बई, 1918-19।
प्रश्न व्याकरण (पण्हवागरण)
टीका, अभयदेव, बम्बई, 1919।
बृहत्कल्प
भाष्य, संघदासगणि
टीका, मलयगिरि और क्षेमकीर्ति, पुण्यविजय, आत्मानन्द, जैन सभा, भावनगर, 1933-38।
भवगती
टीका, अभयदेव, आगमोदय समिति, बम्बई, 1921, रतलाम, 1937।
भगवती सूत्र, के० सी० ललवाणी, भाग-1, 2 जैन भवन, कलकत्ता, 1973, 1974।
स्टडीज इन दी भगवतीसूत्र, सिकदार, जे०सी०, रिसर्च इंस्टीट्यूट प्राकृत एण्ड अहिंसा, मुजफ्फरपुर, बिहार, 1964।
व्यवहार
भाष्य टीका, मलयगिरि, भावनगर, 1926।
विपाकसूत्र (विवागसूय)
टीका, अभयदेव, बड़ौदा, वि०सं० 1922।
व्याख्या प्रज्ञप्ति
टीका, अभयदेव, आगमोदय समिति, बम्बई, 1921, रतलाम, 1937।
स्थानांग (ठाणांग)
टीका, अभयदेव, अहमदाबाद, 1937।
ठाणं, मुनि श्री नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूं, राजस्थान वि० सं० 2033।

अंगबाह्य जैन ग्रन्थ

1. आचारसार, सिद्धान्त, चक्रवर्ती वीरनन्दि, शोलापुर, वीरनिर्वाण सं० 2462।
2. अमितगति श्रावकाचार, अमितिगति, बम्बई, 1963।
3. अनागार धर्मामृत, आशाधर, बम्बई, 1919।
4. प्रवचन सारोद्धार, नेमिचन्द्र, बम्बई, 1922-26।
5. प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, भाग-1, भावनगर, सन् 1978।
6. वृहत्कथाकोष, हरिषेण, ए०एन० उपाध्ये, बम्बई, 1943।
7. भवगती आराधना अथवा मूलाराधना, शिवकोटि, भाष्य अपराजितसूरि तथा आशाधर, देवेन्द्र कोर्ति ग्रन्थमाला, शोलापुर, 1935।
8. मूलाचार, दो भाग, वट्टकेराचार्य, भाष्य वसुनन्दि, बम्बई, वि०सं० 1977-80।
9. नियमसार, कुन्दकुन्दाचार्य, लखनऊ, 1931।
10. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, समन्तभद्राचार्य समीचीन धर्म शास्त्र के नाम से प्रकाशित, सम्पादक जुगल किशोर मुख्तार, दिल्ली, 1955।
11. वसुनन्दि श्रावकाचार, वसुनन्दि, सम्पादक हीरालाल जैन, काशी, 1952।
12. सागार धर्मामृत, आशाधर, सूरत, वीरनिर्वाण सम्वत् 2466। भाष्य, आशाधर, बम्बई, वि०सं० 1972।
13. समयसार, कुन्दकुन्दाचार्य।
14. श्री जैन सिद्धान्त बलसंग्रह, सं० भैरोंदान सेठिया, बीकानेर।

15. तत्वार्थसूत्र उमास्वाति सं० साध्वी, सुखलाल, 1945 द्वि०सं० बनारस 1952—व्याकरणाचार्य भट्ट अकलंक, कलकत्ता 1929, गणिसिद्धसेन, सूरत 1930, पूज्यपाद, शोलापुर, 1839: उमास्वाति, सूरत 1930: विद्यानन्दि, 1918।

जैनेतर प्रमुख मूलग्रन्थ

अंगुत्तर निकाय, सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, पाली पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार, 1960।
ऐतरेय ब्राह्मण, सं० हांगमार्टिन, बम्बई, 1863।
चुल्लवग्ग, देवनागरी—पाली सीरीज, नालन्दा, 1956।
दीर्घनिकाय, सं० भागवत एन०के०, बम्बई, 1942, अनु० राहुल सांस्कृत्यायन, बनारस, 1963।
भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि०सं० 2009।
महाभारत, व्यास, पूना, 1933।
महावग्ग, सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, बिहार, 1956।
मज्झिमनिकाय, अनु० राहुल सांस्कृत्यायन, सारनाथ, 1933।
योगसूत्र, पतंजलि, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि०सं० 2013।
मनुस्मृति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
ऋग्वेद, सं० सातवलेकर, एस०डी० अनुथ, 1947।
श्रीमद्भागवद् पुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं० 2010।

सहायक ग्रन्थ

1. अल्टेकर, अनन्त सदाशिव, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1949।
2. अग्रवाल, वी०एस०, इण्डिया एज नोन टू पाणिनि, लखनऊ, 1935।
3. कर्ण, एच०, मैनुअल आफ इण्डियन बुद्धिज्म, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली, 1974।
4. कापड़िया, एच०आर०: ए हिस्ट्री आफ दी कैनोनिकल लिटरेचर आफ दी जैनज, 1941।
5. कणे, पी०वी०, हिस्ट्री आफ दी धर्मशास्त्र, भाग 1, 2, 3, पूना।
6. कौशाम्बी, डी०डी० : दी कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन आफ ऐंशिएन्ट इण्डिया, इन हिस्टारिकल आउटलाइन, दिल्ली, 1975।
7. कालघाटगी, टी०टी०, जैन व्यू आफ लाईफ, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, 1969।
8. कमलकुमार, श्रमण संस्कृति सिद्धान्त और साधना एक तुलनात्मक अध्ययन सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-2, 1931।
9. ग्लासेनैप, एच० : डाक्ट्रिन आफ कर्मन इन जैन फिलासफी, अनु० जी० बेरी गिफर्ड, बम्बई, 1942।
10. वही, जैनिज्म, अहमदाबाद, 1942।
11. गुसेवा, एन०आर०: जैनिज्म (रूसी से अंग्रेजी अनुवाद) अनुवाद वाई०एस० रेडकर,

बम्बई, 1971।
12. गोपालन, एस० : जैन दर्शन की रूपरेखा, नॉइली ईस्टर्न लि०, नई दिल्ली, 1973।
13. घुर्ये, जी०एस० : कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, लन्दन, 1932।
14. वही, कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन, बम्बई, 1961।
15. वही, इण्डियन साधूज, बम्बई, 1953।
16. चक्रवर्ती, हरिपद, ऐसेटिसिज्म इन ऐंशियेन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1973।
17. चक्रवर्ती, ए० : जैनिज्म इटस फिलासफी एण्ड इथिक्स, दी कल्चरल हैरिटेज आफ इण्डिया, जि० 1, भाग-4, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, 1958।
18. चैनसुखदास : जैन दर्शन मार, वीर पुस्तक भण्डार, मनिहारों का रास्ता, जयपुर; 1971।
30. जायसवाल, के०पी० : हिन्दू पॉलिटी, तृतीय संस्करण, बंगलौर, 1955।
31. जैन, मुनि उत्तमकुमार : जैन सैक्ट्स एण्ड स्कूल्स, कन्सैप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली, 1975।
32. झा, पं० रमाकान्त तथा पं० हरिहर : अभिलेखमाला, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-1, 1962।
33. टाटिया, एन० : स्टडीज इन जैन फिलासपी, जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी, बनारस, 1951।
34. दत्त, एन० : अर्ली मोनैस्टिक बुद्धिज्म, कलकत्ता ओरिएन्टल प्रेस, लि० जि० 1, 2 कलकत्ता 1941-45।
35. दत्त, एस०, अर्ली बुद्धिस्ट मोनेकिज्म, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1960।
36. देव, एस०वी० : हिस्ट्री आफ जैन मोनेकिज्म, पूना, 1956।
37. वही, जैन मोनेस्टिक जूरिस्प्रूडेंस, बनारस, 1960।
38. दासगुप्त, एस०एन० : हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, जि० 1, लन्दन, 1932।
39. दोषी, बेचरदास : आगम साहित्य का वृहद्इतिहास, भाग-1,2 पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1966।
40. पाण्डे, गोविन्द चन्द्र : बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1957।
41. वही, स्टडीज इन दी ओरिजिन आफ बुद्धिज्म, इलाहाबाद, 1957।
42. वही, श्रमण ट्रेडीशन इट्स हिस्ट्री एण्ड कन्ट्रीब्यूशन टू इण्डियन कल्चर, एल०डी० इन्स्टीट्यूट आफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद, 1978।
43. वही, मूल्यमीमांसा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973।
44. वही, लैक्चर्स आन जैनिज्म, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1977।
45. प्रेमी, नाथूराम : जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण, बम्बई, 1956।
46. प्राणनाथ : ए स्टडी इन दी इकनॉमिक कन्डीशन आफ इण्डिया, लन्दन, 1929।
47. पाठक, डा० दिवाकर : भारतीय नीतिशास्त्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1974।
48. पारजीटर : एन्शियेन्ट हिस्टोरिकल ट्रेडीशन, लन्दन, 1922।
49. प्रसाद, नन्दकिशोर : स्टडीज इन बुद्धिस्ट एण्ड जैन मोनेकिज्म रिसर्च इन्स्टीट्यूट आफ प्राकृत, जैनोलाजी एण्ड अहिंसा, वैशाली, 1972।
50. फिक, रिचर्ड : दी सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, अनुवाद एस०बी०मैत्रा, कलकत्ता, 1920

51. वरुआ, बी०एम० : प्री बुद्धिस्ट इण्डियन फिलासफी, कलकत्ता, 1921।
52. बाशम, ए०एल० : हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ दी आजीवकाज, लन्दन, 1951।
53. बड़ौदिया, यू०डी० : हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर आफ जैनिज्म, बम्बई, 1909।
54. बुहलर, जे०जी० : दी इण्डियन सैक्ट आफ दी जैनज, कलकत्ता, 1963।
55. बापट, पी०वी० : बौद्धधर्म के पच्चीस सौ वर्ष, आजकल का वार्षिक अंक।
56. भास्कर, भागचन्द्र जैन : हिस्ट्री आफ बुद्धिस्ट कल्चर, नागपुर, 1972।
57. भगत, एम०जी० : एन्शियन्ट इण्डियन ऐसोटिसिज्म, दिल्ली, 1976।
58. भट्टाचार्य, एच०एस० : रीयल्स इन दी जैन मैटाफीजिक्स, बम्बई, 1962।
59. भार्गव, दयानन्द : जैन इथिक्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1968।
60. मेहता, ए०एल० : जैन साइकलाजी, जैन धर्म प्रचारक समिति, 1955।
61. मुकर्जी, आर०के० : लोकल गवर्मेन्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1951।
62. मालवाणिया, दलसुख : आगम युग का जैन दर्शन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1966।
63. मेहता, एम०एल० : आउटलाइन्स आफ जैन फिलासफी, जैन मिशन सोसायटी, बंगलौर, 1954।
64. मिश्र, जी०एस०पी० : दी एज आफ विनय, मुन्शीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, 1972।
65. मजूमदार, आर०सी० : कारपोरेट लाइफ इन एन्शियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1922।
66. वही, सं० दी एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, जि०-11, द्वितीय संस्करण, बम्बई, 1953।
67. वही, दी क्लासिकल अकाउन्ट आफ इण्डिया, कलकत्ता, 1960।
68. मुनि नगराज : आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन, कलकत्ता, 1969।
69. मुनि, कल्याण विजय : वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल गणना, जालौर, विक्रम संवत् 1937।
70. मुनि, नथमल : अहिंसा तत्वदर्शन, चुरु, 1960।
71. वही, जैन दर्शन के मौलिक तत्व, जि०-11, कलकत्ता, 1960।
72. वही, जैन दर्शन, मनन और मीमांसा, चुरु, राजस्थान, 1973।
73. वही, श्रमण महावीर, जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं, राज० 1974।
74. मुख्तार, जुगलकिशोर : जैन साहित्य के इतिहास पर वृहद् प्रकाश, कलकत्ता, 1956।
75. मुनि, जिनविजय : स्टडीज इन जैनिज्म, जैन साहित्य संशोधक समिति, अहमदाबाद, 1946।
76. मुकर्जी, राधाकुमुद : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, दिल्ली, 1962।
77. मुनि देवेन्द्र : ऋषभदेव एक परिशीलन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1967।
78. राइसडेविड्स, टी०डब्ल्यू : बुद्धिस्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1962।
79. वही, इण्डियन बुद्धिज्म, इलाहाबाद, 1972।
80. ला, विला चरण : सम कैनोनिकल सूत्रज, रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई, 1949।
81. लाहा, बी०सी० : इण्डिया एज डिपिक्टेडछ इन अर्ली टैक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, लन्दन, 1941।
82. वियोगी, पं० मोहनलाल महता : जातक कालीन भारतीय संस्कृति, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, 1958।
83. वाग्ले, नरेन्द्र : सोसायटी एट दी टाइम आफ बुद्धा, पापुलर प्रकाशन, बम्बई, 1966।
84. विन्टरनित्स, एम० : हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, जि०-2, कलकत्ता, 1927।

85. शाह, सी०जे० : जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया, लन्दन, 1932।
86. श्रुबिंग : डाक्ट्रिन्स आफ दी जैनज, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1962।
87. शास्त्री, विजयमुनि तथा मुनि समदर्शी प्रभाकर : आगम और व्याख्या साहित्य, एक अनुशीलन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1964।
88. शर्मा, रामशरण : शूद्रों का प्राचीन इतिहास, अनु० विजयदान ठाकुर, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, दिल्ली, 1979।
89. शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र : जैन साहित्य का इतिहास, भाग-1, वाराणसी।
90. वही, आगम साहित्य एक अनुशीलन, पूर्व पीठिका, वाराणसी।
91. सोगानी, के०सी० : इथिकल डाक्ट्रिन्स इन जैनिज्म, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, 1967।
92. सिंह, जय प्रकाश : आस्पैक्ट्स आफ अर्ली जैनिज्म, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, 1972।
93. स्टेन, आटो, सं० जिनविजय मुनि : दी जैनिस्ट स्टडीज, जैन साहित्य संशोधक प्रतिष्ठान, अहमदाबाद।
94. स्टीवेन्शन सिन्क्लेयर : दी हार्ट आफ जैनिज्म, मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली, 1970।
95. सेन, अमूल्यचन्द्र : स्कूल्स एण्ड सैक्टस इन जैन लिटरेचर, विश्व भारती स्टडीज, कलकत्ता, 1931।
96. स्लेटर, गिलबर्ट : द्रविडियन ऐलीमेन्ट्स इन इण्डियन कल्चर, एस०एस० पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1976।
97. हार्नेल, आजीवकाज : एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स, सं० हेस्टिंग्स, जि०-1।

अनुक्रमणिका

अंग, 138, 259
अंगग्रंथ, 20
अंगपण्णत्ति, 24
अंगप्रविष्ट, 18
अंगुत्तर निकाय, 21, 94, 161, 256, 259, 260, 277
अंब, 88
अंबर्षि, 88
अंशकु, 307
अकम्पिय, 251
अकर्माश, 63
अकलंक, 145, 214, 227
अक्रियावाद, 64, 65, 68
अग्निभूति, 251
अग्निशिखर, 270
अग्नीध्र, 53, 154
अच्छ, 259
अच्छवी, 63
अजातशत्रु (काशीराज), 70, 161, 238, 260, 277
अजितकेश कम्बलि, 61, 66, 72
अजितनाथ, 269
अज्ञानवाद, 64, 65, 68
अणुतरोववाइयदसाओ, 20
अथर्ववेद, 58, 93, 241, 252
अदत्त, 49
अनंगप्रविष्ट, 18
अनागार धर्मामृत, 165, 194, 226, 228
अनाभोग बकुश, 62
अनुत्तरोपपातिक, 22
अनुयोग कृदाचार्य, 158
अनुयोगद्वार सूत्र, 6, 9, 18, 19, 22, 36, 38, 93, 307
अन्तकृद्दशांग, 22, 98, 255
अन्तगडदसाओ, 20
अन्तरंजिका (पुरमंतरंजिक), 146, 148
अन्तरागम, 18
अन्धक वृष्णि, 154
अपरिस्रावी, 63
अबाद्धिक, 146, 148
अभयदेवसूरि, 17, 71, 232, 277, 281
अभिधान चिंतामणि नाममाला, 157, 158
अमितगति, 212, 230, 231, 232, 234
अमृतचन्द्र, 212, 233, 234
अयलमय, 251
अयोध्या, 270
अरिष्टनेमि, 44, 154, 269, 280, 299
अरिहन्त, 268
अर्थ, 285

अर्थशास्त्र, 250, 256, 266, 274, 276, 278, 279, 307
अर्थागम (अत्थागमे), 18
अर्हन, 54, 59, 100
अवग्रहानुग्रहणता, 179
अवग्रहानुज्ञापना, 178
अवग्रह सीमापरिज्ञापना, 179
अवचूर्णि, 159
अवदानशतक, 278
अवन्ति, 259, 260
अवाह, 259
अव्यक्तिक, 146, 147
अशवल, 63
अशोक, 8, 71, 91
अशोकाराम, 8
अश्वत्थ, 52
अश्वपति (कैकेयराज) 238
अश्वमित्र, 146, 147
अश्वसेन, 154, 269
अष्टाध्यायी, 91, 92
असंवृत बकुश, 62
असिपत्र, 88
असियन्त्र महावन, 88
असोगवन चन्द्र, 277
अस्सक (अश्मक), 259

आगम व्याख्या और साहित्य, 39
आगम साहित्य की रूपरेखा, 39
आगम सिद्धान्त, 1, 2, 4, आगम का पुस्तकाकार 6, आगमलेखन परम्परा 9, 12, 13, 14, आगम संरक्षण में बाधा 15, आगम भाषा 16, आगम विभाग 17, आगमेतर साहित्य 18, आगमतिथि चर्चा 19, आगम काल के दार्शनिक विचार 44, आगमकालीन चिन्तनधाराएं 64, आगम काल में यक्ष आराधना 86, आगमकाल में शूद्रों की दशा 243, आगमकाल की राजनीतिक दशा 270, आगमकाल की आर्थिक दशा 285, आगमकाल में कृषि 286, आगमकालीन जन-जीवन 291
आचारशास्त्र, 198, 222, 224, 225, 248
आचार सार, 165
आचारांगचूर्णि, 27, 252, 277
आचारांग निर्युक्ति, 41, 189, 250
आचारांगसूत्र, 1, 19, 20, 22-24, 26, 32, 33, 35, 41, 42, 78, 83, 89- 91, 93 95, 97, 102, 119, 131, 133, 152, 155, 157, 158, 163, 165-167, 186, 203, 226, 229, 230, 250, 252, 254-257, 266, 278, 279, 289, 294-296, 303, 304, 306-312
आजीवक, 61, 66, 70, 71, 95, 96, 262
आत्मषष्टीवाद, 64
आत्मागम, 18
आत्माद्वैतवाद, 64, 83
आदिनाथ, 29, 44, 53, 54, 57, 100
आनन्द, 8, 38, 143, 225, 226
आपस्तम्बधर्मसूत्र, 93, 256, 312
आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, 58
आभोग बकुश, 62
आयारो, 94, 96, 97, 156, 163, 165-167, 171, 302-305, 308-312
आर्जुनायन, 263
आर्द्रक, 72, 76, 77, 85, 95
आर्द्रकुमार, 299
आर्यदेव, 90
आर्यधर्म, 49
आर्य रक्षित, 6, 18, 23

आर्यवज्र, 23
अहित धर्म, 44, 59, 76, 80, 83
आवश्यक गाथा, 36
आवश्यक चूर्णि, 36, 98, 236, 251, 253, 254, 304
आवश्यक निर्युक्ति, 22, 41, 42, 93, 126, 146, 158, 159, 236, 282
आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, 170, 236
आवश्यक व्यवहार, 158
आवश्यक सूत्र, 39, 42
आवश्यक हरिभद्रीयावृत्ति, 38, 93, 236
आशाधर, 181, 234
आश्वलायन गृहसूत्र, 93, 163
आषाढ़सेन, 146, 147, 170

इक्ष्वाकु, 154, 242, 269, 274, 280, 282
इण्डियन एन्टीक्वेरी, 38, 39, 96, 155, 156, 168, 254
इन्द्र, 34, 52, 55, यति विरोधी इन्द्र 59, स्वर्ग का देवता इन्द्र 85, 86, 98, 282
इन्द्रभूतिगौतम, 102, 104, 105, 256
इषुकार, 34, 275, 284

ईश्वरवाद, 64

उग्र, 274
उग्रसेन, 154, 280, 299
उच्चोदय, 273
उज्जैनी, 149
उण्डक ऋषि, 98
उत्तरकुरु, 267
उत्तरज्झणं, 98, 281
उत्तरज्झयवाणि, 155-157, 160, 163, 164, 168, 170, 171, 225, 226, 227, 228, 229, 230, 232, 251, 254, 255, 256
उत्तरमद्र, 267
उत्तराध्ययन चूर्णि, 93
उत्तराध्ययन निर्युक्ति, 36, 42, 43, 227, 229, 230
उत्तराध्ययन सूत्र, 1, 20, 22, 32, 33, 35, 38, 39, 41, 42, 43, 53, 58, 88, 89, 90-94, 97-99, 102, 114, 121, 154, 155, 158-164, 166, 168, 180, 205, 225-230, 232, 241, 242, 244, 245, 250-256, 266, 276-284, 286, 294-296, 299, 302-312
उदक पैढ़ाल, 102
उदायिन, 260
उद्दालक, 238
उद्देश्यशतक, 277
उद्रायण (उदयन), 270
उपदेशपद, 36
उपरुद्र, 88
उपालि, 256
उपाश्रय, 179
उपासक दशांग, 22, 230-232, 252, 309
उमा, 93
उमास्वाति, 232, 234
उल्लुकातीर, 146, 148
उवासगदसाओ, 96
उशनस, 259

ऋग्वेद, 54-59, 91-93, 100, 154, 230, 240, 250, 252, 267

ऋषभदत्त, 253, 254
ऋषभदेव, 29, 53, 54, केशधारी ऋषभदेव 56-60, 100, 154-156, 236, 237, 240, 249, 276, 283
ऋषभपुर, 146, 147
ऋषि मण्डल प्रकरण, 36
ऋष्यशृंग, 55

एकादश अंग, 13
एतश, 55
एथेंस, 264
एपिग्राफिका इण्डिका, 38, 39, 170

ऐतरेय ब्राह्मण, 51, 91, 93, 267, 279

ओघनिर्युक्ति 12, 22, 108, 157
ओघ समाचारी, 164
ओवाइयसूत्र, 95, 277

औपपातिक, 22, 45, 90, 95, 227, 254, 305, 308

कच्छवी, 9
कण्व, 36
कथाकोष,2
कथावली, 37, 46
कनकश्री, 156-160
कपिल, 34, 161
कपिलवस्तु, 119, 247
कमलावती, 275, 284
कम्बोज, 259, 277, 295
करकण्डु, 169, 270
करणानुयोग, 23
करीक्रत, 55
कर्क, 154, 273
कलिंग, 244, 270, 271
कलियद्वीप, 293
कल्पसूत्र, 6, 22, 53, 85, 92, 98, 99, 104, 111, 152, 154-157, 162, 167, 168, 170, 229, 238, 240, 241, 250, 252-254, 260-262, 277-279, 281, 282, 289, 290, 294, 296, 302, 303, 305, 307, 308-311.
कल्पसूत्रवृत्ति, 111
कल्पावतंसिका, 22
कल्पिका, 22
कल्याणविजय, 3, 4, 5, 37
कवष ऐलूष, 52
कषाय कुशील, 62
कसाय पाहुड, 41, 42
काकदेश, 307
काकुस्थ, 280
काठक संहिता, 251
कात्यायन, 58
काम, 285
काम्पिल्य, 270, 284
काम्बल, 150, 151
कार्तिकेय, 214, 234
कार्थेज, 264
काल, 88
कालकाचार्य, 21
कालास्यवैशिक, 102
काली, 103
काशव, 240
काशी, 259-263, 270, 282
किन्नर, 86, 292
कुटक, 100
कुटकांचल पर्वत, 53, 155

कुणाल, 138
कुणिक, 260-262, 277
कुन्थु, 10, 46, 296
कुन्थुनाथ, 269, 280
कुन्दकुन्दाचार्य, 168, 180, 206, 228, 234
कुमारी पर्वत, 11
कुम्भ, 88
कुरु, 259, 267
कुरुक्षेत्र, 98, 275, 284
कुलालय, 84
कुविकर्ण, 242
कुशीनारा, 259
कुशील, 61, 62
कुसग्गपुर, 278
कृष्ण, 54, 154, 155, 238, 253, 269, 280
केशी, 35, 36, 58, 100, 102, 154
केशीकुमार, 58
केशीगौतमी, 35
केशीवृषभ, 57, 58, 154
केशीसूक्त, 91
केसरिया नाथ, 57, 159
कोंक, 100
कोच्छकच्छ (कौत्स), 259
कोलि, 263
कोसल, 17, 251, 259 261-263, 265, 277, 282.
कौटिल्य, 258, 276, 282
कौरव, 274
कौशाम्बी, 138, 161, 240, 270
क्यिता, 251
क्रमदीश्वर, 17
क्रियावाद, 64, 65, 67
क्षुल्लक मुनि, 148
खण्डरक्ख, 147
खरस्वर, 88
खारवेल, 11, 151, 271
गंग, 146, 148,
गच्छाचार, 168
गड्डारिका, 86
गणितानुयोग, 23
गणिपिटक, 18, 83, 183
गण्डी, 9
गन्धर्व, 86
गन्धार, 244, 259, 270, 277
गर्ग, 35
गर्दमालि, 284
गांगेय, 102
गिरनार, 91, 154
गिरनार पर्वत, 154
गीता, 32, 59, 93, 204, 211, 224, 231, 239, 250, 251, 269, 280.
गोमट्टसार, 24, 199, 229, 230
गोशालक, 61, 70-72, 84, 95, 97, 146
गोष्ठमाहिल, 146, 148
गोसंति, 242
गौतम गणधर, 1, 17, 34, 35, 102
गौतम धर्मसूत्र, 91, 256
ग्रहयक, 265
चक्रवर्ती, 98, 268, 276
चतु:शतक, 90
चन्दना, 104, 105, 155, 168, 225-227, 277, 278, 280, 303, 308, 312.
चन्द्रगुप्त प्रथम, 266, 270
चन्द्रगुप्त मौर्य, 2, 10, 59, 151

चन्द्र प्रज्ञप्ति, 21, 22, 23
चन्द्रसूरि, 36
चम्पा, 241, 242, 270
चरणानुयोग, 23
चरित्र कुशील, 62, 63
चरित्र पुलाक, 62
चारन्त चातुरन्त, 88, 276
चार्वाक, 22, 46, चार्वाक का लोकायत मत 72, 73, 96
चुल्लवग्ग, 105, 157, 159, 167, 168, 278
चूलिका सूत्र, 22
चेटक, 260-262, 277
चेतिय (चेदि), 259
चेल्लणा, 262, 277

छान्दोग्य उपनिषद, 205, 206, 230, 251

जनक राजर्षि, 238
जमाली, 146, 147
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, 21, 22, 92
जय, 269
जयघोष, 35
जय धवला, 19, 24, 40
जयानन्दसूरि, 36
जरासंध, 280
जामदग्नय, 239
जितशत्रु, 240
जिनदास महत्तर, 5, 36, 37, 40, 250-252
जिनसेन, 236
जिनानन्द, 169
जीतकल्प, 22
जीव प्रादेशिक, 146, 147
जीवाभिगम, 21, 22
जूति, 55
जूनागढ़, 154
जैतवन, 154
जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, 161, 162, 165, 167, 250, 254, 255, 281
जैनदर्शन की रूपरेखा, 90, 91, 225, 231
जैनदर्शन मनन और मीमांसा, 37, 38, 157, 159, 169, 170, 278, 302
जैन धर्म का उद्‌गम और विकास, 154, 155, 169, 170
जैन साहित्य का इतिहास, 37, 40, 92
जैन साहित्य का वृहद इतिहास, 40, 42, 95, 96
ज्ञातधर्म कथा, 22, 89, 98, 119, 255, 308
ज्ञातृक, 268, 274, 281
ज्ञान कुशील, 62, 63
ज्ञान पुलाक, 61
ज्योतिषकरण टीका, 5, 37

ठाणं, 94, 155, 157-161, 163, 164, 169, 170, 225, 229, 256, 257, 278, 311, 313

डिरेनियस, 309

तज्जीव तच्छरीवाद, 64, 73, 96
तत्ववार्तिक, 41, 42, 169
तत्वार्थ सूत्र, 61, 94, 188, 212, 215, 227, 231, 232
तथागत, 143

तनसुलि, 271
ताण्डय ब्राहमण, 58, 59, 93
ताम्रलिप्ति, 275
तित्थोगाली पाइन्ना, 36
तिष्यगुप्त, 146, 147
तुंगीयग्राम, 103
तुरकावषेय, 52
तुलसी आचार्य, 155
तुलसी प्रज्ञा, 156-161, 166, 226, 233, 254.
तैत्तिरीय आरण्यक, 55, 92
तैत्तिरीय उपनिषद, 230
तैत्तिरीय संहिता, 93
त्रिकाय पिटक, 19
त्रिपिटक, 2, 8, 61, 66
त्रिविक्रम, 16
त्रिशला, 238, 241, 253, 254
त्रिषष्टीशलकपुरुषचरित्र, 93, 236, 250
त्रैराशिक, 146, 148
त्रैराशिक सम्प्रदाय, 82, 97, 170

थुस्स जातक, 277
थेरगाथा, 92,
थेरवाद, 157

दक्ष प्रजापति, 93
दक्ष स्मृति, 182, 225
दर्शन कुशील, 62, 63
दर्शन पुलाक, 61
दर्शनसार, 148, 170
दलसुख मालवणिय, 39, 167, 168, 251
दशपुर, 146, 148
दशरथ, 71
दश वैकालिक, 9, 18, 22, 32, 38, 39, 40, 41, 61, 132, 152, 155, *158, 159, 165, 166, 232, 250,* 283, 311
दशवैकालिक निर्युक्ति, 94, 163
दशार्ण, 270, 277
दशार्णभद्र, 270
दशाश्रतुस्कन्ध, 18, 22, 90, 160
दानव, 86
दीर्घनिकाय, 91, 93, 94, 99, 155, 161, 225, 256, 257, 278
दु:खवाद, 64
दुवालसंगेगणिपिडगे, 19
दृढ़नेमि, 280
दृष्टिवाद, 22
देव, 86, 161
देवदत्त, 76
देवर्द्धिगणि, 2, आगम के संकलन कर्ता 3, वालभी वाचना के प्रमुख 4, 5, सिद्धान्तों के संकलन कर्ता, 6, 7, 9, 12, 14, 18, 22
देवनन्दा, 238, 240, 241, 253, 254
देवसेन, 148, 170
देवेन्द्र, 283
दोगुन्दगदेवता, 85
द्रविड़, 244
द्रव्यानुयोग, 23, 28
द्रुम पुष्पिका, 35
द्वादशांग, 1, 9, 10, 13, 17, 18, 22, 83, 111, 183
द्वारिका, 154, 270, 280
द्विमुख, 270
द्वैक्रिय, 146, 148

धनु, 88
धन्वन्तरी, 169
धर्म, 285

धर्मकथानुयोग, 23
धर्मघोष, 36
धर्मशास्त्र का इतिहास, 90, 91, 93
धर्म संग्रह, 117, 161
धर्मसूत्र, 245
धवला, 19, 24, 40, 41
धूत, 25

नग्गति, 270
नथमल, 37, 38, 92, 95, 155, 157-159, 163, 164, 166, 170, 230, 246, 302
नन्द, 243, 246, 271
नन्दन, 270
नन्दिवर्धन, 253, 254
नन्दीचूर्णि, 5, 36, 37
नन्दीटीका, 5
नन्दीसूत्र, 12, 18, 20-23, 40, 42
नन्दीस्थविरावली, 6, 37
नमि, 34, 242, 270, 275, 283, 284
नरेन्द्रदेव, 38
नाग, 85, 98
नागपुत्र वरुण, 261
नागार्जुन, 4, वालभी वाचना के प्रमुख 5, 12
नागार्जुनीयवाचना, 4, 5
नाथ, 59
नाभि, 53, 54, 100, 154
नारद परिव्राजकोपनिषद, 161
नालन्दा, 91, 94, 102, 157, 159, 162, 163, 252
नायाधम्मकहाओ, 20, 103
निआर्कस, 9
निघण्टु, 241
निन्हव, 146, 147, 148, 170
नियतिवाद, 64, 69
निरीश्वरवाद, 64
निर्ग्रन्थ, 61, 63, 166, 283
निर्ग्रन्थ धर्म, 44, 103
निर्ग्रन्थनाथ, 61
निर्यावलिसूत्र, 26, 277, 282
निर्यूढ़, 18
निवृत्तिवाद, 64
निशीथ चूर्णि, 9, 17, 22, 26, 40, 61, 85, 240, 250 255, 283, 307
निशीथ भाष्य, 38, 160, 169, 252
निशीथसूत्र, 93, 98, 167, 168, 251, 287, 303, 307-310
नीति वाक्यामृत, 259
नेमिचन्द्र, 36, 282
नेमिनाथ, 34

पंचकल्प, 22
पंचतन्त्र, 20
पकुधकच्छायन, 61, 66
पतंजलि, 49, 52, 60, 206
पद्मपुराण, 92
पद्ममुन्दिर, 36
पन्नवणा, 21
परम्परागम, 18
परिमुज्जमाणा, 307
पहापरिज्ञा, 26
पांचाल, 259, 267, 273, 281
पाचितिय, 242
पाटलिपुत्र, 2, 8, 10-14, 39, 241
पाटलिपुत्र वाचना, 36 38
पाणिनि, 98, 265, 278, 282
पादपाण्ड्य, 259
पायासिपएसि, 72
पारांचित, 143
पाराशर, 242

पार्श्व, 58, 154-156
पार्श्वनाथ, 1, 34, 35, 44, 49, 100
पार्श्वनाथ का चातुर्याम, 102, 103, 173, 205
पालिविनय, 119, 134, 162
पावा, 259
पिटक, 7, 19
पिण्डनिर्युक्ति, 12, 22, 41
पिहुण्डनगर, 270
पुण्ड्रक, 307
पुण्यविजय, 37
पुरन्दर, 267, 282
पुराणचरित, 23
पुरुषसूक्त, 250
पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, 231, 232
पुलाक, 61
पुष्करिणी, 243
पुष्पचूलिका, 22, 103
पुष्पिका, 22
पुष्यमित्र, 2, 280
पूतना, 86
पूरणकास्सप, 61, 66, 68
प्रजापति, 240
प्रतिवेषण कुशील, 62
प्रतिवेषा पुलाक, 61
प्रथमानुयोग, 23
प्रभावक चरित्र, 37
प्रमाश, 251
प्रवचन-सारोद्धार, 93, 118, 161, 226
प्रवाहण जैबालि (पांचालराज), 238, 269
प्रश्न व्याकरण, 22
प्रश्नोपनिषद, 92
प्रसेनजित, 277
प्राकृत व्याकरण, 40
प्राकृत साहित्य का इतिहास, 157
प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, 278, 279
प्रियव्रत, 53, 154

बकुश, 61, 62
बनारस, 244, 252, 270
बल, 270
बलदेव, 270
बलभद्र, 268, 270
बलराम, 280
बलश्री, 270
बहुरत, 146, 147
बालुका, 88
बिन्दुसार, 71
बुद्ध, 7, 8, 35, 38, 50, 55, 61, 64, 66, 100, 101, 111, 118, 119, 121, 133, 151, 154, 157, 160, 161, 189, 224, 225, 237-240, 242, 243, 245, 246, 250, 255, 266, 267, 297, 309
बुद्धघोष, 277
बुद्धचर्या, 38
बृहत्कथाकोष, 150, 168, 307
बृहत्कल्प भाष्य, 36, 38, 40, 98, 127, 133, 135, 158, 160, 164-168
बृहत्कल्प सूत्र, 18, 138
बृहद्रथ, 280
बृहदारण्यक उपनिषद, 251
बेहल्ल, 262
बैंक, 100
बोटिक, 148
बौधायन गृहसूत्र, 93
बौधायनधर्मसूत्र, 49, 91, 133, 166, 167, 205, 230, 256, 257, 312
बौद्ध धम्मपद, 42, 43, 92, 252, 253
बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, 38, 90, 91, 94, 95, 162, 166-169, 251, 252, 254, 255

बौद्धविनय, 113
ब्रह्मजालसूत्त, 66
ब्रह्मदत्त, 273, 281
ब्रह्मराज, 270
ब्रह्मा, 273

भगवती चूर्णि, 158
भगवती सूत्र, 22, 39, 40, 70, 89, 95, 96, 98, 102, 103, 114, 140, 155, 156, 160, 199, 202, 229, 230, 250, 259, 260, 261, 264, 277, 278
भद्रबाहु, 1, 2, 9-12, 18, 20, 22, 24, 28, 33, 64, 96, 149-151, 160
भद्रबाहुचरित, 151
भद्रा, 269, 277
भद्रेश्वर, 4, 6
भरत, 29, 53, 98, 149, 237, 241, 242, 276
भागवतपुराण, 54-57, 92, 100, 154, 155
भारतीय दर्शन की रूपरेखा, 89
भारतीय नीतशास्त्र, 230, 231, 252
भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योग-दान, 92
भीष्म, 209
भूत, 85, 98
भूतवाद, 64
भृगुकच्छ, 275
भृगुराज पुरोहित, 284
भोग, 274
भोज, 5

मक्खलीगोशाल, 61, 66, 70, 170, 262,
मगध, 2, 3, 10, 11, 17, 133, 138, 259, 263, 267, 278, 307
मच्छ (मत्स्य-जयपुर), 259
मज्झिम निकाय, 92, 94, 167, 256
मणिनाथ, 148
मण्डिकुक्षि, 275
मत्स्यपुराण, 281
मथुरा, 2, 4, 6, 11, 86, 171, 259
मद्र, 267
मधवन, 269
मधु, 273
मध्य, 273
मनक, 18
मनु, 154, 207-209, 250, 254, 259
मनुस्मृति, 93, 203, 207, 227, 230, 239, 254, 255, 276
मन्दिय, 251
मरुदेवी, 53, 54, 92, 100, 149, 154,
मलय, 254, 307
मलयागिरि, 3, 5, 6
मल्ल, 59, 259-263, 265, 266
मल्लिनाथ, 149, 282
महाकाल, 88
महाकाश्यप, 8
महाकोशल, 260, 277
महागिरि, 240
महागोप, 240
महाघोष, 88
महानिर्ग्रन्थीय, 34, 284
महानिशीथ, 22
महापद्म, 269
महापरिण्णा, 24
महापुराण, 249, 250
महाबल, 270
महाभारत, 59, 81, 98, 154, 206, 207, 209, 238, 239, 250, 253,

267, 276, 278, 279, 307
महाभाष्य, 91
महामाण, 240
महायान, 172
महाराष्ट्र, 17
महावंश, 71
महावग्ग, 68, 94, 97, 157, 162, 163, 167, 252, 254, 278
महावस्तु, 277
महावीर, 1, 2, 8-13, 17-19, 22, 24-28, 30, 32-36, 44, 49, 50, 52, 53, 58, 60, 61, 64, 66-70, 72, 78, 79, 86, 95, 99, 100, महावीर के पंच महाव्रत 101-105, 111, 114, 115, 118, 119, 133, 146-149, 154-157, 160, 162, 173, 183, 189, 205, 206, 237-243, 245, 253-255, 259-262, 264, 267, 268, 270, 279, 281, 282, 297, 307
महाशिलाकण्टक संग्राम, 260, 261
महासार्थ माहषेण मइमया, 240
महाहरी (काम्पिल्यराज), 269
महेन्द्र, 8
महोरग, 297
माइनर उपनिषद, 161
माणिक चन्द्र, 40
मातृशक्ति, 52
माथुरी वाचना, 5, 6, 38
मार्कण्डेयपुराण, 17, 277
मालव, 262, 263
मालवक, 259, 260
मालवा, 17
मालविकाग्निमित्र, 279
माहण, 238, 240, 250
मिथिला, 17, 34, 146, 147, 242, 251, 275, 283
मिलिन्दप्रश्न, 252
मुकुन्द, 85, 98
मुण्डकोपनिषद, 85, 93
मुद्गल, 57, 58
मुनिचन्द्र, 270
मूलाचार, 156, 168, 169, 171, 203, 226, 228, 230
मूलाराधना, 171, 200, 226, 229
मृगापुत्र, 34, 298, 299
मृगावती, 270
मेघकुमार, 119
मेज्जा, 251
मैगस्थनीज, 51, 91, 267
मोक्ष, 285
मोरियपुत्र, 251
मोली, 259, 260
मोहनजोदड़ो, 60

यक्ष, 85, 86, 98, 292
यजुर्वेद, 240, 252
यज्ञदत्त, 76
यति, 59
यथासूक्ष्म कुशील, 62, 63
यथासूक्ष्म पुलाक, 62
यथासूक्ष्म बकुश, 62
यश, 8, 169
यशा, 284
यशोविजय, 224
याज्ञवल्क्य स्मृति, 93
युधिष्ठिर, 209
योगदर्शन, 169
योगशास्त्रवृत्ति, 5, 231, 232
योगसूत्र, 49, 206, 230
यौधेय, 262, 263

रत्नकरण्ड, 204, 230-232
रथनेमि, 34, 35, 280
रथमूसल संग्राम, 260, 261
राजगृह, 1, 102, 162, 243, 251, 275, 309
राजप्रश्नीय, 21, 22, 307, 308
राजवार्तिक, 24
राजवर्तिक विभाषा, 188
राजीमति, 162, 168, 280, 299
राजुल, 35, 155
राम, 54, 155
रमिल्ल, 150
राहुलकुमार, 119
राहुल सांकृत्यायन, 38, 167
रुद्र, 85, 88, 98
रोम, 264
रोहगुप्त, 94, 170

लंका, 8
लघु जातक, 96,
लघ्वर्हन्नीति, 259
लटिकोपनसुत्त, 167
लब्धिपुलाक, 61
ललित विस्तार, 250, 282
लाट, 17, 98
लाट्यायन, 58
लाढ (राढ़-प.बंगाल), 259
लिंग कुशील, 62, 63
लिंग पुलाक, 62
लिच्छवी, 59, 260-266, 274, 282
लोक प्रकाश, 4
लोक विजय, 25, 47
लोकसार, 25

वंश (वत्स), 259
वच्छ (वत्स), 259
वज्जि, 153, 157, 169, 259, 260, 262
वज्जिपुत्तक, 8
वज्रपाणि, 267, 276, 282
वनपर्व, 98
वप्रवाद, 150
वराहमिहिर, 71
वराहमिहिर संहिता, 281
वर्द्धमाणगिहाणी चूर्णि, 281
वलभी, 2, वलभी तीसरी वाचना, 3-7, 11, 12, 14, 20, 38, 148, 149, 150, 170
वसिष्ठ, 93, 239, 245, 247, 251
वसिष्ठधर्मसूत्र, 256, 257
वसुनन्दि आचार्य, 147, 212, 231, 232, 234
वाग्दत्ता, 280
वाजसनेय संहिता, 251
वातजूति, 55
वातरशना, 53-57, 92, 154
वायुभूति, 251
वाराणसी, 154
वालभी वाचना, 5, 6, 21, 38
वालभ्य संघ, 5
वाल्मीकि रामायण, 53, 98, 269, 280-282
वासवी, 277
वासुदेव, 154, 268, 270, 275, 280
विक्रमराज, 148
विजयघोष, 35
विजयमुनि, 96
विजय राजा, 270
विजयोदयावृत्ति, 200-202, 229, 230
विदर्भ, 17, 266
विदेह, 260, 265-267, 270, 277
विनयधर, 8

विनयपिटक, 38, 247, 250, 256, 257
विनयवाद, 64, 65, 82
विनयविजय, 3
विपाक, 22, 256
विपुलांचल पर्वत, 1
विप्रजूति, 55
विमल, 270
विमोक्ष, 26
विराट, 267, 279
विवतक, 265
विवागसुयग, 20, 250
विशाखाचार्य, 150, 157
विशाला, 33
विशेषाश्वयक भाष्य, 40, 164
विश्वामित्र, 239, 251
विषाणक, 55
विष्णु, 54, 100, 155
विष्णुकुमार, 269
विष्णुदत्त परीक्षित, 54
वीर निर्वाण, 2, 3, 6, 9, 11, 12, 14, 20, 21, 36, 37, 41, 148
वीरसेन स्वामी, 19
वृत्ति, 36, 108
वृषभ, 52
वृष्णिदशा, 22
वृहत्संहित, 254
वृहदगौतम स्मृति, 158
वृहद जातक, 96
वृहदवृत्ति, 94, 98, 99, 226, 262, 281-284
वृहदारण्यक सूत्र, 91
वेदवाद, 64
वेदान्ती, 82
वेलुवन, 153
वैतरणी, 46, 87, 88
वैतालिक पर्वत, 87
वैशाली, 8, 260, 261, 277
वैश्रमण, 85
वैष्णव वेदान्त, 82
वोर्टे महावीरज, 21
व्यवहार भाष्य, 106, 114, 158, 160, 161, 165, 167, 168, 256
व्याख्या प्रज्ञप्ति, 95, 281
व्यास, 81, 207

शंकराचार्य, 91
शकेन्द्र, 56
शक्र, 241, 242
शतपथ ब्राह्मण, 91
शबर, 244
शबल, 88
शय्यम्भव, 18
शलाकागाहयक, 265
शस्त्रपरिज्ञासूत्र, 95, 97
शाकिनी, 86
शाक्य, 79, 247, 248, 263, 265, 266
शान्तिनाथ, 269
शान्तिपर्व, 154, 209, 250, 253, 264, 279
शान्तिसूरि (शान्त्याचार्य), 5, 35, 36, 149, 150, 252, 262, 277, 282
शारीपुत्र, 119
शास्ता, 119
शाहबाजगढ़ी, 91
शिव, 52, 85, 93
शिवि, 267, 277
शिश्नदेव, 58
शीतोष्णीय, 25
शीलांक, 24, 26-29, 32, 42, 64, 67, 71, 81, 94, 96, 97, 99, 307

शीलाचार्य, 24
शुंग, 36
शूरसेन (मथुरा), 259
शैव मत, 81
शौरसेनी, 17
शौरीपुर, 154
श्याम, 88
श्यामार्य, 12, 18, 21
श्रमणधर्म, 44
श्रावक प्रज्ञप्ति, 234
श्रावस्ती, 102, 146, 147, 270
श्रीमद्भागवतपुराण, 55, 92, 210, 230
श्वेतकेतु, 238
श्वेतपट, 148
श्वेतिका, 146

षटखण्डागम, 36, 41, 42
षड्लक (रोहगुप्त) 146, 148, 170

संक्षिप्तसार, 17
संखासूत्र, 299
संजय, 34, 270, 275, 284
संजयबेलट्ठिपुत्त, 61, 66, 69, 162
संयुक्तनिकाय, 252, 256, 277
संवृत बकुश, 62
संशुद्धज्ञानदर्शनधारी, 63
सकर्णजयक, 265
सगर (अयोध्याराज) 269
सत्यनेमि, 280
सनत्कुमार, 269
समण ब्राह्मणसुत्त, 252
समदर्शी प्रभाकर, 13, 39
समन्त भद्र, 212, 214-217, 234
समवायांगसूत्र, 22, 36, 40, 42, 95, 99, 110, 111, 170, 181, 200, 225-227, 229 230, 232
समाचारीशतक, 3
समुद्रगुप्त, 266, 270
समुद्रपाल, 34
समुद्र विजय (श्रावस्तीराज), 269, 280
समुन्तर सुमहोत्तर, 259, 277
सम्भूत, 244
सम्भूति, 34
सम्यकत्व, 25
सर्पाटिका, 9
सर्व अदतादान विरमण, 173, 177, 183
सर्व परिग्रह विरमण, 173, 179, 183
सर्व प्राणातिपात विरमण, 173, 183
सर्व मृषावाद विरमण, 173, 176, 183
सर्व मैथुन विरमण, 173, 180, 183
सहदेवी, 269
सांख्यवाद, 64, 74, 76
सांख्यायन गृहसूत्र, 163
साकेत, 270
सागरचन्द्र, 270
सागार धर्मामृत, 40, 231, 232
सातवाहन, 36
सामंज्जफलसुत्त, 70, 72, 91, 93, 94, 155
सामन्त पासादिका, 309
सामवेद, 58, 240, 252
सामायिक, 28
सामुच्छेदक, 146, 147
सायण, 51, 54, 56, 58, 93, 154, 279
सावलिपत्तन, 151
सिकन्दर, 9, 266
सिद्धसेनगणि, 215, 232
सिद्धार्थ, 253, 254
सिन्ध, 266, 292, 309
सिन्धुघाटी, 60
सिन्धु सौवीर, 270

सुग्रीव नगर, 270
सुत्तनिपात, 33, 66, 94, 227, 252, 253
सुधर्मा, 12, 18, 24, 30, 105, 159
सुन्दरगणि, 3, 250
सुपापूर्व, 60
सुभद्र, 7, 8
सुव्रत, 269
सुश्रुत संहिता, 164
सुहम्मा, 151
सूत्रकृतांगसूत्र, 1, 22, 28, 32, 33, 36, 64, 68-73, 76, 77, 79, 81, 84, 86, 90, 94-99, 156, 162, 244, 246, 252, 254-256, 258, 260, 261, 267, 274, 276, 279, 281, 287, 291, 299, 301-306, 308-313
सूत्रागम (सुत्तागमे), 18
सूयगडम, 313
सूर्यप्रज्ञप्ति, 21-23
सृष्टि, 9
सेणिय बिम्बिसार (मगधेश्वर), 246, 259, 262, 275, 277, 278, 309
सेरियपुर, 270, 280
सेयांग सेचनक, 262
सोमदेव, 234, 259
सौराष्ट्र, 148-150, 280
स्कन्द, 85, 98
स्कन्दिलाचार्य, मथुरा सम्मेलन के प्रमुख 4-6
स्टडीज इन दी ओरिजिंस आफ बुद्धिज्म, 40, 41, 42, 91
स्थानांगवृत्ति 111, 158-160, 169, 225, 278, 283
स्थानांगसूत्र, 21, 22, 42, 52, 61, 63, 95, 100, 106, 108, 109, 110, 114, 116, 117, 140, 142, 146, 159, 160, 162, 164, 181, 200, 225, 227, 230, 276
स्थूण, 138
स्थूलभद्र, 11, 147, 150
स्थूलभद्रकथा, 36
स्थूलभद्रचरित्र, 36
स्नातक, 61, 62
स्पार्टा, 264
स्वायंभूमनु, 53, 154

हरिकेश, 34, 161, 244, 250, 255
हरिणेगमेषी, 86, 98
हरिभद्र, 5, 9, 36, 41, 165, 234, 283
हरिवंशपुराण, 92
हरिषेण, 2, 150, 170, 245, 269
हल्ल, 262
हस्तितापसवाद, 64, 77
हस्तिनापुर, 269, 270
हाथीगुम्फा अभिलेख, 11, 151, 270
हिंसावाद, 64
हिरण्यकेशीगृहसूत्र, 42, 163
हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, 38, 39, 41, 42, 92
हीनयान, 172
हेमचन्द्राचार्य, 5, 17, 36, 37, 40, 60, 93-98, 106, 108, 234, 259

डा. रेखा चतुर्वेदी

जन्म : 1952 जयपुर (राजस्थान)
शिक्षा-दीक्षा : राजस्थान
पाठन : राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
परामर्शदात्री-इंदिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय
राजकीय (स्नातकोत्तर) महाविद्यालय, हल्द्वानी
प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति विभाग, रुहेलखंड विश्वविद्यालय, बरेली
सम्प्रति : प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
शिक्षणेतर : आकाशवाणी एवं दूरदर्शन से सम्बद्ध
'मातृशक्ति' : संस्थापक सदस्य
'त्रिवटी नाथ शोध संस्थान' संस्थापक सदस्य
'इंडियन सुसाइटी फार ग्रीक एण्ड रोमन स्टडीज' सदस्य
'सकल दिगम्बर जैन धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान' से 1997 में 'ब्राह्मी' और 1998 में 'गार्गी' उपाधि से विभूषित

सम्मतियां

जैन आगम साहित्य भारतीय संस्कृति के आधार ग्रन्थ हैं। इनमें जैन धर्म के विषय में बहुमूल्य सामग्री के साथ समकालीन समाज के विभिन्न पक्षों पर महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्य है। हिन्दी में इस प्रकार के प्रबन्ध के अभाव की इस ग्रन्थ से यथेष्ट पूर्ति होती है। भारतीय इतिहास और संस्कृति पर नया प्रकाश डालने के लिए लेखिका का प्रयास सराहनीय है।

लल्लनजी गोपाल

जैन साहित्य प्राचीन भारतीय राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। अनेक विद्वानों ने इस पर शोध किया है, परन्तु इस दिशा में बहुत कुछ कार्य शेष रह गया है। इस दृष्टि से डा. (श्रीमती) रेखा चतुर्वेदी का *जैन आगम : इतिहास एवं संस्कृति* नामक शोधग्रन्थ प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक इतिहास के क्षेत्र एक विशिष्ट योगदान है।

डॉ. बी.एन.एस. यादव

लेखिका ने श्रमपूर्वक और ऐतिहासिक मर्यादा के अनुरूप जैन साहित्य, विशेषतः आगम साहित्य का ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से विवेचना प्रस्तुत की है। प्रस्तुत ग्रन्थ जैन विद्या के अतिरिक्त भारतीय विद्या के अध्ययन में रुचि रखने वाले लोगों के लिए भी समान रूप से उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

डा. मारुति नन्दन तिवारी

अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड